एम.ए. पूर्वार्द्ध

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व

तृतीय प्रश्नपत्र

प्राचीन भारत में विचारों और संस्थानों का इतिहास

(HISTORY OF IDEAS & INSTITUTIONS IN ANCIENT INDIA)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Manisha Sharma
   Associate Professor
   Govt. P.G. College, Beena (M.P.)
2. Dr. Rajeshwari Dubey
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Neerja Bharadwaj
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)
2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Anjali Singh
   Director Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)
4. Dr. Mukesh Dixit
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)
5. Dr. Rajeshwari Dubey
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)
6. Dr. Neerja Bharadwaj
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITER

Dr. Naveen Vashishta, Assistant Professor, Department of History, Government College for Women, Sonipat
Units (1-5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

प्राचीन भारत में विचारों और संस्थानों का इतिहास

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 कृषि अर्थव्यवस्था और सामंतवाद पर परिचर्चा; मुद्रा, साख एवं बैंकिंग– मुद्रा, साख एवं बैंकिंग; उद्योग–धंधे, व्यापार एवं श्रेणियां– उद्योग–धंधे, व्यापार, श्रेणियां	**इकाई 1** : ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था **(पृष्ठ 3–36)**
इकाई–2 वर्ण और जातियों का विकास; सामाजिक स्तरीकरण का भौतिक आधार; आश्रम, पुरुषार्थ और संस्कार; प्राचीन भारत में स्त्रियों का स्थान और उनकी स्थिति; शैक्षणिक विचार और संस्थान	**इकाई 2** : सामाजिक विचार और संस्थान **(पृष्ठ 37–96)**
इकाई–3 प्रारम्भिक एवं मध्य वैदिक धर्म तथा दर्शन; उपनिषद् तथा उत्तरवैदिक कालीन धर्म एवं दर्शन	**इकाई 3** : वैदिक युग का धर्म और दर्शन **(पृष्ठ 97–119)**
इकाई–4 वैष्णववाद की उत्पत्ति एवं विकास; शैववाद की उत्पत्ति एवं विकास; दक्षिण भारत के आलवार और नयनार; शाक्त धर्म एवं दर्शन तथा तंत्रवाद के सिद्धांत; सौर संप्रदाय	**इकाई 4** : धार्मिक संप्रदाय एवं उनका दर्शन **(पृष्ठ 121–168)**
इकाई–5 बौद्ध धर्म; जैन धर्म; चार्वाक दर्शन	**इकाई 5** : नास्तिक धार्मिक संप्रदाय एवं विचार **(पृष्ठ 169–205)**
इकाई–6 सांख्य दर्शन– सांख्य दर्शन का अर्थ तथा प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख, सांख्य दर्शन के सिद्धांत; योग दर्शन– योग दर्शन का साहित्य, योग का अर्थ, चित्त तथा उसकी वृत्तियाँ, अष्टांग योग, ईश्वर; न्याय दर्शन– न्याय दर्शन का अर्थ, न्याय दर्शन का साहित्य, न्याय दर्शन के तत्वों का विचार, ईश्वर या परमात्मा; वैशेषिक दर्शन– वैशेषिक दर्शन का अर्थ, वैशेषिक दर्शन का साहित्य, वैशेषिक दर्शन के तत्वों का विचार; पूर्व मीमांसा दर्शन– पूर्व मीमांसा दर्शन का अर्थ, पूर्व मीमांसा दर्शन का साहित्य, पूर्व मीमांसा दर्शन के तत्वों का विचार; उत्तर मीमांसा–शंकर और रामानुज का दर्शन– उत्तर मीमांसा दर्शन का अर्थ, उत्तर मीमांसा दर्शन का साहित्य, शंकराचार्य का अद्वैत वेदांत, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदांत	**इकाई 6** : भारतीय दर्शन के छह संप्रदायों की रूपरेखा **(पृष्ठ 207–263)**

विषय–सूची

परिचय 1

इकाई 1 ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था 3–36

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 कृषि अर्थव्यवस्था और सामंतवाद पर परिचर्चा
1.3 मुद्रा, साख एवं बैंकिंग
  1.3.1 मुद्रा
  1.3.2 साख एवं बैंकिंग
1.4 उद्योग–धंधे, व्यापार एवं श्रेणियां
  1.4.1 उद्योग–धंधे
  1.4.2 व्यापार
  1.4.3 श्रेणियां
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 सामाजिक विचार और संस्थान 37–96

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 वर्ण और जातियों का विकास
2.3 सामाजिक स्तरीकरण का भौतिक आधार
2.4 आश्रम, पुरुषार्थ और संस्कार
2.5 प्राचीन भारत में स्त्रियों का स्थान और उनकी स्थिति
2.6 शैक्षणिक विचार और संस्थान
2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.8 सारांश
2.9 मुख्य शब्दावली
2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.11 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 वैदिक युग का धर्म और दर्शन 97–119

3.0 परिचय
3.1 इकाई के उद्देश्य
3.2 प्रारम्भिक एवं मध्य वैदिक धर्म तथा दर्शन
3.3 उपनिषद् तथा उत्तरवैदिक कालीन धर्म एवं दर्शन
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश

3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 धार्मिक संप्रदाय एवं उनका दर्शन **121–168**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 वैष्णववाद की उत्पत्ति एवं विकास
4.3 शैववाद की उत्पत्ति एवं विकास
4.4 दक्षिण भारत के आलवार और नयनार
4.5 शाक्त धर्म एवं दर्शन तथा तंत्रवाद के सिद्धांत
4.6 सौर संप्रदाय
4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 नास्तिक धार्मिक संप्रदाय एवं विचार **169–205**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 बौद्ध धर्म
5.3 जैन धर्म
5.4 चार्वाक दर्शन
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 6 भारतीय दर्शन के छह संप्रदायों की रूपरेखा **207–263**

6.0 परिचय
6.1 उद्देश्य
6.2 सांख्य दर्शन
  6.2.1 सांख्य दर्शन का अर्थ तथा प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख
  6.2.2 सांख्य दर्शन के सिद्धांत
6.3 योग दर्शन
  6.3.1 योग दर्शन का साहित्य
  6.3.2 योग का अर्थ
  6.3.3 चित्त तथा उसकी वृत्तियाँ
  6.3.4 अष्टांग योग
  6.3.5 ईश्वर

6.4 न्याय दर्शन
6.4.1 न्याय दर्शन का अर्थ
6.4.2 न्याय दर्शन का साहित्य
6.4.3 न्याय दर्शन के तत्वों का विचार
6.4.4 ईश्वर या परमात्मा
6.5 वैशेषिक दर्शन
6.5.1 वैशेषिक दर्शन का अर्थ
6.5.2 वैशेषिक दर्शन का साहित्य
6.5.3 वैशेषिक दर्शन के तत्वों का विचार
6.6 पूर्व मीमांसा दर्शन
6.6.1 पूर्व मीमांसा दर्शन का अर्थ
6.6.2 पूर्व मीमांसा दर्शन का साहित्य
6.6.3 पूर्व मीमांसा दर्शन के तत्वों का विचार
6.7 उत्तर मीमांसा–शंकर और रामानुज का दर्शन
6.7.1 उत्तर मीमांसा दर्शन का अर्थ
6.7.2 उत्तर मीमांसा दर्शन का साहित्य
6.7.3 शंकराचार्य का अद्वैत वेदांत
6.7.4 रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदांत
6.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
6.9 सारांश
6.10 मुख्य शब्दावली
6.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
6.12 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'प्राचीन भारत में विचारों और संस्थानों का इतिहास' का लेखन विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. इतिहास (पूर्वार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप किया गया है।

प्राचीन इतिहास के उपलब्ध स्रोतों के आधार पर एक लंबी अवधि के समाज, अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया जाता है। प्राचीन काल से ही भारतीय सभ्यता के विकास का मुख्य आधार कृषि रही है। कृषकों के अथक प्रयास से ही समाज के अन्य वर्गों को जीवन–यापन करने के लिए अनाज प्राप्त हुआ और इसके परिणामस्वरूप व्यापार–वाणिज्य विकसित हुआ। भारत में व्यवसायियों ने अपने–अपने व्यवसाय को एक निश्चित दिशा में विकसित और सुगठित किया। प्राचीन हिंदू शास्त्रकारों ने वर्ण–व्यवस्था की स्थापना समाज के विभिन्न श्रेणियों के लोगों में कार्यों का बंटवारा करके की। उन्होंने अनेक सामाजिक संगठन निर्मित किए। इस प्रकार की व्यवस्था सामूहिक पद्धति से व्यक्ति की उन्नति करने की थी।

वेदों से प्राप्त आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग ऋग्वैदिक संस्कृति का है जिसको जानने का स्रोत ऋग्वेद है। उत्तर वैदिक युग द्वितीय भाग है जिसमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद आदि आते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म की खोज अपने परिवेश के आधार पर ही करता है। ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन धार्मिक था। उनका सामाजिक एवं आर्थिक जीवन जितना सरल था धार्मिक जीवन उतना ही कठिन था।

एक ही धर्म की अलग–अलग विचारधारा को मानने वाले वर्गों को संप्रदाय कहते हैं। संप्रदाय के अंतर्गत सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदांत आदि दर्शन आते हैं। इसी प्रकार से वैष्णव, शैव, शाक्त आदि संप्रदाय भी विकसित हुए।

अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पुस्तक को छह इकाइयों में समायोजित किया गया है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है तथा इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने से पहले प्रश्न दिए गए हैं। इन इकाइयों का विवरण निम्नांकित है–

पहली इकाई में भारतीय ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था के विषय में विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

दूसरी इकाई सामाजिक विचारों और संस्थानों पर आधारित है। इसमें वर्ण एवं जातियों के विकास, सामाजिक स्तरीकरण का भौतिक आधार, आश्रम, पुरुषार्थ और संस्कार, प्राचीन भारत में स्त्रियों का स्थान और उनकी स्थिति तथा शैक्षणिक विचारों और संस्थानों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

तीसरी इकाई में वैदिक युग के धर्म और दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। इसमें प्रारंभिक एवं मध्य वैदिक धर्म तथा दर्शन, उपनिषद् तथा उत्तरवैदिककालीन धर्म एवं दर्शन पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

चौथी इकाई विभिन्न धार्मिक संप्रदायों एवं उनके दर्शन पर आधारित है। इसमें वैष्णववाद, शैववाद, दक्षिण भारत के आलवार और नयनार संतों, शाक्त धर्म, दर्शन तथा तंत्रवाद के सिद्धांतों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

टिप्पणी

पांचवीं इकाई में बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन और चार्वाक दर्शन के सिद्धांतों एवं विचारों का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

छठी इकाई में भारतीय दर्शन के छह संप्रदायों– सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा के सिद्धांतों और विचारों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारत में विचारों और संस्थानों के इतिहास से संबंधित विषयों का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्धन करने में सफल सिद्ध होगी।

इकाई 1 ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 कृषि अर्थव्यवस्था और सामंतवाद पर परिचर्चा
1.3 मुद्रा, साख एवं बैंकिंग
  1.3.1 मुद्रा
  1.3.2 साख एवं बैंकिंग
1.4 उद्योग–धंधे, व्यापार एवं श्रेणियां
  1.4.1 उद्योग–धंधे
  1.4.2 व्यापार
  1.4.3 श्रेणियां
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

प्राचीन काल से ही कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की धुरी बनी हुई है। भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। भारतीय सभ्यता के विकास का आधार कृषि ही रही है। कृषकों के अथक प्रयास के परिणामस्वरूप ही खेतों में अधिशेष उत्पादन हुआ। इन अधिशेष उत्पादनों का प्रभाव यह रहा कि समाज के अन्य वर्गों को जीवन–यापन के लिए अनाज प्राप्त हुआ और परिणामस्वरूप व्यापार–वाणिज्य का विकास संभव हो पाया।

फ्यूडल सिस्टम फ्यूड से बना है, जिसका अर्थ है, भूमि का ऐसा कुछ भाग जो सेवा करने की कुछ शर्तों पर उसका स्वामी किसी सामंत को कृषि करने के लिये देता था, और इस समाज में खेती ही शक्ति का एकमात्र स्रोत थी। संक्षेप में, यह भूस्वामित्व एवं व्यक्तित्व संबंधों पर आधारित एक सामाजिक पद्धति होती थी, जिसमें परस्पर अधिकारों तथा कर्तव्यों का निर्धारण होता था। इतिहास में बहस ने हमेशा शिक्षाविदों और इतिहास के छात्रों को उत्साहित किया। भारत में सामंतवाद एक गंभीर बहस का विषय रहा है।

विश्व के अन्य देशों की भांति भारत में वित्तीय लेन–देन के अनेक प्रकार प्रचलित थे, जिनमें वस्तु–विनिमय या अदला–बदली सबसे प्राचीनतम है। जैसे अनाज उगाने वाला किसान कपड़ा बनाने वाले जुलाहे को अनाज देकर उसके बदले में कपड़े ले लेता था, मकानों की चुनाई करने वाला मिस्त्री अपनी मेहनत के बदले में अनाज और वस्त्र ले लेता था। किन्तु इस विनिमय से न तो वस्तुओं का संग्रह हो पाता था और न ही मूल्यांकन क्योंकि खाद्य वस्तुएं आदि अल्पकालिक होती हैं। फलस्वरूप ऐसे किसी माध्यम की खोज अनेक शताब्दियों पूर्व हुयी जिसे वर्षों तक सहेजा जा सके। ऐसी वस्तुओं में धातु सर्वाधिक स्थायी पाई गई। सोना, चांदी या तांबा सदियों तक स्थायी रहते हैं अतः उन्हें विनिमय तथा क्रय का सर्वोत्तम साधन माना गया।

टिप्पणी

बैंकिंग व्यवसाय अत्यधिक प्राचीन है। प्राचीन भारत में जब सभ्यता अपने पूर्ण चरमोत्कर्ष पर थी, तथा चारों तरफ ऐश्वर्य और पैसे का बोलबाला था, ऐसे में पैसे के प्रबंधन के लिए बैंक जैसी संस्था की आवश्यकता अनुभव हुयी। प्राचीन काल से ही महाजन, सुनार, सर्राफ आदि रुपये के लेन–देन के कार्य में लगे थे। राजा नवाब और महाराजा अपने–अपने राज्यों में साहूकारों को बसाकर उनसे ऋण लेते थे। ये साहूकार अन्य लोगों को भी ऋण देते थे।

प्राचीन भारत में उद्योग एवं व्यापार की स्थिति बहुत सुदृढ़ थी। भारत की अर्थव्यवस्था उस समय विश्व में सर्वाधिक मजबूत थी और वह समूचे विश्व में व्यापार का महत्वपूर्ण केंद्र था। भारत उस समय संसाधनों से परिपूर्ण था। उस समय भारत का आयात उसके निर्यात से कम होता था, क्योंकि भारत में निर्मित वस्तुएं उच्च गुणवत्ता की होती थीं जबकि विदेशों में निर्मित वस्तुएं गुणवत्ता की दृष्टि से बहुत अच्छी नहीं होती थीं। उस काल में विश्व के अन्य देश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे जबकि भारत औद्योगिक दृष्टि से एक उन्नत देश था। भारत में निर्मित वस्तुओं की विदेशी बाजारों में बहुत मांग रही थी, जिसमें जरी के वस्त्र, तंबाकू, नील, शॉल, रेशमी वस्त्र, सूती वस्त्र, गरम मसाले आदि वस्तुएं सम्मिलित थीं। भारत में धातु उद्योग भी बहुत उन्नत अवस्था में था। सोने, चांदी, पीतल, तांबे के आभूषणों और वस्तुओं का उत्पादन बड़ी मात्रा में होता था। वस्त्र उद्योग भी भारत में अपनी सुदृढ़ अवस्था में था और वस्त्रों के व्यापार के अनेक प्रमुख केंद्र थे। भारत में अनेक प्रसिद्ध बंदरगाह थे जहां से विदेशों को माल भेजा जाता था।

प्राचीनकालीन भारत में व्यवसायियों और शिल्पकारों ने अपने–अपने व्यवसाय और शिल्प को एक निश्चित दिशा में विकसित और सुगठित किया तथा उसकी सुरक्षा और उन्नति के लिए अपने–अपने संगठन बनाए। ऐसे संगठित व्यापारिक समूह को 'श्रेणी', 'निगम' या 'निकाय' के नाम से जाना गया। अलग–अलग श्रेणियां भिन्न–भिन्न व्यापारिक समूहों का प्रतिनिधित्व करती थीं। भारत की अर्थव्यवस्था को सुसंपन्न एवं अच्छा बनाने में श्रेणी नामक संस्था का अद्वितीय योगदान रहा है। इस संस्था के भिन्न–भिन्न नियम थे, जो राज्य द्वारा मान्य थे। राजा संघों के नियमों का सम्मान करता था तथा उनके प्रतिनिधियों को राज्य की प्रशासनिक समिति के सदस्य के रूप में मनोनीत करता था।

इस इकाई में कृषि अर्थव्यवस्था, मुद्रा साख, बैंकिंग, उद्योग धंधे, व्यापार एवं संपत्तियों को विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्राचीन भारत में कृषि अर्थव्यवस्था के बारे में जान पाएंगे,
- भारतीय सामंतवाद पर वाद–विवादों की समीक्षा कर पाएंगे।
- प्राचीन भारत में मुद्रा व्यवस्था से परिचित हो पाएंगे,
- प्राचीन भारत में जमा राशि एवं बैंकिंग प्रणाली को समझ पाएंगे।
- प्राचीनकालीन भारत में उद्योग–धन्धों के विकास के बारे में जान पाएंगे,
- भारत में प्राचीन काल में व्यापार और वाणिज्य को समझ पाएंगे,
- प्राचीन भारत में प्रचलित श्रेणियों का अवलोकन कर पाएंगे।

1.2 कृषि अर्थव्यवस्था और सामंतवाद पर परिचर्चा

टिप्पणी

नवपाषाण काल में मनुष्य ने कृषि करना आरम्भ किया। भारत में कृषि उत्पादन के प्राचीनतम साक्ष्य लगभग 5000 ई. पू. से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। भारत में मेहरगढ़ से कृषि के सबसे प्राचीन साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, जिनमे जौ और गेहूं की फसलें शामिल हैं, किन्तु यह क्षेत्र अब पाकिस्तान की सीमा में आता है। भारत में काठ–कोयले और अन्न–कणों के कुछ साक्ष्य राजस्थान में प्राप्त हुए हैं, जिनकी तिथि 8000–7000 ई.पू के लगभग निर्धारित की गई है, किन्तु जहां से ये साक्ष्य मिले हैं, वहां पास में किसी नवपाषाणकालीन बस्ती का कोई अवशेष न मिलने के कारण इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। उत्तर–प्रदेश में कोल्डीहवा नामक स्थान से वन्य एवं कृषिजन्य चावल के अवशेष मिले हैं, जिनकी तिथि 6000–5000 ई. पू. है। इनके अतिरिक्त तीसरी शताब्दी ई.पू के गेहूं और जौ में कुछ साक्ष्य कश्मीर के बुर्जहोम नामक स्थान से तथा कृषिजन्य बाजरे के कुछ साक्ष्य दक्षिण भारत से भी मिले हैं। इन सभी साक्ष्यों से स्पष्ट है कि भारत में कृषि–उत्पादन का कार्य नवपाषाण काल में प्रारम्भ हो चुका था। इन अन्न अवशेषों के अतिरिक्त बुर्जहोम, गुफकराल, ब्रह्मगिरि, संगनकल्लु, पिकलीहल, मस्की, हडिंग, संजनघाटी आदि स्थानों से मिले नवपाषाण काल के घड़े, मटके, कुदाल, हंसिये, सिल–बट्टे आदि के अवशेष भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि इस युग में भारत में कृषि कार्य प्रारम्भ हो चुका था तथा यहां के निवासी कृषि से प्राप्त अन्न के भण्डारण तथा उसको कूटने–पीसने आदि की कला से पूर्णतया परिचित थे।

विश्व की अन्य समकालीन सभ्यताओं की भांति सिन्धु घाटी के लोगों का मुख्य व्यवसाय भी कृषि करना था। उत्खनन से अनाजों, सब्जियों आदि के अवशेष मिले हैं, जिनके आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु घाटी के लोग गेहूं, चावल, जौ, तिल, पटसन, ज्वार, तरबूज, सरसों, रागी, विभिन्न प्रकार की दालें, सब्जियां तथा फलों की खेती करते थे। 1800 ई.पू. के लोथल नामक स्थान से चावल की खेती के साक्ष्य मिले हैं। इसके अतिरिक्त सिंधु सभ्यता के लोग कपास का भी उत्पादन करते थे। मेहरगढ़, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि स्थानों से कपास की खेती के भी साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। उत्खनन से प्राप्त अन्नागारों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि हड़प्पा संस्कृति में अनाज का भारी मात्रा में उत्पादन होता होगा। अतः अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने के पश्चात् शेष अनाज को सुरक्षित रखने के लिए सिन्धु घाटी के लोगों ने अन्नागारों का निर्माण किया हुआ था। उस समय कृषि, हल और बैल के साथ की जाती थी। हल धातु तथा लकड़ी के बने होते थे। चोलिस्तान तथा बनावली से मिट्टी के बने हल के प्रतिरूप प्राप्त हुए हैं। कालीबंगा (राजस्थान) से जुते हुए खेत के साक्ष्य मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही खेत में एक–साथ दो फसलें भी उगाई जाती थीं। इसके अतिरिक्त, शोर्तुघई (अफगानिस्तान) से नहरों के अवशेष भी मिले हैं। उस काल में कुओं और जलाशयों से भी खेतों की सिंचाई की जाती थी। धौलावीरा (गुजरात) में अनेक जलाशय मिले हैं। फसलों को हंसियों की सहायता से काटा जाता था। सिन्धु सभ्यता में फावड़ों का प्रयोग भी किया जाता था। अनाज को ढोने के लिए बैलगाड़ियों का प्रयोग किया जाता था।

प्रो. कृष्णमोहन श्रीमाली के अनुसार ऋग्वैदिक काल में कृषि व्यवसाय पशुपालन की तुलना में नगण्य सा था, क्योंकि इस विशाल वेद के मूल–पाठ में ऊदर (अन्न को

टिप्पणी

तौलने का पात्र) धान्य, वपन्ति आदि जैसे कृषि–संबंधी शब्दों का प्रयोग केवल कुछ ही श्लोकों में हुआ है। ऋग्वेद के चौथे मण्डल के एक सूक्त में तथा दसवें मण्डल में कृषि–संबंधी प्रक्रिया का उल्लेख मिलता है किन्तु ये दोनों अंश प्रक्षिप्त माने जाते है फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब इन अंशों की रचना हुयी तब तक भारतवासी हल और बैल से जुते हुए खेतों में बीज बोने पके अनाज को हंसिये से काटकर छोटे–छोटे गट्ठरों के रूप में खलिहान में लाने, वहां मड़ाई करके वायु द्वारा अनाज को भूसे से अलग करने और ऊर्दर के माध्यम से उसे तौलने की प्रक्रिया से तथा जलकूप एवं नहरों की सहायता से खेतों की सिंचाई करने की प्रक्रिया से भली–भाँति परिचित हो चुके थे। ऋग्वेद में अनाज के लिये सामान्य रूप से यव और धान्य शब्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु इसका तात्पर्य किस अनाज से है, यहां निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

उत्तर वैदिक काल में कृषि आर्यों की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार थी। उत्तरी भारत में लौह काल आरम्भ हो चुका था, जिससे कृषि कार्यों के लिए नए उपकरणों का निर्माण होने लगा। उत्तर प्रदेश के अतरंजीखेड़ा एवं अन्य स्थानों से उत्खनन के आधार पर विद्वानों का मानना है कि लगभग 1000 ई. पू. में भारत में लोहे का उपयोग होना आरम्भ हुआ। घने जंगलों को साफ करके उन्हें कृषि योग्य बनाने में लोहे की कुल्हाड़ियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। विद्वानों का मानना है कि लोहे के प्रयोग ने कृषि अर्थव्यवस्था को और अधिक विकसित करने में विशेष योगदान दिया। डी.डी. कौशाम्बी ने लिखा है कि, "लोहे के फाल वाले हल के प्रयोग से खेतों की जुताई अधिक अच्छी तरह संभव हो गई और इससे कृषि व्यवस्था में तेजी आई। पशुपालन के स्थान पर कृषि को मौलिक व्यवसाय के रूप में अपनाया जाने लगा जिससे अधिशेष का सृजन होने लगा। इन हलों को खींचने के लिए 6, 8, 12 तथा 24 बैलों का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन पालि साहित्य से कृषि में लोहे के उपकरणों के प्रयोग किए जाने के विवरण मिलते हैं। इससे राज्य की आमदनी पहले से बहुत बढ़ गई और महाजनपदों के उत्थान का मार्ग प्रशस्त हुआ।

शतपथ ब्राह्मण जुताई, बुआई, कटाई और मड़ाई का वर्णन करता है। कृषि उपज में वृद्धि हेतु गोबर की खाद का प्रयोग भी किया जाता था। वर्ष में दो फसलें उगाई जाती थीं। सिंचाई में वर्षा और कुओं के अतिरिक्त नहरों का भी उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता में जौ, धान, उड़द, तिल, श्यामक, गन्ना, शण, मूंग, मसूर आदि अनेक फसलों का उल्लेख है जो उस समय उगाई जाती थीं। फसल को ओलावृष्टि, सूखा, बाढ़ एवं टिड्डीदल से बचाने के लिए अथर्ववेद में मंत्रों का भी उल्लेख मिलता है। कृषि भूमि भिन्न–भिन्न व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति थी। किसान को उपज का 1/6 भाग कर के रूप में देना पड़ता था।

मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था का भी मुख्य आधार कृषि थी जो हल और बैलों द्वारा की जाती थी। उस समय कृषि पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर थी, फिर भी शासक खेतों की सिंचाई के लिये कुएं, तालाब, बांध, झील आदि बनवाने में विशेष रुचि लेते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार राजकीय साधनों द्वारा सिंचाई करने पर किसानों को उपज का पांचवां, चौथा अथवा तीसरा भाग जल–कर के रूप में देना पड़ता था। जूनागढ़ अभिलेख के अनुसार जनता की भलाई के लिये चंद्रगुप्त मौर्य ने सुदर्शन झील का निर्माण प्रारम्भ करवाया था। यह झील अशोक के काल में बनकर तैयार हुयी थी।

टिप्पणी

धनवान कृषकों के पास व्यक्तिगत कुएं और तालाब भी होते थे, किन्तु कुछ समय बाद इन्हें भी जल–कर देना पड़ता था। अर्थशास्त्र में राजा को वनों एवं चारागाहों का समुचित विकास कराने का भी निर्देश दिया गया है। भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए पशुओं के गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। कई बार उपलों एवं लकड़ियों की राख भी खेतों में डाल दी जाती थी। अर्थशास्त्र में उपजाऊ भूमि के साथ ही बिना जुती हुयी, जुती हुयी तथा, ऊँची एवं नीची भूमि का भी वर्णन मिलता है। उस समय गेहूं, जौ, चना, मक्का, ज्वार, बाजरा, मटर, गन्ना, उड़द, मूंग, मसूर, सरसों, कपास, आलू, तरबूज, विभिन्न प्रकार के शाकों और सब्जियों तथा फलों जैसे–केला, आम, अनार, नींबू, सेब आदि की खेती की जाती थी।

गुप्त काल में अधिकांश लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि करना था। कृषि उन्नत अवस्था में थी। कृषि हल और बैलों द्वारा की जाती थी। हालांकि कृषि वर्षा पर निर्भर थी, इसके बावजूद, खेतों की सिंचाई नहरों, तालाबों तथा झीलों से भी की जाती थी। सम्राट स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र (काठियावाड़) में सुदर्शन झील का पुनः निर्माण कराया, जिससे किसानों को बहुत लाभ हुआ। बृहत्संहिता और अमरकोष के अनुसार, गुप्त काल में गेहूं, चावल, जौ, चना, मटर, तिलहन, केला, आम, सेब, अंगूर, अनार, तरबूज तथा विभिन्न प्रकार की सब्जियां तथा दलहन की खेती की जाती थी। भूमि की उर्वरता में वृद्धि के लिए गोबर की खाद भी प्रयोग में लाई जाती थी। गुप्त काल में वर्ष में दो फसलें बोई तथा काटी जाती थीं। बृहत्संहिता में श्रावण मास में, वसंत ऋतु में तथा चैत्र या वैशाख मास में होने वाली फसलों का उल्लेख है तथा वर्षा के पूर्वानुमान एवं भूमि को तैयार करने, वृक्षों की कलम बनाने, मौसम के अनुरूप पौधों का रख–रखाव करने आदि से संबंधित विभिन्न निर्देश दिये गये हैं। इस काल में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाने लगा था और कृषि–योग्य भूमि की माप तथा कृषि की देख–रेख के लिये महाक्षपटलिक एवं कारणिक नामक अधिकारी नियुक्त किये गये थे। किसान अपनी उपज का चौथा, आठवां अथवा बारहवां अंश राजा को कर के रूप में देते थे। राजा सिंचाई की उत्तम व्यवस्था पर विशेष ध्यान देता था। जलाशयों को हानि पहुंचाने वाले लोगों को कड़ा दण्ड दिया जाता था।

हर्षवर्धन के काल में कृषि की उत्तम व्यवस्था का ज्ञान ह्यूनत्सांग (ह्वेनसांग) के विवरण से प्राप्त होता है। उसके अनुसार हर्ष के शासनकाल में भारत के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि करना था। कृषि हल और बैल के साथ की जाती थी। उस समय भूमि बहुत उपजाऊ थी। इस युग में गेहूं, चावल, आम, तरबूज, नारियल, कटहल, सेब, चना, मक्का, मटर, तिलहन, कपास, पटसन, अनार, नारंगी आदि का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में होता था। वैसे तो कृषि पूरी तरह से वर्षा पर निर्भर थी, फिर भी अप्राकृतिक साधनों, जैसे, कुओं, तालाबों तथा नदी–नालों से भी खेतों को सिंचित किया जाता था। वर्ष में दो फसलें उगाई जाती थीं। राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमिकर था। सरकार कृषकों से कुल उपज का छठा (1/6) भाग भूमिकर के रूप में लेती थी।

पूर्व–मध्यकालीन साहित्य में उस समय की कृषि–व्यवस्था से संबंधित विस्तृत विवरण मिलते हैं। डा. कैलाश चन्द्र जैन के अनुसार इस काल में चावल, सरसों, कोदव, कालीमिर्च, प्रियंगु, जतिल निवार, विविध दालों, ईख, कपूर आदि की उपज का उल्लेख अभिधानरत्नमाला, मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका और काव्यमीमांसा में उपलब्ध है तथा अलग–अलग वनस्पतियों के लिये भूमि की भिन्न–भिन्न विशेषताएं बताई गई

टिप्पणी

हैं। अभिधानरत्नमाला में भूमि को उर्वरा (उपजाऊ), दूरिण (बंजर), खिल (परती), मरु (रेतीली), मृत्सा (उच्च), शाड्वल, नड्वल आदि विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। विदेशी साहित्य से पश्चिमी भारत में कपास, नील, आम, बांस, नारियल, नींबू और सागौन के उत्पादन का, मालाबार में काली मिर्च और इलायची के उत्पादन का तथा दक्षिण में अदरख और दालचीनी के उत्पादन का ज्ञान होता है। इस काल में खेतों में सिंचाई के लिये अरहर और चमड़े के चरस का प्रयोग किया जाता था। परमार, चौहान और चोल वंश के शासक सिंचाई का बहुत ध्यान रखते थे और समय–समय पर कुओं, तालाबों, नहर, बांध, झील, आदि का निर्माण कराते रहते थे।

सामंतवाद पर परिचर्चा

भारतीय संदर्भ में 'सामंतवाद' की पहली अस्मिता कर्नल जेम्स टॉड के हाथों हुयी। उन्होंने राजस्थान के इतिहास का संकलन किया और उसमें माना कि राजस्थान में भी यूरोपीय सामंतवादी व्यवस्थाएं और संबंध दृष्टिगोचर हैं। अन्य यूरोपीय इतिहासकारों की भांति, टॉड के अनुसार स्वामी–दास संबंध ने सामंतवाद के मूल का गठन किया। मध्ययुगीन यूरोप में स्वामी अपने दासों की सुरक्षा और निर्वाह की देखभाल करते थे और बदले में दास अपने स्वामी को सैन्य और अन्य सेवाएं प्रदान करते थे। भारत में सामंतवाद शब्द का प्रयोग इतिहास की रचनाओं में होता रहा बल्कि इसके साथ अस्पष्ट अर्थ जुड़े हुए हैं।

विद्वानों ने सामंतवाद शब्द के अर्थ का व्यापक रूप में प्रयोग किया तथा इसकी मूल परिभाषा को लेकर भी उनमें मतभेद है। प्रोफेसर हरबंस मुखिया के अनुसार सामंत शब्द का प्रयोग मध्यकालीन यूरोप में कानूनी अर्थ में किसी के संपत्तिगत अधिकार को इंगित करने के लिए होता था। वहीं सामंतवाद शब्द का प्रयोग बहुत बाद में लगभग 18वीं सदी में आरंभ हुआ जिसका उद्देश्य छोटे–छोटे राजकुमारों और अधिपतियों के बीच संप्रभुता की साझेदारी को परिभाषित करना था। इस शब्द का उपयोग फ्रांसीसी क्रांति के समय पुरातन व्यवस्था (Ancient Regime) की आलोचना करने के लिए किया गया। इसके पश्चात् सामंतवाद शब्द का प्रयोग और भी व्यापक होता गया। अधिकांश इतिहासकारों ने पश्चिमी और मध्य यूरोप में 10वीं से 12वीं सदी के राजनीतिक और सामाजिक ढांचे के रूप में सामंतवाद को इस काल की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था स्वीकार किया है।

भारत में यूरोपीय अधिकारियों ने अपने साम्राज्यवादी शासन को सही प्रमाणित करने हेतु भारत के इतिहास को अंधकारमय युग के रूप में प्रस्तुत किया जहां यूरोप के आधुनिक ज्ञान और व्यवस्थाओं से पूर्व केवल अव्यवस्था, पिछड़ापन और अपरिवर्तनशील समाज था। कार्ल मार्क्स ने भारत समेत एशिया की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था पर विशेष सैद्धांतिक पक्ष रखने का प्रयास किया। अन्य विचारकों की भांति मार्क्स के अनुसार एशिया में कोई वर्ग नहीं था क्योंकि सारी संपत्ति या तो राजा की थी या समुदाय की। इसलिए समय के साथ कोई वर्ग संघर्ष नहीं हुआ और न ही उत्पादन व्यवस्था में कोई परिवर्तन हुआ। उन्होंने भी एशियाई देशों की व्यवस्थाओं को पश्चिमी औपनिवेशीकरण के काल से पूर्व अपरिवर्तनशील होने का विचार प्रस्तुत किया।

इस उत्पादन व्यवस्था के अंतर्गत भारत में निरंकुश शासकों के अधीन गतिहीन अर्थव्यवस्था थी जहां वस्तुओं का उत्पादन बाजार और व्यापार के लिए नहीं किया

टिप्पणी

जाता था, बल्कि एशिया की अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान थी जहां सीमित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ग्राम आत्मनिर्भर थे, इसलिए भारत में एशिया के अन्य क्षेत्रों की भांति बंद–अर्थव्यवस्था उभरी जहां मुख्यतः व्यापार और मुद्रा विनिमय का प्रचलन नहीं था। लेकिन भारतीय मार्क्सवादी विद्वानों ने 1950–60 के दशक में भारत के संदर्भ में मार्क्स के विचारों की आलोचना की तथा उसे पूर्ण रूप से अस्वीकार करते हुए भारत के पूर्व–मध्यकाल के समय को सामंतवादी युग स्वीकार किया है।

इतिहासकार डी.डी. कोसांबी ने सामंतवाद को सामाजिक–आर्थिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिया। 1956 ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री' में उन्होंने भारत में सामंतवाद के उदय को द्विमार्गी प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया– ऊर्ध्वगामी और अधोगामी सामंतवाद। सामंतवाद के उदय में राजा द्वारा अधिकारियों की सेवा और सैन्य शक्ति के लिए उन्हें वेतन के स्थान पर भूमि अनुदान के अतिरिक्त उस भू–क्षेत्र पर विभिन्न अधिकार प्रदान करने से राजा द्वारा स्वयं शक्ति और अधिकारों का विकेंद्रीकरण, क्षेत्रीय अभिजात वर्ग का शक्तिशाली होना तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास को प्रमुख कारक माना गया। राजा अपने अधीनस्थ सामंतों से भेंट लेते थे जिसके चलते उन्हें अपने अधिकार क्षेत्र में शासन करने की स्वतंत्रता थी। यह ऊर्ध्वगामी सामंतवाद था। यह राजनीतिक निर्णयों का परिणाम था। कालांतर में राजा और किसान के मध्य ग्रामीण समाज में बिचौलियों की शृंखला उभरी, जो राज्य के लिए किसानों पर बल प्रयोग का माध्यम भी थे। सामंतवाद की इस सामाजिक और आर्थिक प्रक्रिया को अधोगामी सामंतवाद की प्रक्रिया मानते हैं।

प्रोफेसर आर. एस. शर्मा ने 1964 में अपनी पुस्तक 'इंडियन फ्यूडलिज्म' में सामंतवाद का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने का प्रयास किया। उन्होंने यूरोप के इतिहासकार हेनरी पिरेन की 1920 और 1930 के दशक में सामंतवाद की अवधारणा को अपनाया और उसी के आधार पर भारत के सामंतवाद को समझने का प्रयास किया। उनका मानना था कि भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ–साथ विश्व के विभिन्न देशों के साथ लंबी दूरी का व्यापार और शहरीकरण अवरुद्ध हो गया, साथ ही मुद्रा विनिमय भी ठप होता गया, परिणामस्वरुप सामंतवादी व्यवस्था में आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था विकसित होती गई। मुद्रा के अभाव के कारण राज्य ब्राह्मणों के साथ–साथ अब बड़े अधिकारियों को भी उनकी सेवाओं के भुगतान के लिए भूमि देने लगे थे। इस भूमि पर प्राप्तकर्ता का पूरा अधिकार होता था, अपने क्षेत्र एवं निवासियों के ऊपर न्याय एवं प्रशासनिक अधिकार के अतिरिक्त प्राप्तकर्ता का क्षेत्रीय स्तर पर सामाजिक एवं आर्थिक वर्चस्व कायम हो गया। कृषि प्रधान ग्रामीण व्यवस्था में कृषक भू–सामंतों के अत्यधिक अधीन होते गए और इस परिवर्तित अंतर संबंधों के कारण कृषक, कृषक–दास में बदलते गए। आर. एस. शर्मा का विचार है कि सामंतों के अधीन अत्यधिक शोषण हो रहा था। सामंतों द्वारा लोगों से बलपूर्वक श्रमदान भी लिया जाता था। अतः शर्मा के अनुसार सामंतवाद के अंतर–संबंधित मुख्य कारण एवं लक्षण थे–भूमि एवं अधिकारों का वितरण, सत्ता का विकेंद्रीकरण, उप–सामंतीकरण, कृषक दास एवं बलपूर्वक श्रम और नगरों का पतन तथा मुद्रा ह्रास।

समग्र राज्य की अपनी अवधारणा के अंतर्गत आर. एस. शर्मा का मानना था कि राजा भू–अनुदान द्वारा राज्य का विकेंद्रीकरण नहीं बल्कि विस्तार और निर्माण कर रहे थे। भू–अनुदान द्वारा राज्य का भौगोलिक विस्तार हुआ, जनजातियों को

टिप्पणी

मुख्य संस्कृति से जोड़ा गया, कृषि क्षेत्र का विस्तार हुआ तथा मंदिरों और ब्राह्मणों के माध्यम से राजा अपनी संप्रभुता का निर्माण करता था तथा साथ ही पारंपरिक संस्कृति का निर्माण हुआ। अतः भू–अनुदान के माध्यम से राज्य अपनी शक्ति, लोकप्रियता और राज्य का विस्तार कर रहा था न कि विकेंद्रीकरण और उप–सामंतीकरण।

भारतीय इतिहास का वह भाग जिसे अंधकार युग माना गया था, वह अत्यंत क्रियाशील था। राजपूतों की उत्पत्ति और भारतीय सामंतवाद, इन दोनों विषयों के नए अध्ययन से हमें पूर्व–मध्यकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक निरंतरता एवं परिवर्तन की प्रक्रियाओं को समझने का अवसर प्राप्त होता है। जहां एक ओर आर्थिक समीक्षा और आलोचनात्मक अध्ययन से मार्क्सवादी इतिहासकार भारतीय सामंतवाद की चर्चा करते है, वहीं उनके द्वारा किए गए अध्ययन को संशोधनवादियों ने निरंतर चुनौती प्रदान कर भारतीय सामंतवाद को अस्वीकार किया है तथा पूर्व–मध्यकाल को विकासशील माना है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. किस काल में मनुष्य ने कृषि करना आरंभ किया?
   (क) उत्तरपाषाण काल (ख) मध्यपाषाण काल
   (ग) पुरापाषाण काल (घ) नवपाषाण काल
2. उपज का कितना भाग किसान को कर के रूप में देना पड़ता था?
   (क) 1/4 (ख) 1/6
   (ग) 1/8 (घ) 1/10

1.3 मुद्रा, साख एवं बैंकिंग

मुद्रा, साख एवं बैंकिंग की अवधारणा को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

1.3.1 मुद्रा

आदिम काल में मनुष्य के जीवन का आधार शिकार करना और भोजन संग्रह करना था। कालांतर में आहार तथा अन्य कार्यों के लिए पशु पाले जाने लगे। धीरे–धीरे आदिम समाज में आर्थिक संबंध का जन्म हुआ और विनिमय के साधन की आवश्यकता अनुभव की गई, किन्तु यह विनिमय वस्तु–विनिमय (Barter System) तक ही सीमित रही। फिर भी वस्तु–विनिमय के अतिरिक्त, व्यापक रूप से उपादेय कुछ वस्तुएं विनिमय के मानक माध्यम के रूप में चलने लगीं, जैसे– गाय, अन्न, घोड़ा, खाल आदि। ये माध्यम विभिन्न समाजों में अलग–अलग थे। धनी लोगों के मध्य गाय उपयुक्त मानक थी। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में एक वर्ष की बछिया सोम की एक निश्चित मात्रा का मानक प्रतिवस्तु मानी गई है।

सिक्कों का अभाव सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में बड़ा बाधक था। इन कठिनाइयों के समाधान हेतु मुद्रा की आवश्यकता अनुभव की गई और सुविधाजनक मानक के रूप में बहुत–सी धातुएं चलाई गईं। हड़प्पा काल में उच्च सभ्यता सम्पन्न

टिप्पणी

नागरिक जीवन विकसित हुआ, जिसका पश्चिम से व्यापार–वाणिज्य चलता था। इस बात की पुष्टि लोथल और अन्य स्थानों से हुए उत्खनन से भी होती है। प्रारम्भ में वस्तु–विनिमय (वस्तु से वस्तु बदलने) के रूप में चला और व्यापार के चलते मुद्रा की आवश्यकता अनुभव हुयी। ये लोग विदेशी व्यापार में अवश्य ही किसी निश्चित माध्यम का उपयोग करते रहे होंगे। उनमें कोई–न–कोई मुद्रा–प्रणाली अवश्य उद्‌भूत हुयी होगी। विभिन्न प्रकार के चिह्नों और लक्षणों वाले विविध सीलों का उपयोग विनिमय के माध्यम के रूप में या अन्य आर्थिक क्रिया–कलापों के सिलसिले में अवश्य ही होता रहा होगा। किन्तु हड़प्पा सभ्यता के लोगों के विनिमय–माध्यम के बारे में हम निश्चित तौर पर कुछ कह नहीं सकते। इतना निश्चित है कि ऐसी महान सभ्यता का किसी–न–किसी मुद्रा अर्थव्यवस्था के बिना विकसित होना असंभव प्रतीत होता है।

वैदिक सभ्यता में पशुपालन एवं कृषि दोनों की मिली–जुली अर्थव्यवस्था थी जिसमें पशुओं का सबसे महत्वपूर्ण स्थान था। पशुधन की वृद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाती थी। क्षत्रिय लोग पशु को विजयोपलब्धि मानते थे और पुरोहित लोग पशु के रूप में दान–दक्षिणा प्राप्त करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गाय को मुद्रा के रूप में स्वीकार किया जा चुका था और कभी–कभी मान का निर्धारण गायों की संख्या से किया जाता था। पशु आर्यों की संपत्ति समझे जाते थे और जिसके पास जितने अधिक पशु होते थे, वह उतना अधिक धनवान समझा जाता था। वैदिक काल में व्यापार मुख्यतः वस्तु–विनिमय प्रणाली के द्वारा होता था, किन्तु आदिम रूप में सिक्के भी कुछ–कुछ प्रचलित थे।

निष्क, सिक्के का प्राचीनतम रूप है। मूलतः इसका अर्थ था सोने का एक गहना जो गले में धारण किया जाता था। मुद्रा के रूप में इसका उल्लेख ऋग्वेद में वहां आया है जहां एक गायक 100 निष्क तथा 100 घोड़े पाने का उल्लास मनाता है। एक स्थान पर चालीस हजार सिक्कों का और दूसरे स्थान पर 8 हजार सिक्कों का उल्लेख हुआ है। निष्क सिक्का रूपी मुद्रा को कहते थे और यह सोने का होता था। सोने के अन्य सिक्के शतमान, पाद, कृष्णल, गुण्य आदि थे।

वैदिक साहित्य में काम्य वस्तुओं में 'मान' का भी उल्लेख हुआ है। चांदी के सिक्कों और चांदी के निष्कों का भी उल्लेख प्राप्त हुआ है। वैदिक काल में चांदी के सिक्के को रपिस् कहा जाता था। सोने का गोला हिरण्यपिण्ड भी सिक्के की भांति था। सोने और चांदी के विभिन्न वजनों और मानों के सिक्के लोगों में विनिमय के माध्यम के रूप में चलने थे। वैदिक काल के लोगों ने सोने, चांदी और तांबे की प्रचुर मात्रा में उपलब्धता के कारण अपने सामाजिक–आर्थिक जीवन के सार को काफी समुन्नत किया और किसी–न–किसी ढांचे का मुद्रात्मक लेन–देन का विकास किया। धातु से निर्मित विभिन्न प्रकार के सिक्के आर्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे और भारत के लोग सिकन्दर के काल के बहुत पहले ही सिक्के ढाला करते थे। 'निष्क' का भार स्मृतियों में उल्लेखित है। विष्णु, याज्ञवल्क्य और मनु ने निष्क का मान चार 'सुवर्ण' के बराबर बताया है।

धातु के सिक्कों के प्रयोग के साथ–साथ वस्तु–विनिमय–प्रणाली भी विद्यमान थी। इसे रामायण में निष्क्रय कहा गया है। बहुधा मुद्रा के रूप में गाय के मूल्य का उल्लेख है। कृषिमूलक अर्थव्यवस्था में गाय का अपना विशेष महत्व है। यज्ञ की दक्षिणा

टिप्पणी

में गाय और मुद्रा दोनों दी जाती थीं। गाय किसी वस्तु के मूल्य का मान– मानी जाती थी। इस काल में निष्क सबसे प्रचलित सिक्का था। चांदी के सिक्के (रजत) भी विनिमय के साधन के रूप में प्रचलित थे। कालांतर में तांबे के सिक्के भी चले। मुद्रा वस्तुओं के मूल्य के प्रतीक के रूप में चलने लगी।

बौद्ध ग्रन्थों में एक सिक्के के अर्थ में कार्षापण का उल्लेख है। बौद्ध आचार्यों को सोने, चांदी, काँसे और तांबे के सिक्के ज्ञात थे और ये सिक्के हैं कंस, पाद, मासक, काकणिक, कार्षापण आदि और इनके मूल्य स्थान और काल अनुसार अलग–अलग थे। 'विनयपिटक' के अनुसार पांच मासकों का एक पाद होता था। बौद्ध काल के दौरान व्यापारिक लेन–देन में मुद्रा की एक सुव्यवस्थित प्रणाली का प्रचलन एक बड़े महत्व का विषय था। यद्यपि वस्तु विनिमय प्रणाली चलती रही, तथापि विनिमय के माध्यम के रूप में सिक्कों का भी प्रचलन रहा, तथा स्वर्ण पिंड एवं रजत पिंड भी चलते थे। हेरोडोट्स के अनुसार भारतीयों ने डारियस (Darius) को स्वर्ण पिंड के रूप में भेंट दिया था।

माना जाता है कि छठी शताब्दी ई.पू. तक आते–आते धातु–मुद्रा अधिक प्रचलन में आ गयी थी और हथौड़े से पीटकर बनाईं धातु की चादरों को आयताकार या गोलाकार काटकर सिक्कों का निर्माण किया जाने लगा। ऐसी धातुओं के ऊपर ठप्पे ठोक कर प्रतीक चिह्न लगाए जाते थे। इसीलिए इसका नाम 'आहत मुद्रा' (Punch Marked Coin) रखा गया। देश के विभिन्न भागों से हजारों आहत मुद्राएं प्राप्त हुयी हैं। लेख रहित आहत मुद्राएं छठी शताब्दी ई.पू. से बनने लगी और अनेक शताब्दियों तक चलती रहीं। सिक्कों के प्रचलन के विषय में बौद्ध साहित्य में बहुत उल्लेख मिलता है।

अनेक विद्वानों जैसे– रैपसन, एलेन व अन्यों ने पूर्वकालीन भारतीय आहत मुद्राओं पर विदेशी प्रभाव जानने का प्रयास किया है, किन्तु ये लोग एकमत नहीं हैं, क्योंकि हमें मालूम है कि आहत मुद्रा का उद्‌भव बहुत पहले आदिम रूप में हुआ है। इन मुद्राओं पर उत्कीर्ण प्रतीकों जैसे सूर्य, पर्वत, वृक्ष, मानवाकृति आदि से प्रतीत होता है कि आहत मुद्राएं छठी शताब्दी ई.पू. से पहले निर्मित हुयी। ये भारत के अपने सिक्के हैं और संभवतः ये ही ग्रंथों में वर्णित शतमान हैं। वॉल्श का मानना है कि इन आहत मुद्राओं पर जो प्रतीक मिलते हैं, ये मोहनजोदड़ो की मोहरों के चित्रों की परंपरा का अनुवर्तन मात्र हैं।

इतिहासकार डी.डी. कोसांबी का विचार है कि सूर्य साम्राज्य का प्रतीक है, चापों पर अर्धचंद्र मौर्यों का प्रतीक है तथा वह राजसत्ता से संबंधित है। उनका यह भी मानना है कि यह प्रतीक एक राजवंश से संबंधित है और चक्ररहित मानवाकृति वाला प्रतीक आदिमजातीय गणराज्य का सूचक है। तीन अंड गोलक और एक स्पर्श रेखा वाला प्रतीक सम्राट अशोक का है जो उसके दीर्घकालिक शासन का द्योतक है। यह कभी–कभी बिन्दुसार की मुद्राओं पर भी मिलता है और चापों पर बना हुआ मोर संभवतः मौर्यों के गोत्र चिह्न मयूर से संबंधित है। फाउचर का मानना है कि सिक्कों पर हाथी और सांड के चित्र मौर्यों के बौद्ध धर्म से सम्बन्ध के सूचक हैं। वृक्षमय घेरा सम्बोधि का प्रतीक है और चाप बौद्ध स्तूप को ध्वनित करता है।

सूर्य और षट्‌कोण प्रतीक नन्द शासकों की आहत मुद्राओं पर मिलता है और वे क्रमशः राजा और कोषाध्यक्ष (जैसे कौटिल्य के 'लक्षणाध्यक्ष' और 'रूपदर्शक') के

टिप्पणी

संकेत हो सकते हैं। भारत को बहुत पहले से ही सिक्कों पर राजकीय परमाधिकार एवं एकाधिकार के महत्व का ज्ञान था। सम्भवतः नन्दों ने बहुत संख्या में सिक्के जारी किए और ये सिक्के नियमित क्रम से जारी होते रहे। वृत्तिसंघ भी सिक्के जारी करते थे। कुछ मामलों में राजा दूसरों को भी सिक्का जारी करने की अनुमति देते थे। कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के सिक्कों का उल्लेख किया है; जैसे

(i) पण : चांदी का सिक्का, जो एक, आधा, पाद (चौथाई) और अर्घ पाद (अष्टमांश) के मान में होता था;

(ii) माषक : तांबे का सिक्का, जो उपयुक्त मानों का होता था, और इसके चतुर्थांश का नाम काकिनी था।

बड़े स्तर पर व्यापार चांदी के पणों में होते थे और अधिकारियों को पणों में वेतन मिलता था। आहत मुद्राएं चांदी और तांबे दोनों की चलती थी। एक टकसाल होती थी तथा इसके लिए एक अधिकारी नियुक्त रहता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि मौर्यकाल में मुद्रामूलक अर्थ–व्यवस्था प्रचलित थी। मौर्यकाल की राजकीय मुद्रा 'पण' थी। कौटिल्य के द्वारा निर्धारित दंडों से सोने और चांदी के मूल्य का ज्ञान होता है। तांबे और चांदी तथा चांदी और सोने के मध्य विनिमय दर समय–समय पर परिवर्तित होती रही।

व्यापारियों और महाजनों के प्राधिकृत संघ भी चांदी के पण जारी करते थे। मनु से ज्ञात होता है कि अर्थदण्ड चुकाने में सोने के छोटे सिक्कों का प्रयोग होता था। सोने के माषक का प्रयोग भी एक अन्य ग्रन्थ में मिलता है। सोने और चांदी के मध्य विनिमय का अनुपात 1रू था और चांदी तथा तांबे के बीच विनिमय दर 1रू 16 या 1 रू 20 थी। गुप्त काल में सोने और चांदी के सिक्के कानूनी मुद्रा थी। सोने के दो प्रकार के सिक्के जारी हुए, एक का वजन इंडोसीथियन दीनार के बराबर था और दूसरे का वजन मनु के विधान के अनुरूप। नासिक गुहा–लेख में सुवर्ण और कार्षापण के मध्य विनिमय की दर 1रू 35 उल्लिखित है। नारद से संकेत मिलता है कि दक्षिण भारत में कार्षापण एक रजत–पण था। सोने और चांदी के बीच विनिमय की दर 1 रू 30 और 1 रू 48 के बीच रही।

मौर्योत्तर युग में मिनान्दर और अपोलोदोतस के अधीन भारतीय यवनों ने बड़े स्तर पर व्यापार किया था और भृगुकच्छ में उनके सिक्के प्राप्त हुए हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि चतुद्रम्म (टेट्राईम) अपेक्षाकृत अधिक प्रचुर हैं और द्रम्म से अधिक प्रचलित भी हैं और इससे यह साबित होता है कि भारत का पश्चिमी दुनिया के साथ व्यापार उन्नति की ओर था। शकों, पल्लवों और कुषाणों ने भी सिक्के चलाये जो मुख्य तौर पर भारतीय यवनों पर आधारित हैं। कुषाणों ने सर्वप्रथम सोने के सिक्के जारी किये।

रोमन और कुषाण दोनों ने अपने टकसाल में सिकन्दरिया से आए कारीगरों की मदद ली थी और यही कारण है कि इन दोनों सम्राटों में सोने के सिक्कों के मानों के विषय में भी इतनी समानता है। कुषाणों ने अपने दीनारों के मानक वजन को अपने शासन काल में प्रचलित चांदी के सिक्कों से मेल बैठाने के लिए सोने और चांदी के तत्कालीन मूल्यानुपात में समायोजित किया। लघु व्यापार वस्तु–विनिमय के माध्यम से होते थे या कुषाणों के तांबे के सिक्कों द्वारा। सातवाहनों ने रगि और पोटिन (घटिया चांदी) के सिक्के निर्मित किये।

टिप्पणी

गुप्त काल में सोने के सिक्के बहुत प्रचलित हुए। गुप्त शासकों की स्वर्ण मुद्रा को दीनार तथा सुवर्ण कहा जाता था। चांदी के सिक्के इस काल में रूपक कहलाते थे। भारत के विभिन्न भागों में अब तक गुप्तकालीन मुद्राओं के अनेक गुप्त संचय प्राप्त हुए हैं। प्राचीन भारत में धन राशि जमा करने का प्रचलित ढंग यही गुप्त संचय (होडिंग) था। मुद्रा विनिमय नियमित रूप से चलता था और इससे लोगों की रोजमर्रा की जरूरतें पूरी होती थीं। मुद्रा का मूल्य तद्गत धातु के समरूप भार पर निर्भर था। पूर्व गुप्तकालीन सिक्कों का प्रतिमान वही था जो उनके उत्तर कुषाण सिक्कों का। स्कन्दगुप्त के शासन के अन्त में सोने के सिक्कों का वजन बढ़ने लगा, किन्तु सोने का हिस्सा घटने लगा। जैसे–जैसे आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी और हूणों के निरंतर आक्रमणों से आर्थिक संकट उत्पन्न होने लगा, वैसे–वैसे सिक्कों में सोने का अंश घटता चला गया।

अपने प्रशासन की आर्थिक दुःस्थिति के प्रतिकार में स्कन्दगुप्त को तो घटिया सिक्का चलाने के शंकास्पद उपाय का भी अवलम्बन करना पड़ा। गुप्त शासकों ने भी चांदी के सिक्के चलाये और उनके वजन एवं रचना क्षत्रपों के सिक्कों से बहुत मिलते थे। गुप्त काल में तांबे के सिक्के भी नियमित मुद्रा के रूप में जारी हुए। साधारण रोजमर्रा का व्यापार कौड़ियों से किया जाता था, जो स्थानीय एवं जनसामान्य स्वीकृत विनिमय–माध्यम थी। मुद्रा के साथ–साथ वस्तु–विनिमय प्रणाली भी प्रचलित थी।

गुप्तोत्तर काल में कश्मीर, थानेश्वर, बंगाल आदि स्थानों के शासकों ने अपने–अपने क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न सिक्के जारी किए। इनमें गुप्तकालीन सिक्कों का प्रभाव भी था। दिन–प्रतिदिन का व्यापार कौड़ियों के माध्यम से होता था। यद्यपि ह्वेनसांग ने सोने और चांदी के सिक्कों को भी प्रचलन में देखा। उस काल में तांबे के सिक्के भी प्रचलित थे। तोरमान की ताम्रमुद्रा प्रसिद्ध है। ह्वेनसांग ने कौड़ी के अतिरिक्त छोटे–छोटे मोतियों को भी विनिमय–माध्यम के रूप में चलते देखा जो कल्हण ने भी देखा था। सेन राजाओं के ताम्रपत्र अभिलेख 'कपर्दकपुराण' (कौड़ी और कार्षापण) का निर्देश है। पाल या सेन वंश के किसी भी राजा की मुद्रा प्राप्त नहीं हुयी है। अन्य वंशों के विभिन्न राजाओं ने अपने–अपने सिक्के जारी किये जिनके आनुपातिक मान निम्नलिखित हैं–

20 कौड़ी = 1 काकिनी

4 काकिनी = 1 ताम्रपण

16 पण = 1 रजतद्रम्म

ये पूर्व–मध्यकाल के मानक भार थे। इस काल की मानक मुद्रा द्रम्म प्रतीत होती है और सियादोनी उत्कीर्ण लेख में चार प्रकार के द्रम्म का उल्लेख है–

(i) पंचीयकद्रम्म,

(ii) विग्रहपाल द्रम्म,

(iii) विग्रहपाल सुलीक द्रम्म,

(iv) श्रीमददिवराह द्रम्म।

'वराहकाय विंशोपक', 'काकिनी वर्त्तक' एवं 'कपर्दक' अन्य ज्ञात प्रकार हैं। मुद्रा के प्रतीक के रूप में कौड़ी का प्रयोग पूर्व काल से ही कश्मीर में तथा भारत में अन्यत्र भी होता था। द्रम्म सोने का और रूपक चांदी का सिक्का होता था।

टिप्पणी

विनिमय के माध्यम और उनके स्थानों में धातु मुद्रा के प्रचलन सामाजिक विकास की अवस्था पर निर्भर करते थे। विनिमय के माध्यम विभिन्न स्थानों में अलग–अलग थे। दीनार एक चालू सिक्का प्रतीत होता है और इसका उल्लेख उत्तर–कालीन स्मृतियों एवं पुराभिलेखों में प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा–प्रणाली भारत के कुछ भागों में ही प्रचलित थी, क्योंकि हम विदेश व्यापार में भी वस्तु–विनिमय प्रचलित पाते हैं। सोने, चांदी और तांबे का सामान्य आनुपातिक मूल्य स्थिर नहीं था, इसमें 16:1; 14:1; 8:1 के मध्य ह्रास–वृद्धि होती थी। सोने और तांबे के मध्य विनिमय–दर 57:1 थी। विनिमय–दर में विभेद सम्बद्ध घातु के स्थानीय विभाजन विभिन्न क्षेत्रों में उपलभ्य मात्रा के अनुसार होता था। 'निदानकथा' में सीसे के कार्षापण का वर्णन है। कौटिल्य ने विहित वजन को परिशुद्धतापूर्वक बनाये रखने पर जोर दिया है। बुद्धघोष के अनुसार 'रूपसूत्र' सिक्का एवं मुद्रा का मूल तत्व है। पतंजलि ने 'रूपतर्क' और कौटिल्य ने 'रूपदर्शक' का वर्णन किया है।

1.3.2 साख एवं बैंकिंग

प्राचीन भारत में बैंकिंग अर्थात् महाजनी का लोगों को ज्ञान था। देशी ढंग की महाजनी भारत में कई शताब्दियों से प्रचलित है। परन्तु इसका स्वरूप वर्तमान यूरोपीय स्वरूप से अलग था। महाजनी का मूल तत्व है साख से काम निकालना। इससे व्यापार और उद्योग बहुत लाभान्वित हुआ है। बैंकिग का मूल तत्व पूंजी की आवश्यकता, पूंजी की उत्पादकता, ब्याज के रूप में पूंजी–संचय को प्रोत्साहन और साख की उपयोगिता था। इनसे प्राचीन भारत के लोग भली–भांति परिचित थे। उधार देना और निक्षेप (जमा) लेना बैंक के मुख्य कार्य हैं। ये दोनों संव्यवहार प्राचीन भारत में दीर्घकाल से दिखाई देते हैं। 'मिताक्षरा' के अनुसार, जो कुछ भी सुरक्षा के लिए महाजन के पास विश्वासार्थ रखा जाता है, वह गिरवी कहलाता है। स्मृतियों में निक्षेपों के ब्याज की विभिन्न प्रकार की दरें भी बताई गई हैं। स्मृतियों में जो निक्षेप सम्बन्धी लेख लिखे गए हैं, उनसे प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति से निक्षेप लेना और उसे ठीक से वापस करना प्रचलित व्यवस्था हो गयी थी। ऋण के जो नियम थे, वही निक्षेप (उपनिधि) पर भी लागू होते थे।

बैंकिंग अर्थात् महाजनी के दो मूल कार्य हैं–(i) ब्याज पर ऋण देना और (ii) सम्पत्ति के निक्षेप (डिपाजिट) के रूप में रखना। महाजनी के ये दोनों कार्य प्राचीन भारत में पाए जाते हैं। ईमानदार महाजन बहुत विश्वसनीय माना जाता था। सम्पत्ति की रक्षा करना मुख्य लक्ष्य होता था। बाजार की प्रबल मांग के फलस्वरूप लेना और देना दोनों ने मिलकर महाजनी अर्थात् बैंकिंग प्रणाली को जन्म दिया। कौटिल्य के अनुसार, उपनिधि (डिपोजिट) के नियम निक्षेप (इनवेस्टमेंट) पर भी लागू होते हैं। निक्षेप के अनेक प्रकार बताए गए हैं–

(i) आधी (खुला निक्षेप) दो प्रकार की है–

(अ) निक्षेप– प्रतिभू के समय उसे वस्तु का स्वरूप और परिमाण दिखाकर की गई उपनिधि।

(ब) न्यास– प्रतिभू के समक्ष परिवार के लोगों के पास की गई उपनिधि।

(ii) औपनिधिक– सीलबंद निक्षेप।

टिप्पणी

(iii) आनवाहित– यह कह कर किया गया निक्षेप कि अमुक व्यक्ति की यह सम्पत्ति मेरे पास थाती की है और यह उसको दे दी जाए।

(iv) याचीतक– काम के लिए तत्काल मांगकर ली गई वस्तु।

(v) शिल्पिन्यास– सुनार आदि के पास निर्माण या मरम्मत के लिए दी गई वस्तु।

(vi) प्रतिन्यास– किसी निक्षेप के बदले किया गया निक्षेप।

वृत्तिसंघ और निगम जो जमा करते थे और व्यापारियों को उधार देते थे, वे भी बैंक का काम करते थे। कौटिल्य ने कहा है–'राजा के गुप्तचर वणिक् का बाना बनाकर निगमों से स्वर्ण–शलाका और स्वर्णमुद्रा उधार लें, ताकि उससे विविध प्रकार की वाणिज्य–वस्तुएं विदेश से मंगाई जा सकें।' उधार लेने और देने का कार्य वणिकों और निर्माणशालाओं से निकटतः सम्बद्ध रहा है और बड़े–बड़े वणिकों को हमेशा बैंक–सुविधा प्राप्त रही है। कालक्रमेण महाजनी अन्य व्यापार का हिस्सा हो गई। निक्षेप व्यापार में लगाये जाते थे और निक्षेप लेना संयुक्त स्टाक कम्पनियों के लिए लाभकारी होता था। इस प्रयास के कारण दलाली से छुटकारा मिल जाता था। प्रौद्योगिक वृत्तिसंघ अच्छे–खासे बैंक हो गए। कौटिल्य ने उन्हें निक्षेप लेने की अनुमति दी है। वृत्तिसंघ खैराती फंडों (पूर्त विन्यासों) के बैंक, न्यासी और कार्य–निष्पादक के रूप में कार्य करते थे। मूल धन स्थायी निक्षेप के रूप में प्राप्त किया जाता था जो कभी वापस नहीं जाता था। ब्याज उस फंड के अधिकारियों को वस्तु के रूप में चुकाया जाता था। गोवर्धन के बुनकरों के एक संघ ने राजा उसवदत्त से धन लिया और उसके ब्याज से नासिक गुहा में रहने वाले बारह भिक्षुओं को बारह कार्षापण की दर से वस्त्र–भत्ता देता रहा। उन्हीं भिक्षुओं की ओर से एक अन्य वृत्ति संघ में नगद ब्याज प्राप्त करने के लिए कुछ धन जमा किया गया। सभी प्राणियों के हित एवं सुख के लिए संघ के भिक्षुओं के लिए तथा सर्व धर्म समान रूप से त्रिरश्मि पर्वत के मठ के निवासियों के लिए दवा की व्यवस्था के लिए, एक उपासक विष्णुदत्त ने वृत्ति संघों के पास अक्षय–निधि स्थापित की। यह विधिवत घोषित किया गया और नगर–भवन के अभिलेखागार की पंजी में दर्ज किया गया।

कुषाण शासक हुविष्क के काल के मथुरा अभिलेख के अनुसार एक धनी व्यक्ति ने एक धर्मदाय (एंडोमेन्ट) स्थापित किया जिससे मिलने वाले ब्याज से प्रतिदिन 100 ब्राह्मणों को तथा निर्दिष्ट संख्या में अनाथों और भूखे लोगों को भोजन कराने की व्यवस्था थी। बैंकिंग करने वाले वृत्तिसंघ अचल सम्पत्ति भी जमा कर लेते थे और इसकी आय से ब्याज देते थे। जुन्नार बौद्ध गुहा अभिलेख में वर्णित है कि बांस के शिल्पियों और ठठेरों के संघों के पास धन–निक्षेप किया गया। नासिक अभिलेख में स्थायी निक्षेप पर ब्याज की दर (जहां कार्षापण जमा नहीं किया गया है) एक सौ पर प्रतिमास एक 'प्रतीक' है, जबकि निक्षेप 2000 कार्षापणों का हो और 100 पर तीन–चौथाई प्रतीक प्रतिमास है, जबकि निक्षेप 1000 कार्षापण का हो, अर्थात् क्रमशः प्रतिवर्ष 12 प्रतिशत और 9 प्रतिशत। मथुरा अभिलेख की दर इससे बहुत अधिक है। दरें स्थानानुसार, कालानुसार तथा बैंक की साख के अनुसार अलग–अलग होती थीं।

वृत्तिसंघों और व्यापारियों का महाजनी व्यापार किसी विशेष स्थान या काल में सीमित नहीं था। गुप्त काल से प्राप्त अभिलेखों में भी इस प्रकार के हितार्थ निक्षेप का वर्णन है, जिसका केवल ब्याज भिक्षुणों की ओर से दान में लगाया जाता था तथा

टिप्पणी

मूलधन बना रहता था। वैशाली में बैंकिंग का विशेष महत्व था। सियदोनि अभिलेख (912 ई०) में कहा गया है कि वणिकों ने एक हजार तीन सौ पचास श्रीमद्वारहद्रम्म (Srimadivarahadramma) मूलधन एक देवता को प्रदान किया, जिसकी जिम्मेदारी शैडिकों (मध्य निर्माताओं) को सौंपी गई। वणिक लोग देश के महाजनों से मूलधन उधार लिया करते थे।

दक्षिण भारत से प्राप्त अभिलेखों में भी इस प्रकार की महाजनी तथा लोकहित के कार्य–कलापों का वर्णन है और यहां ब्याज–दर कुछ अधिक है। दक्षिण भारत में ग्राम–संघ भी धर्मदायों की जिम्मेवारी लेते थे। निक्षेपकर्ता एवं निक्षेपग्रही के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध आवश्यक हैं। निक्षेपकर्ता को कुछ निगरानी रखनी होती है और इसकी पहली बात है प्रत्यय अर्थात् विश्वास। यदि निक्षेप क्षतिग्रस्त हो जाए या खो जाए तो उसकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी। निक्षेपग्रही को उसे सौंपे गए निक्षेप के विषय में अनेक महत्वपूर्ण जिम्मेदारियां उठानी पड़ती थीं। निक्षेपों की भांति गिरवी भी बैंकिंग सुविधाओं की एक मद थीं। गिरवी अनेक प्रकार की होती थी। नारद इसकी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि उसमें गिरवीधारी का स्वत्व होता है। बृहस्पति ने इसे सीधे 'बन्ध' (बन्धक) कहा है। गिरवी उत्पादक एवं अनुत्पादक का लाभकर और अलाभकर, मोचन योग्य एवं अमोचन योग्य, चल और अचल, भोग्य एवं अभोग्य, सावधि और निरवधि, लिखित और गवाहों के सामने जुबानी, अंगीकृत, विनिर्दिष्ट और अविनिर्दिष्ट, आदि होती थी।

मूल्य

शुक्र ने मांग एवं आपूर्ति के सिद्धान्त के आधार पर उपयोगिता के सिद्धान्त को विनिमय–मूल्य का अवधारक बताया है। मूल्य का उद्‌भव उसकी मांग से होता है। उन्होंने मूल्य के कारणों और निर्धारक स्थितियों का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करने का प्रयास किया हैः

(i) मूल्य वस्तु की उपयोगिता पर निर्भर करता है। उपयोगिता न हो तो मूल्य नहीं। जब तक कोई वस्तु किसी व्यक्ति के लिए देय न हो, तब तक वह नहीं बिकेगी। वस्तु का मूल्य उसके भोग में है। अतः उसका विनिमय–मूल्य होता है।

(ii) वस्तु में कोई ऐसा तत्व होना चाहिए कि वह मनुष्य की इच्छा पूरी करे। उसमें यह तत्व रहेगा तो उसका मूल्य होगा, अन्यथा उसका कोई मूल्य नहीं होगा।

(iii) लोग प्रकृति से स्वाभाविक रूप से प्राप्त होने वाली वस्तुओं का मूल्य नहीं देते हैं। यहां शुक्र ने विनियय–मूल्य की बात को स्पष्ट करने के लिए उपयोगिता के सिद्धान्त के साथ दुर्लभता के सिद्धान्त को भी जोड़ दिया है।

(iv) वस्तु के निर्माण में जितना अधिक प्रयास लगेगा उसका उतना अधिक मूल्य होगा।

(v) कभी–कभी दुर्लभता की स्थिति अकेली ही मूल्य नियामक होती है।

बैंक के प्रकार

बैंक अनेक प्रकार के थे–वाणिज्यिक, औद्योगिक, कृषिक और राजकीय। ये सभी बैंक एक पहलू में समान थे, अर्थात् जमा करना और ऋण देना। वाणिज्यिक बैंक

टिप्पणी

वाणिज्य–व्यापार के कार्य में वित्तपोषण करता था। औद्योगिक बैंक उद्योग हेतु वित्त व्यवस्था करता था और औद्योगिक उपक्रमों को ऋण देता था। कृषिक बैंक कृषि के लिए अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण देता था और खेत आदि अचल सम्पत्ति लेता था। वह सम्पदा का प्रबन्धन करता था और आय पर ब्याज निर्धारित करता था। बैंक समाज के लिए बहुत काम का था। वह ऋणदाता एवं ऋणग्राही के बीच संयोजक का कार्य करता था और धन को गतिशील रखता था जिस पर देश का आर्थिक विकास निर्भर था। धन–विनियोग निगम सभा में घोषित किया जाता था। बैंक खैराती या धार्मिक विधियों के न्यासी और कार्य निष्पादक के रूप में भी कार्य करता था। जमा को 'निक्षेप' कहा जाता था। मूलधन स्थायी निक्षेप के रूप में लिया जाता था और ऐसे निक्षेपों पर ब्याज की दर उनके स्वरूप तथा मात्रा पर निर्भर करती थी। सीलबंद जमा को 'उपनिधि' कहा जाता था। कौटिल्य ने ब्याज के निरूपक तीन तत्व बताए हैं–

(i) सामान्य ब्याज–सिद्धान्त

(ii) कारोबारी ब्याज–सिद्धान्त तथा

(ii) जोखिम बीमा ब्याज–सिद्धान्त।

स्मृतियों में ब्याज की विविध दरों का उल्लेख है। मुद्रात्मक ब्याज तीन प्रकार के थे–चक्रवृद्धि, काल–वृद्धि और कारित वृद्धि (करारी)। मनमाना ब्याज लेना निन्दनीय था। कौटिल्य ने निर्धारित से अधिक ब्याज लेने वालों की निन्दा की है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. कृषिमूलक अर्थव्यवस्था में किसका विशेष महत्व है?

(क) बकरी (ख) बैल

(ग) गाय (घ) भैंस

4. कुषाणों ने सर्वप्रथम कौन से सिक्के जारी किए?

(क) सोने (ख) चांदी

(ग) तांबा (घ) कांस्य

1.4 उद्योग–धंधे, व्यापार एवं श्रेणियां

उद्योग–धंधे, व्यापार एवं श्रेणियों को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

1.4.1 उद्योग–धंधे

उद्योग–धन्धों से अभिप्राय मनुष्य द्वारा जीवन–यापन के लिये किये जाने वाले विभिन्न उद्यमों से है। प्रारम्भ में मनुष्य आखेटक–संग्राहक था और पूर्णतः प्राकृतिक वनस्पतियों एवं छोटे जीवों को ग्रहण करके अपना पेट भरता था, किन्तु जैसे–जैसे उसकी कपालीय क्षमता बढ़ी और उसका मस्तिष्क विकसित हुआ, उसने कन्द–मूल आदि को खोदकर प्राप्त करने के लिये तथा पशुओं का शिकार करने के लिये विभिन्न उपकरणों का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में ये उपकरण प्राकृतिक रूप में उपलब्ध लकड़ी के लट्ठे और पत्थर थे, किन्तु कालांतर में उसने इन उपकरणों को अपनी सुविधा के

टिप्पणी

अनुसार आकार देना प्रारम्भ किया। यही अवस्था उद्योग–धन्धों की उत्पत्ति की प्राचीनतम अवस्था थी। भारत में ऐसे बहुत–से पूर्व–पाषाणकालीन उपकरण सोन, नर्मदा, सिरसा, व्यास , बाणगंगा, साबरमती, माही, गोदावरी, कृष्णा, चम्बल, बेलन आदि नदी–घाटियों से प्राप्त हुए हैं। इनमें पेबुल से निर्मित चापर–चापिंग उपकरण तथा फ्लेक एवं कोर पद्धति से बने हैण्डएक्स उपकरण प्रमुख हैं। परवर्ती–पूर्व–पाषाण काल में मनुष्य ने पत्थर के साथ–साथ हड्डी, हाथीदांत और सींग के उपकरणों का निर्माण करना भी सीख लिया था। उसने सुईं की खोज कर ली थी तथा खाल एवं पत्तों से बने वस्त्रों का उपयोग सिलकर करने लगा था। इस काल में धनुष–बाण और हार्पून की खोज ने उसकी शिकार करने की प्रक्रिया को अधिक सुविधाजनक बना दिया था।

मध्य–पाषाणकाल में भी पत्थर के उपकरणों का निर्माण मनुष्य का मुख्य उद्योग था। इस काल के उपकरण बहुत छोटे आकार के हैं। अतः इन्हें माइक्रोलिथ्स (Microliths) कहा जाता है। इन उपकरणों में ब्लेड, प्वाइन्ट, स्क्रेपर, इन्ग्रेवर, ट्रायंगल, क्रेसेन्ट, ट्रैपज आदि प्रमुख हैं। ये उपकरण भारत में जमालगढी (पशावर) से लेकर सायेरपुरम (तिन्नेवेली) एवं करांची से सरायकलां (बिहार) तक पाए गये हैं। इस युग में मनुष्य ने छोटी नौकाओं का और कहीं–कहीं पर मिट्टी के बर्तनों का निर्माण भी प्रारम्भ कर दिया था।

नव–पाषाणकाल प्रागैतिहासिक सभ्यता के चरमोत्कर्ष का युग था। इस युग में मनुष्य न केवल पत्थर के उपकरण बनाता था, बल्कि उसने भाण्डोद्योग एवं वस्त्रोद्योग का विकास भी कर लिया था। इस युग के पाषाण उपकरण पूर्वकालीन उपकरणों की अपेक्षा कहीं अधिक सुंदर और सुडौल हैं। उन्हें घिस कर चिकना और चमकदार बनाया गया है। इन उपकरणों में कुल्हाड़ी, हंसिये, धनुष–बाण, हार्पून, सुईं, तकली, चर्खे, करघे आदि प्रमुख हैं। मृद्भाण्डों में मिट्टी की कटोरियां और मटके प्रमुख हैं। नव–पाषाणकालीन उपकरणों में मिले तकली, चर्खे तथा करघे के अवशेषों से ज्ञात होता है कि इस काल में मनुष्य कातने और बुनने की कला से परिचित था। इस काल में कपास की खेती प्रारम्भ हो चुकी थी तथा वस्त्र–निर्माण के लिये कपास के अतिरिक्त पौधों के रेशों तथा पशुओं के बालों का उपयोग भी किया जाता था।

ताम्र–पाषाण युग में पत्थर और पकी मिट्टी से निर्मित गृहोपयोगी उपकरणों और शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त तांबे से बनी कुल्हाड़ियाँ, चाकू तथा चूड़ियां, अंगूठियाँ, कंगन आदि विभिन्न आभूषण पर्याप्त संख्या में मिले हैं, जो धातु–उद्योग के विकास को दर्शाते हैं। हड़प्पा सभ्यता के स्थलों में हुए उत्खननों से पता चलता है कि इस समय तक भारत में अनेक प्रकार के उद्योग–धन्धों का विकास हो चुका था। इनमें वस्त्रोद्योग, भाण्डोद्योग, आभूषण–उद्योग, खिलौना–उद्योग, शस्त्रोद्योग, ईंट–उद्योग, भवन निर्माण आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त जड़ाऊ आभूषणों तथा पात्रों पर पच्चीकारी करने वाले, कपड़ा रंगने वाले आदि कारीगर भी अवश्य रहे होंगे। वस्त्रोद्योग का ज्ञान तकलियों की प्राप्ति, मूर्तियों की वेशभूषा, मोहनजोदड़ो से मिले कपड़े के टुकड़े अनेक वस्तुओं पर लिपटे सूत के धागों से होता है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त पुजारी की मूर्ति के उत्तरीय पर त्रिपत्र–शैली के अलंकरण को देखकर पता चलता है कि हड़प्पा के लोग छपाई अथवा कढ़ाई की कला में भी कुशल रहे होंगे। इसी प्रकार हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त बहुसंख्यक बर्तन, खिलौने, आभूषण, शस्त्रास्त्र, मनके, पकी मिट्टी की ईंटों से बने भवन आदि उपर्युक्त अन्य विभिन्न उद्योगों की उपस्थिति का ज्ञान कराते हैं। इनके

टिप्पणी

द्वारा बनाए गये स्वर्णाभूषण अति सुंदर होते थे। लोथल से मनकों से बना एक सोने का हार मिला है। ये लोग शंख, सीप, घोंघे, हाथी–दाँत आदि से सुंदर कलाकृतियाँ तथा लकड़ी से कुर्सी, चौकी, तिपाइयाँ आदि भी बनाते थे। हड़प्पा काल में जुलाहे, रंगरेज, कुम्हार, स्वर्णकार, लुहार, बढ़ई, वास्तुकार आदि विभिन्न औद्योगिक कर्मचारियों के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

वैदिक काल में उद्योग–धन्धे बहुत विकसित थे। ऋग्वैदिक–काल में यद्यपि व्यवसायों से संबंधित विभिन्न वंशानुगत जातियों का विकास नहीं हुआ था और लोग अपनी योग्यता एवं इच्छा के अनुसार अपना व्यवसाय स्वयं चुनते थे (ऋग्वेद में एक ऋषि कहता है कि मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं तथा माता अनाज पीसने का कार्य करती हैं)। ऋग्वेद से हमें अनेक प्रकार के लघु–उद्योगों की जानकारी मिलती है। कुछ लोग धातुओं को गलाने तथा उन्हें पीटकर अनेक वस्तुएं बनाते थे। अयस् (तांबा, कांसा, लोहा) नामक धातु से कवच, शिरस्त्राण, बाण, अस्त्र–शस्त्र तथा औजार बनाते थे। सोने का प्रयोग भी काफी होता था इसे 'हिरण्यपिण्ड' कहा गया है। 'निष्क' नामक लोकप्रिय आभूषण सोने का ही बनता था। ऋग्वेद में 'चांदी' का उल्लेख नहीं मिलता है। बढ़ई का व्यवसाय भी उन्नत था। वह विशेष रूप से रथ तथा गाड़ियों का निर्माण करता था। इसके अतिरिक्त वह लकड़ी के दरवाजे, चारपाइयाँ, तख्त आदि भी बनाता था। इस काल में वस्त्र उद्योग भी काफी उन्नत था। ऋग्वेद में जुलाहे को 'वाय' कहा गया है। 'कताई', 'बुनाई', और 'कढ़ाई' का काम अधिकांश स्त्रियाँ करती थीं। उस समय 'चर्म उद्योग' भी काफी प्रचलित था। चमड़े से कोड़े, लगाम, डोरी, थैले आदि बनाए जाते थे। कुम्हार के लिए कुलान और मृत्पच शब्द का प्रयोग होता था। इस काल में कोई भी व्यवसाय छोटा नहीं समझा जाता था तथा सभी की अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा थी।

उत्तर–वैदिक काल तक आते–आते विभिन्न व्यवसायों से संबंधित जातियों का निर्माण हो चुका था। यजुर्वेद में इस प्रकार की 159 जातियों का वर्णन है। इस काल में व्यवसायियों की अनेक जातियाँ निर्धारित हो गयी थीं। अथर्ववेद, तैत्तिरीयसंहिता, वाजसनेयीसंहिता, काठकसंहिता और तैत्तिरीयब्राह्मण में सूत (रथकार), क्षता (चंवरधारी), संग्रहीता (कोषाध्यक्ष), तक्षा (बढ़ई), कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार), निषाद, इषुकृत (बाण–निर्माता), धन्यकृत (धनुष–निर्माता), मिगयु (शिकारी), मागध (भाट), शेलूष (अभिनेता), वप (नाई), मणिकार, अयस्ताप (लुहार), धीवर (मछुए) आदि बहुसंख्यक औद्योगिक कर्मचारियों का वर्णन मिलता है।

पुरातात्विक खोजों से भी पता चलता है कि 1,000 ई. पू. में ताँबे, लोहे और बहुमूल्य पत्थरों से संबंधित उद्योग भारत में अत्यंत लोकप्रिय थे। नावदाटोली, आहाड़, अतिरंजीखेड़ा, हस्तिनापुर, आलमगीरपुर, उज्जैन आदि की खुदाइयों में ताँबे, लोहे आदि के अनेक उपकरण तथा गोमेद, कार्नेलियन, स्फटिक, प्रवाल, सीसा, सीप आदि से निर्मित बहुसंख्यक आभूषण प्राप्त हुए हैं।

सूत्र एवं महाकाव्य–काल में भी उद्योग–धन्धे प्रगति पर थे। कल्पसूत्र में विभिन्न प्रकार के इत्र निर्माताओं का उल्लेख है। उस समय सूती, ऊनी एवं रेशमी वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में नये ब्रह्मचारी को उसी दिन का बुना हुआ वस्त्र पहनाने का नियम दिया गया है। बृहस्पतिस्मृति में सोने, चांदी या अन्य

टिप्पणी

धातुओं के उपकरणों को बनाने वालों का उल्लेख अनेक बार हुआ है। पत्थर के बने चक्की के पाट, खरल, मूसल आदि का उल्लेख भी सूत्र साहित्य में मिलता है। रामायण में नावों, जलयान, रथ एवं वायु रथों की चर्चा की गई है। यहां लकड़हारों के लिये 'वनरूपजीविभिः' शब्द का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त रजक (धोबी), वैद्य, स्वर्णकार, कुम्भकार, मणिकार, दन्तकार (हाथी–दाँत के उपकरण बनाने वाले) आदि का भी महाकाव्यों में उल्लेख मिलता है।

डॉ. कैलाशचन्द्र जैन के अनुसार बौद्ध–ग्रन्थों में प्रमुख व्यवसायों की संख्या प्रायः 18 बताई गई है, किन्तु व्यवहार में इनकी संख्या इससे कहीं अधिक प्रतीत होती है। बौद्ध–जातकों में वस्त्र, काष्ठ, चमड़ा, पत्थर, हाथी–दाँत, आभूषण, मृदभाण्ड, गृह–निर्माण, तेल आदि से संबंधित अनेक व्यवसायों का वर्णन मिलता है। जैन–साहित्य में नन्तिक्ककोलिय (वस्त्र–व्यवसायी), कुम्भकार, रथकार, कम्मार (लोहार) और नापित नाम से पाँच प्रमुख व्यवसायियों का उल्लेख मिलता है। डॉ. जयशंकर मिश्र ने पाणिनि की अष्टाध्यायी में वर्णित शिल्पियों की चर्चा अत्यंत विस्तार के साथ की है। इनमें कारुशिल्पी, कुलाल, तक्षा, धनुष्कार, रजक, स्वर्णकार, तन्तुवाय, चर्मकार, कर्मार, शाकुनिक (चिड़ीमार) आदि के नाम प्रमुख हैं।

मौर्य काल में वस्त्र एवं रंगाई उद्योग अपने विकास की चरम सीमा पर था। इस काल में हस्तकला उद्योग का बहुत विकास हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मौर्यकालीन व्यवसायों एवं औद्योगिक कर्मचारियों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इस काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि समस्त उद्योग–धंधों पर राज्य का नियंत्रण था। मेगस्थनीज ने भी खानों से निकले सोने, चांदी, तांबे और लोहे के बने आभूषणों एवं उपकरणों का उल्लेख किया है। इस युग में विभिन्न व्यवसायों के संचालन के लिये स्वर्णाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, पटवाध्यक्ष, सुराध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, खन्याध्यक्ष आदि विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की गई थी। उद्योग–धन्धों के समुचित संचालन के लिये निर्मित समिति का उल्लेख भी मेगस्थनीज के विवरण में मिलता है। यह समिति शिल्पियों का वेतन निश्चित करती थी, उनके हितों का ध्यान रखती थी और उन्हें हानि पहुँचाने वालों को दण्डित करती थी। अर्थशास्त्र में व्यवसायियों पर नियन्त्रण रखने के लिये बने कण्टकशोधक न्यायालय का उल्लेख हुआ है, जो अपने कार्य में लापरवाही करने वाले व्यवसायियों को दण्डित करता था।

उत्तर–मौर्य काल में भी उद्योग–धन्धे उन्नत अवस्था में थे। सातवाहन समाज में लोग विभिन्न प्रकार के उद्योग–धंधों में लगे हुए थे। पतंजलि के महाभाष्य तथा मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में स्वर्णकार, वर्धकी (बढ़ई), लोहकर्णक (लोहार), कुम्भकार, तिलपिशक (तेली), कांसाकार (काँसे के बर्तन बनाने वाला), मालाकार (माली), बेसकार (बाँस के उपकरण बनाने वाला), धानिक (अनाज–व्यवसायी), धनक (मछुए) आदि व्यवसायियों का विवरण प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त इस काल में बने स्तूप, मंदिर, प्रासाद आदि उस समय के वास्तुकारों की कुशलता को दर्शाते हैं।

गुप्त और वर्धन–काल में उद्योग–धंधों का विकास अपने चरमोत्कर्ष पर था। अमरसिंह द्वारा रचित अमरकोश में कपास, ऊन, रेशम, लिनेन, पेड़ों की छाल, क्षौम, अंशुक आदि से निर्मित वस्त्रों, चमड़े से बने जूते. मशक और पंखों तथा खानों से मिलने वाले विभिन्न रत्नों जैसे– सोना, चांदी, लोहा आदि धातुओं तथा पन्ना, माणिक,

टिप्पणी

मूंगा आदि का उल्लेख हुआ है। बृहत्संहिता में 22 प्रकार की मणियों का उल्लेख है, जो भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त होती थीं। कालिदास के ग्रंथों तथा ह्यूनत्सांग के वृत्तांत से भी ज्ञात होता है कि इस युग में भारत खनिज–सम्पदा और रत्नों से परिपूर्ण था और इनका उपयोग विविध आभूषणों को बनाने तथा वस्त्रों, फर्नीचरों, भवनों, द्वारों आदि को सजाने के लिये किया जाता था। धातुओं और रत्नों के अतिरिक्त हाथी–दाँत के बने उपकरण भी इस युग में अत्यंत लोकप्रिय थे। मत्स्यबन्ध (मछली पकड़ना) का व्यवसाय भी प्रगति पर था। अभिज्ञानशाकुंतलम् में जलोपजीवी मनुष्यों अथवा धीवरों (मछुओं) का वर्णन किया गया है। गुप्तकालीन वास्तु–शिल्पियों एवं कलाकारों की कुशलता गुप्तकाल में निर्मित मंदिरों तथा अजंता, एलोरा, बाघ आदि के गुफा–चित्रों में देखी जा सकती है।

पूर्व–मध्यकाल में पाल, प्रतिहार, परमार, चौहान, राष्ट्रकूट, चालुक्य, चोल व अन्य राजवंशों के शासन काल में उद्योग–धन्धों को भरपूर प्रोत्साहन मिला था। मेधातिथि की टीका और मानसोल्लास में दर्जी, बुनकरों एवं रंगरेजों द्वारा निर्मित कपास, ऊन, रेशम आदि के सुंदर वस्त्रों का उल्लेख हुआ है। इस काल में नागपत्रक, चोल देश, अन्हिलवाड़ा, मुलतान, कलिंग, मालवा और मालाबार वस्त्र–निर्माण के प्रमुख केन्द्र थे। इनके अतिरिक्त इस काल में धातु (विशेषकर लोहा), जवाहरात, वास्तु, जहाज, नाव आदि से संबंधित व्यवसाय भी पूर्ण प्रगति पर थे। ऋषिक, सोपारा, अंग, बंग आदि देश अपनी तलवारों के लिये प्रसिद्ध थे। पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क के मंदिरों में छतों को सहारा देने के लिये लोहे की विशाल धरनियों का प्रयोग किया गया था तथा बर्तन, फर्नीचर एवं मूर्तियों के निर्माण में सोने, चांदी, ताँबे आदि का प्रयोग बहुतायत से किया जाता था। अभिधानरत्नमाला, मानसोल्लास और अग्निपुराण में बहुत–से मणि–माणिक्यों का विवरण है तथा युक्तिकल्पतरु में भोज ने सागौन की लकड़ी से निर्मित विभिन्न प्रकार के जलयानों का उल्लेख किया है।

1.4.2 व्यापार

ऐसा प्रतीत होता है कि नव–पाषाणकालीन गांव आत्मनिर्भर थे। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय क्षेत्रों से ही पूरी कर लेते थे। किंतु शायद कोई भी नवपाषाण समुदाय पूर्णतया आत्मनिर्भर नहीं था। आरम्भिक नवपाषाण स्थलों और कब्रों में ऐसा सामान मिला है जो दूरस्थ स्थानों से आया जैसे कि सीप, जो कि भूमध्यसागर या लाल सागर से लाई गई थी। भारत में व्यापार के सबसे प्राचीन साक्ष्य नव–पाषाण और ताम्र–पाषाण काल के अवशेषों के साथ मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। हरे रंग का पिस्टेसाइट दक्षिण भारत का एक दुर्लभ पत्थर है, जो सभी स्थानों से नहीं मिलता है, किन्तु इसके बने उपकरण दक्षिण भारत में उपलब्धि–स्थान से लगभग 50 मील से भी अधिक दूरी पर स्थित 12 जगहों से प्राप्त हुए हैं। रेमंड आलचिन के अनुसार ये उपकरण अवश्य ही व्यापारियों द्वारा दूर तक ले जाए गए होंगे।

ताम्र–पाषाणकाल में व्यापार का अत्यधिक प्रचलन देखने को मिलता है। लगभग सभी स्थलों पर अतिरिक्त उत्पादन किया जाता था जिसका मुख्य उद्देश्य व्यापार करना था। कुल्ली (दक्षिण बलूचिस्तान) की ताम्रपाषाणकालीन संस्कृति के अवशेषों पर अंकित वनस्पतियों और पशुओं की चित्रण–शैली ईराक व पश्चिमी ईरान की चित्रण–शैली से

टिप्पणी

बहुत मेल खाती है और इन अवशेषों के साथ जैसे बर्तन मिले हैं, ठीक उसी प्रकार के बर्तन पश्चिम एशिया के अनेक भग्नावशेषों से भी प्राप्त हुए हैं। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार इन समानताओं को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि कुल्ली सभ्यता और पश्चिम एशिया की सभ्यताओं में घनिष्ठ संबंध था और इनके व्यापारी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में व्यापार के लिये आया–जाया करते थे।

हड़प्पा संस्कृति में आंतरिक तथा विदेशी दोनों प्रकार का व्यापार प्रचलित था। हमें हड़प्पा स्थलों से 1, 4, 8, 16 के अनुपात में निश्चित तौल के बहुसंख्यक घनाकार बट्टे प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि इस युग में व्यापार अत्यंत उन्नत अवस्था में था। इसके अतिरिक्त हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो से अनेक ऐसी वस्तुएं भी प्राप्त हुयी हैं, जो सुदूर प्रदेशों से लाई गई थीं, जैसे–चांदी, सीसा, सोना आदि अफगानिस्तान से, ताँबा मद्रास और राजपूताना से, मूंगा, मोती, सीपी, शंख आदि काठियावाड़ के समुद्र तट से, देवदार की लकड़ी हिमालय से आदि। इसके अतिरिक्त उत्खनन से कांसे से निर्मित सिक्के और मिट्टी की बैलगाड़ियों के अवशेष तथा मुहरों एवं मृद्भाण्डों पर नौकाओं और छोटे जहाजों के चित्र भी प्राप्त हुए हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि इस काल में थल और जल दोनों मार्गों से दूर–दूर तक व्यापार होता था।

लोथल से पकी मिट्टी का एक जहाज भी मिला है। भारतीयों के व्यापारिक संबंध न केवल आंतरिक प्रदेशों में अपितु सुमेर, मिस्र, अनातोलिया और क्रीट तक विस्तृत थे। इन देशों से ऐसे अनेक उपकरण प्राप्त हुए हैं, जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की मुहरों, मनकों, आभूषणों, बर्तनों आदि से बहुत मिलते–जुलते हैं। इसी प्रकार सुमेर से संगमरमर और स्टेटाइट की मुद्राएं, कार्नेलियन का मनका, भेड़ का खिलौना, बसुलारूपी हथौड़ा आदि तथा मिस्र में निर्मित मक्खी की आकृति का मनका तथा सोने और चांदी के गोल अक्षपट हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से मिले हैं। इस संबंध में डॉ. कैलाशचन्द्र जैन का मानना है कि लोथल, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से पहले वस्तुएं दिलमुन (ईरान की खाड़ी का बहरीन द्वीप) भेजी जाती थीं और वहां से सुमेर, बेबीलोन, मिस्र आदि देशों को। प्रोफेसर चाइल्ड का मानना है कि हड़प्पा सभ्यता के नगरों में निर्मित वस्तुएं दजला तथा फुरात घाटी में बिकती थीं।

कृषि और पशुपालक होते हुए भी आर्य व्यापार और वाणिज्य के प्रति उदासीन नहीं थे। ऋग्वेद में व्यापारियों के लिये 'पणि', 'वणिक', 'वणिज' और 'वाणिज्य' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस समय व्यापार वस्तु–विनिमय प्रणाली के द्वारा होता था। कालांतर में गाय और निष्क विनिमय का प्रमुख माध्यम बन गए। ऋग्वेद में गाय के बदले में इन्द्र की प्रतिमा और सोम के पौधे को खरीदे जाने का वर्णन है। प्रायः पुरस्कार और दक्षिणा भी गाय के रूप में दी जाती थी, किन्तु ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ब्राह्मण को 100 निष्क, एक अन्य स्थान पर एक गायक को 100 निष्क और 100 घोड़े तथा एक ब्राह्मण को 10 हिरण्यपिण्ड देने का उल्लेख मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः मुद्रा के रूप में निष्क (ऋग्वेद में अधिकांश स्थानों पर निष्क का उल्लेख आभूषण–कण्ठहार के रूप में ही मिलता है) और किसी निश्चित तौल या माप के हिरण्यपिण्ड का प्रयोग भी प्रचलित था। ऋग्वेद में क्रय–विक्रय में मोल–भाव का और माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये बैल,

टिप्पणी

घोड़े और ऊँट के काफिलों के प्रयोग का उल्लेख भी मिलता है। सामुद्रिक व्यापार के लिये बड़ी–बड़ी (सौ चप्पू वाली) नावें और जहाज प्रयुक्त होते थे।

ऋग्वेद में 'पणि' नामक व्यापारियों को असुर कहा गया है जो अधिक से अधिक धन अर्जित करने के लिये सामान से लदे अपने जहाजों को दूर–दूर तक ले जाते थे। उनके कठोर एवं लालची स्वभाव की निन्दा की गई है। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार, "सम्भवतः ये पणि फिनीशियन लोग थे, जिन्हें लैटिन भाषा में 'पूनि' कहा जाता था। फिनीशियन लोगों की बस्ती पैलेस्टाइन के समुद्र तट पर थी, जहां से वे सुदूर देशों में व्यापार के लिये आया–जाया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में भारत का पैलेस्टाइन के फिनीशियन (पूनि या पणि) लोगों से व्यापारिक संबंध था।"

उत्तर–वैदिक काल में व्यापार अधिक उन्नत स्थिति में था। अथर्ववेद में वस्त्रों, चादरों, अज–चर्म आदि के विक्रय का वर्णन मिलता है तथा व्यापारी, वन्य पशुओं एवं दस्युओं से रक्षा के लिये इन्द्र की प्रार्थना करते दर्शाए गये हैं। अथर्ववेद से ही ज्ञात होता है कि देश के व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपनी सामग्री को लेकर घूमते थे। वाजसनेयीसंहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में व्यापारियों के लिये 'वणिज' शब्द का प्रयोग मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में श्रेष्ठी शब्द का भी प्रयोग हुआ है। सम्भवतः श्रेष्ठी किसी व्यापारिक संघ का अध्यक्ष होता था। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार हस्तिनापुर, तक्षशिला, अयोध्या आदि कितनी ही समृद्ध नगरियाँ इस युग में स्थापित हो चुकी थीं, जिनमें सम्पन्न श्रेष्ठियों ने पण्यशालाएँ खोली हुयी थीं। निष्क का प्रयोग निश्चत रूप से सिक्के की भाँति किया जाने लगा था। निष्क के अतिरिक्त एक अन्य सिक्का भी इस काल में विनिमय के लिये प्रयुक्त होता था, जिसे 'शतमान' कहते थे। इसका वजन सौ कृष्णल (रत्ती) होता था और यह सोने का बना होता था। सम्भवतः 'पाद' निष्क सिक्के का चौथाई भाग होता था। धन को ऋण पर लेने का रिवाज भी इस काल में विद्यमान था। शतपथ ब्राह्मण में ऋण देने वाले के लिये 'कुसीदी' शब्द का प्रयाग किया गया है। हमें छठी शताब्दी ई.पू. में भारत के व्यापार की विस्तृत जानकारी अष्टाध्यायी तथा विभिन्न बौद्ध–ग्रन्थों से मिलती है। विद्वानों की मान्यता है कि विनिमय के लिये सिक्कों का प्रयोग प्रारम्भ हो चुका था और कार्षापण इस युग का सर्वाधिक प्रचलित सिक्का था। इसके अतिरिक्त निष्क, शतमान, सुवर्ण और धरण नामक सिक्कों का प्रयोग भी किया जाता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में क्रय–विक्रयिक (थोक–व्यापारी), वस्निक (व्यापार में धन लगाने वाला), द्रव्यक (शकटों पर लाद कर माल बेचने वाले), सांस्थनिक (सार्थवाह), प्रास्तारिक (खनिज–व्यापारी), काठिनिक (काष्ठ–व्यापारी), अश्ववाणिज (अश्व–व्यापारी), गोगणिज (गौ–व्यापारी), परमवाणिज अथवा उत्तम वाणिज (श्रेष्ठ व्यापारी) नाम से अनेक व्यापारियों का वर्णन है। अष्टाध्यायी में व्यापारियों को कभी–कभी उनके प्रदेश के नाम पर भी सम्बोधित किया गया है, जैसे– काश्मीर वाणिज, मद्रवाणिज, गांधारवाणिज आदि। यहां दुकान अथवा बाजार के लिये 'आपण' तथा उनमें बिकने वाली वस्तुओं के लिये 'पण्य' अथवा 'पणितव्य' शब्दों का प्रयोग हुआ है।

बौद्ध–ग्रन्थों में रथ, अन्न, तेल, रत्न, आभूषण आदि वस्तुओं के विक्रय के लिये बनी भिन्न–भिन्न वीथियों का उल्लेख हुआ है। अंगुत्तरनिकाय से पता चलता है कि इस युग में भद्रजन माँस, मदिरा, शस्त्रास्त्र और दासों के क्रय–विक्रय के लिये बनी वीथियों में नहीं जाते थे। फेरी लगाकर सामान बेचने का वर्णन भी जातकों में मिलता

टिप्पणी

है। डॉ. जयशंकर मिश्र के अनुसार, "समाज और राज्य में बड़े और समृद्ध व्यापारियों का विशिष्ट और श्रेष्ठ स्थान था। समुदाय के सम्मानित सदस्य को गृहपति, कुटुम्बिक अथवा सेट्टि कहते थे। सेट्टि अपने वर्ग के साथ–साथ राज्य की समृद्धि में भी संलग्न रहता था और कतिपय राजकीय निर्णयों में भागीदार होता था। जातक–ग्रंथों में अधिक धन कमाने के लिये व्यापारियों द्वारा राजकीय अधिकारियों, रक्षकों, प्रतिहारों आदि को रिश्वत देने का उल्लेख भी मिलता है। इस काल में व्यापारियों की सुविधा हेतु बड़े–बड़े राजमार्गों का निर्माण किया गया था। चोर–डाकुओं के भय से व्यापारी इन राजमार्गों पर सार्थवाहों के नेतृत्व में बड़े–बड़े काफिलों के साथ यात्रा करते थे। अनेक बौद्ध ग्रन्थों में व्यापारियों द्वारा व्यापार के लिये समुद्री–यात्रा पर जाने का उल्लेख भी है। इन जातक–ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उस समय जहाज बनाने का व्यवसाय बहुत उन्नत अवस्था में था और समुद्र–यात्रा के लिये बड़ी संख्या में जहाज बनाए जाते थे। इस समय भारत का व्यापारिक संबंध लंका, सुवर्णभूमि, फारस और बेबीलोन तक था। बावेरू जातक के अनुसार बावेस (बेबीलोन) में भारतीय कौवे और मोर नामक पक्षी इन जहाजों के माध्यम से ही पहुंचे थे।

मौर्यकाल में व्यापार एवं वाणिज्य का विकास चरम सीमा पर था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि इस काल में सम्पूर्ण व्यापार राजकीय नियंत्रण में था और इसकी देख–भाल के लिये राज्य की ओर से 'पण्याध्यक्ष' नामक अधिकारी की नियुक्ति की गई थी, जो खानों, राजकीय भूमि और शिल्प–केन्द्रों द्वारा उत्पादित माल के क्रय–विक्रय पर नियंत्रण रखता था। राज्य की व्यापारिक नीति का मुख्य उद्देश्य था कि उसकी आय में अधिकाधिक वृद्धि हो तथा प्रजा को सामान कम से कम मूल्य पर प्राप्त हो। बिना राज्य के आदेश–पत्र के कोई भी व्यापारी अपने व्यापार की शुरुआत नहीं कर सकता था। व्यापारी चुंगी–घर पर वस्तुओं के नाम, कीमत, वजन, गुण आदि की जानकारी अधिकारियों को देने के पश्चात् ही उन्हें बिक्री के लिये निश्चित बाजार में ले जाते थे। बाजार में स्थानीय अधिकारी उन वस्तुओं का भली–भाँति निरीक्षण करके उनकी मुहरबन्दी करता था और तब उनकी बिक्री की आज्ञा देता था। अगर व्यापारी कम तौलता था, मिलावट करता था या निश्चित कीमत से अधिक दाम लेता था, तब उसको कठोर दण्ड दिया जाता था। व्यापार की देख–भाल के लिये राज्य ने गुप्तचरों की नियुक्ति की। असाधारण स्थिति में वस्तुओं के भावों में उतार–चढ़ाव नहीं आने दिया जाता था। ऐसी स्थिति में पण्याध्यक्ष स्वयं वस्तुओं की बिक्री की व्यवस्था करता था। व्यापारी वस्तुओं के मूल्य में स्वयं कोई वृद्धि अथवा कमी नहीं कर सकते थे।

व्यापारियों की सुविधा के लिये मौर्य शासकों ने सड़कों की समुचित व्यवस्था की थी। मार्गों के दोनों ओर छायादार वृक्ष, विश्रामगृह और मीलपत्थर लगवाये थे। चोर–डाकुओं से सुरक्षा की व्यवस्था भी की जाती थी और बदले में व्यापारियों से वर्तनी (सड़क–कर) लिया जाता था। पण्याध्यक्ष विदेशी व्यापार की व्यवस्था भी करता था। व्यापारियों को निर्यात के लिये अनेक सुविधायें प्रदान की जाती थीं। सामुद्रिक व्यापार के लिये नौकाओं और जलपोतों की सहायता ली जाती थी। समुद्री मार्ग पर आने–जाने वाले जहाजों को प्रवहण कहा जाता था। बंदरगाहों और जहाजों की व्यवस्था को देखने के लिये राज्य ने नवाध्यक्ष नामक अधिकारी की नियुक्ति की थी। मौर्य काल में भारत के सीरिया, चीन, जापान, रोम, मिस्र, लंका, बर्मा तथा ईरान आदि देशों के साथ अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे।

टिप्पणी

दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में मौर्य साम्राज्य के पतन से भारतीय व्यापार को गहरा आघात लगा। भारत में बहुत–से छोटे–छोटे राज्य स्थापित हो गये और व्यापारिक मार्गों पर एक से अधिक राज्यों का आधिपत्य स्थापित हो गया। इस कारण व्यापार में अनेक बाधाएं आने लगी। यूनानी, शक, पार्थियन आदि विदेशियों के निरंतर आक्रमणों ने भी भारत के व्यापार को बहुत हानि पहुंचाई। ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में भारत के दक्षिण में सातवाहन वंश तथा उत्तर में कुषाण वंश का शासन था। इस समय रोम के साथ भारत का व्यापार बहुत समृद्ध हुआ। हिप्पालस नामक एक यूनानी यात्री ने हिन्द महासागर में चलने वाली मानसूनी हवाओं का पता लगाया, जिनकी सहायता से तीन मास से कम समय में जहाज मिस्र से भारत पहुँच सकता था, जबकि पहले एक साल तक लग जाता था। इस अनुसंधान से सामुद्रिक व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस काल में भारत मध्य–एशिया और पश्चिमी देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख केन्द्र बन गया था। चीन से ईरान और पश्चिम एशिया तक जाने वाले रेशम के व्यापार पर भारत का पूर्ण नियन्त्रण था। वह चीन से रेशम खरीद कर रोम को निर्यात करता था। इसके अतिरिक्त भारतीय मसाले, मोती, मलमल, हाथी–दांत की वस्तुएं, औषधियां, चन्दन, इत्र आदि भी प्रचुर मात्रा में रोम पहुंचते थे और बदले में रोम से प्रति सोना भारत में आयात होता था। इस समय भारत के व्यापारिक संबंध न केवल रोम से बल्कि चीन, बर्मा, जावा, सुमात्रा, यूनान और बैक्ट्रिया से भी थे। दूसरी शताब्दी ई. पू. में चीन का एक सिक्का मैसूर से प्राप्त हुआ है तथा मिलिन्दपञ्ह और पेरिप्लस नामक ग्रंथों में भारतीय जहाजों की स्वर्णभूमि–यात्रा का वर्णन है। भड़ौच, सोपारा, कल्याण, मुचिरिपत्तनम, नीलकण्ठ आदि इस काल के प्रमुख बन्दरगाह थे। इन बन्दरगाहों से मसाले, मलमल, चन्दन, सागौन, आबनूस आदि की लकड़ी, नीलम, हीरा, आदि रत्न व अन्य वस्तुएं विदेशों को निर्यात की जाती थीं और वहाँ से सोना, चांदी, ताँबा, टिन, जस्ता, खजूर, मदिरा, मोती आदि का आयात किया जाता था।

गुप्तकाल में भारत का आंतरिक व्यापार बहुत उन्नत अवस्था में था। इस काल में प्रचलित शांति और समृद्धि ने अंतर–प्रांतीय और अंतर–राज्य व्यापार को एक महान प्रोत्साहन दिया। इस काल में बड़ी संख्या में स्वर्ण मुद्राओं का मिलना भारत की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति को इंगित करता है। इस काल में भडौच, उज्जयिनी, प्रयाग, बनारस, पाटलिपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्ति, प्रतिष्ठान, विदिशा, मथुरा, अहिच्छत्र, कौशाम्बी, इंद्रप्रस्थ आदि नगर व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। सभी नगर चौड़ी सड़कों के माध्यम से जुड़े हुए थे। इनके अतिरिक्त गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों के द्वारा भी व्यापार होता था। बाजार को 'विपणि' कहा जाता था और दुकानें सड़क के दोनों ओर लगा करती थीं। व्यापारियों का समूह 'सार्थवाह' के नेतृत्व में अपना माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता था। इसके बावजूद डाकुओं का भय सदैव बना रहता था। अतः व्यापारी अपना माल तीन, चार गुना अधिक मूल्य पर बेचते थे। कुछ विद्वानों का मानना है कि गुप्तकाल में विदेशों के साथ भारत का व्यापार घट गया था, किन्तु यह विचार उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि रोम के सम्राटों, के सिक्के भारत में प्राप्त हुए हैं और बाइजेन्टाइन के चिकित्सा–संबंधी ग्रंथों में भारतीय मसालों का तथा जस्टीनियन लॉ डाइजेस्ट में भारत से लायी गयी सामग्री का वर्णन मिलता है। इस काल में भारत के पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति तथा पश्चिम तट पर भड़ौच भारत के प्रमुख बन्दरगाह थे और भारत का व्यापार चीन, जावा, सुमात्रा और लंका के साथ

टिप्पणी

बहुत प्रगति पर था। भारत के व्यापारी हीरे, जवाहरात, मसाले, हाथी–दाँत, चन्दन, केसर, इत्र आदि का निर्यात करते थे और घोड़े, चांदी, सोना, ताँबा आदि इन देशों से आयात करते थे। इस युग के प्रमुख बंदरगाह ताम्रलिप्ति, कल्याण, कावेरीपत्तनम, कोट्टयम मुजिरिस् आदि थे।

भारत में पूर्व–मध्यकाल में व्यापार पर मुख्यतः वैश्यों का वर्चस्व था। ह्यूनत्सांग ने कपिशा का वर्णन करते हुए लिखा है कि भारत के प्रत्येक कोने से व्यापारी वहाँ दैनिक उपयोग की वस्तुएं पहुंचाते थे और ये व्यापारी पश्चिमी देशों को भी जाते थे। इस समय पूर्वी भारत में ताम्रलिप्ति और पश्चिमी भारत में भड़ौच सुप्रसिद्ध व्यापारिक बंदरगाह थे। अल्बरूनी के विवरण से पता चलता है कि राजपूत–काल में भी व्यापार जल और थल, दोनों मार्गों से होता था। भारत का व्यापार अरब, फारस, मिस्र, चीन, सुवर्णद्वीप आदि से चल रहा था, किन्तु निरन्तर होने वाले आंतरिक संघर्षों ने विदेशी व्यापार को कुछ दुर्बल अवश्य कर दिया था, जिसका संकेत 8 वीं से 10 वीं शताब्दी में भारत में सिक्कों के घोर अभाव से मिलता है। इस समय की सामंती व्यवस्था के कारण आंतरिक व्यापार भी बाधित होने लगा था। चोर–डाकुओं तथा विशाल करों के कारण व्यापार की प्रगति धीमी पड़ गई थी, फिर भी चौहान, परमार, चन्देल, राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव और चोल–वंश के कुछ प्रतापी राजा व्यापार के विकास में विशेष रुचि लेते दिखाई पड़ते हैं। भोज परमार के युक्तिकल्पतरु नामक ग्रंथ में विभिन्न प्रकार के व्यापारिक जहाजों का वर्णन है। प्रबन्धकोश में व्यापारियों की सुरक्षा के लिये राज्य की ओर से किये जाने वाले प्रबन्धों का उल्लेख मिलता है। गहड़वाल, कल्चुरि, चंदेल और चाहमान नरेशों के बहुसंख्य सिक्कों की उपलब्धि ग्यारहवीं श. ई. में एक बार फिर व्यापारिक प्रगति की ओर संकेत करती है। मार्कोपोलो और चाऊ–जू–कुआ के विवरणों से ज्ञात होता है कि 11वीं शताब्दी में अरब और चीन के साथ भारत का व्यापार एक बार फिर बहुत बढ़ गया था। इस समय कोलम, महाबलीपुरम, पुरी, कलिंगपट्टम, कावेरीपट्टन, रामेश्वरम् आदि बड़े व्यापारिक बंदरगाह थे, जहां से जहाज चीन, दक्षिण–पूर्वी एशिया, फारस, सुवर्ण द्वीप आदि के लिये आया–जाया करते थे। इस समय विविध मसाले, चंदन, कपूर, मोती, जायफल, कस्तूरी, मलमल, हाथी दांत की वस्तुएं आदि का निर्यात किया जाता था तथा घोड़े, तांबा, चांदी, सोना, रेशम आदि प्रचुर मात्रा में विदेशों से आयत किया जाता था।

1.4.3 श्रेणियां

राज्य के साथ–साथ अन्य तत्वों ने मूल्यों एवं कार्यों के स्तरों का नियन्त्रण करने में बहुत सहयोग दिया। श्रेणी ऐसे लोगों के निकाय को कहा गया है जो भले ही अलग–अलग जाति के हों या एक ही जाति के किन्तु एक ही व्यापार या उद्योग में लगे हों। इसे वणिकों, महाजनों और नर्तकों का संघ भी कहा गया है। यह एक रूप में उद्योग तथा वाणिज्य का संगठन था जिसने भारत की अर्थ–व्यवस्था में उतना ही महत्वपूर्ण कार्य किया जितना इसने किसी प्राचीन अथवा मध्ययुगीन अन्य सभ्यता की अर्थव्यवस्था में किया।

प्राचीन भारत में आर्थिक संघ या संगठनों की उत्पत्ति के बारे में प्राचीन स्रोत एवं ऋग्वेद से हमें अधिक जानकारी नहीं मिलती है। ऋग्वेद में हमें 'गण' तथा 'वात'

टिप्पणी

शब्द मिलता है। ऐसा माना जाता है कि ये व्यापारिक संघों के नाम रहे होंगे। इस बात का संकेत मिलता है कि उत्तर वैदिक काल में वणिकों तथा व्यापारियों ने संघ बनाने आरम्भ कर दिये थे।। विभिन्न ग्रन्थों में 'श्रेष्ठी' शब्द मिलता है। संभवतः श्रेष्ठी संघ का अध्यक्ष होता था। वाणिज्य, व्यवसाय तथा कृषि कर्म में वैश्य सम्मिलित थे अर्थात् यह वैश्यों का उत्तरदायित्व था। ऐसी स्थिति में वैश्यों ने विभिन्न आर्थिक कर्मानुसार अपने लक्ष्य की पूर्ति तथा रक्षा के लिये आर्थिक संघों का विकास अवश्य ही कर लिया होगा। इस काल में 'श्रेष्ठी' के साथ–साथ 'गण' तथा 'गणपति' शब्द भी हमें मिलते हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन संगठनों को राजकीय मान्यता भी प्राप्त हो चुकी थी। आर्थिक संगठनों के भी अपने स्वतन्त्र नियम थे। ऐसा माना जाता है कि उस समय तक आर्थिक संघों का जन्म हो चुका था। पाणिनि द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' से ज्ञात होता है कि अनेक शिल्पकारों के साथ–साथ वेतन प्राप्त करने वाले (उपभोग करने वाले) कर्मचारियों के भी संगठनों का निर्माण हो चुका था।

आर्थिक संघ के निर्माण के लिये प्राचीन भारत की परिस्थितियाँ विशेष रूप से अनुकूल थीं। उद्योग–धन्धों की उन्नति के लिए उन दिनों कुटुम्ब, गांव तथा गण के रूप में संघों की स्थापना करना अपेक्षित हो जाता था। इन्हीं संघों से आर्थिक संघों के संवर्धन के लिये यथोचित सुविधायें मिल सकती थीं।

प्रस्तर युग के आदिवासियों के संघ का परिचय उनके औजारों के कारखानों से प्राप्त होता है। परवर्ती युग में हड़प्पा सभ्यता के लोगों के द्वारा निर्मित वस्तुओं के देखने से पता चलता है कि उनकी समरूपता नियत करने वाली कोई गण–संस्था होगी, जो सरकार की अध्यक्षता में कार्य करती होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की बहुत–सी आर्येतर जातियां अपना जत्था बनाकर रहती थीं। प्रत्येक जत्थे का अपना एक व्यवसाय होता था। उस पूरे जत्थे की शासन–व्यवस्था पंचायती पद्धति से चलती थी। ऐसे औद्योगिक जत्थों के नाम संघ, श्रेणी, निगम, गण आदि मिलते हैं। कालान्तर में इन्हीं की अलग–अलग जातियाँ बन गई जो आज तक विद्यमान हैं।

ऋग्वेद में संघ–संस्था की स्थापना का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में गण के पति गणपति का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में वैश्यों के गण की चर्चा मिलती है। वैश्य समाज में उस समय गण बना लेने का प्रचलन विशेष रूप से था। सम्भवतः वैदिक काल में श्रेणी (सेठ) लोग गणों के प्रधान होते थे।

वैदिक काल में प्रत्येक जाति का अपना कोई न कोई व्यक्तिगत व्यवसाय था और उसी व्यवसाय के नाते उस जाति के सभी लोग आरम्भ में सम्बद्ध हुये थे। प्रत्येक जाति की एक परिषद् बनती थी, जो उस जाति में शान्ति और सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा करने के लिये नियम बनाती थी। उस काल में प्रत्येक व्यवसाय के लिये स्थान–स्थान पर ऐसी परिषद बन गई होंगी।

बौद्ध काल में प्रायः दो प्रकार के आर्थिक संघों का उल्लेख मिलता है–व्यापारिक तथा शिल्पिक। व्यापारिक संघों की स्थापना जेट्टक (प्रमुख) की अध्यक्षता में होती थी। शिल्पिक संघ तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ आचार्यों की अध्यक्षता में अपने–अपने शिल्प की व्यक्तिगत विशेषताओं की परम्पराओं को अक्षुण्ण रखते हुए चलते थे। शिल्पियों के व्यवसाय के अनुसार 18 प्रकार के प्रख्यात संघ होते थे। साझे में काम करने वालों को बराबर मूलधन लगाना पड़ता था और ऐसी परिस्थिति में उनको लाभ भी समान

ही बांट लेने का नियम था। यदि कोई बेईमानी करके अधिक लाभ चाहता था तो उसे भी रोकने का उपचार किया जाता था।

टिप्पणी

सूत्र युग में आर्थिक संघों के संचालन–सम्बन्धी विधानों का उल्लेख मिलता है। संघ संचालन करने के लिए नियम बनाने में कृषक, व्यापारी, पशुपालक, ऋण–दाता तथा अन्य उद्योग–धन्धों में लगे हुए लोग व्यस्त रहते थे। संघों के विधान केवल शासन सम्बन्धी ही नहीं थे, अपितु संघ के सांस्कृतिक विकास की दशा का निर्देशन भी इनके द्वारा हो सकता था। इस युग में संघ, गण, और सेणी (श्रेणी) को अपने सदस्यों पर कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हो चुके थे, जो साधारण प्रजा पर राजा का होता था।

महाकाव्य काल में रामायण तथा महाभारत में निगम, गण और श्रेणी आर्थिक संघों के नाम मिलते हैं। श्रेणी के मुखिया को राजा के प्रत्येक उत्सव में स्थान मिलता है। रामायण में केवटों के एक संघ का वर्णन मिलता है जिसका नेता राजा गृहवीर था। महाभारत में श्रेणी की सेना के उल्लेख मिलते हैं। श्रेणी के नियमों के विरुद्ध आचरण करना पाप माना गया है।

मौर्य काल में गणना–विभाग का अध्यक्ष आर्थिक संघों के धर्म, व्यवहार, चरित्र और संस्थान का लेखा जोखा रखता था। संघों का धन कुछ विश्वसनीय नागरिकों के पास जमा रहता था और आवश्यकता पड़ने पर उसे लिया जाता था। राजधानी में श्रेणियों के मुहल्ले में 'श्रेणीबद्ध' व्यवसायियों के लिए विशेष रूप से स्थान निश्चित था। अर्थशास्त्र में संघ बनाकर कार्य करने वाले श्रमिकों का नाम 'संघमृत' मिलता है। यज्ञ के पुरोहितों के संघ में भी अनुशासन था। यदि यज्ञ के दौरान किसी पुरोहित की मृत्यु हो जाती तो उसके उत्तराधिकारी को उसकी दक्षिणा का 1/5 भाग ही मिलता था। इस काल में आर्थिक संघों की शक्ति में वृद्धि हो गई थी।

तत्कालीन साहित्य में स्वर्णकार, चित्रकार तथा रजकों के संघों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अन्य आर्थिक संघ कुम्हार, पटेल, माली, काछी, सूपकार, गन्धिक, नाई, चमार, तेली, खिम्पाप (छींट बनाने वाले), गछिय (गमले बनाने वाले), फैसरे, दर्जी, मील, धीवर व अन्य थे। राजा की न्याय–विधि में संघों की इच्छा के अनुसार परिवर्तन हो सकता था। व्यापारिक संघों का नेता कुशल और शस्त्रधर शासक होता था। उसकी नियुक्ति राजा की ओर से होती थी। संघ के प्रमुख व्यक्ति की उपाधि 'सेठ' थी।

कुषाण काल के शिलालेखों में उस युग के कुछ आर्थिक एवं व्यावसायिक संघों के विवरण मिलते हैं। उस समय गन्धिकों के असंख्य संघ बने हुए थे। व्यापारिक संघों के नेताओं की उपाधि 'सार्थवाह' प्रचलित थी। हुविष्क के राज्यकाल में बदकशाँ से एक मध्य एशियाई सरदार मथुरा आया और उसने केवल ब्राह्मणों के लिए ही 550 पुराणों की धनराशि दो विभिन्न श्रेणियों के पास जमा कर दी।

गुप्तकाल में व्यापारिक संगठनों की संख्या व क्षेत्र में वृद्धि हो गयी थी। वैशाली से मिली मुहरों से श्रेणी–संगठनों के अस्तित्व का बोध होता है। बसाढ़ उत्खनन से महाजनों, व्यापारियों और सार्थवाह के संयुक्त वृत्तिसंघ की 274 मुहरें प्राप्त हुयी हैं। इन पर महाजनों, व्यापारियों तथा वणिकों के निगम या संघों के निर्देश अंकित हैं। इन लेखों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वणिकों और शिल्पियों के संघ व्यापार के लिए बनाये गये थे। स्कंदगुप्त के 465 ई. के इंदौर ताम्रपत्र में इन्द्रपुर की तैलिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है। इसमें धन जमा कराया जाता था जिसके ब्याज से सूर्य मंदिर में

टिप्पणी

दीपक जलाने हेतु तेल की व्यवस्था की गई थी। गुप्तकाल में तमोलियों की श्रेणियों का भी वर्णन मिलता है। इस युग में श्रेणियाँ स्वतंत्र इकाइयों के रूप में गतिशील बनी रहीं। इनके नियमों को राजा मान्यता प्रदान करता था। नारद के अनुसार राजा को श्रेणियों के नियमों को मान्यता प्रदान करनी चाहिये। संगठन में फूट डालने वाले को कठोर दण्ड देना चाहिए।

सम्भवतः आर्थिक संघों के कुछ न्यायालय साधारण प्रजा के विवादों पर निर्णय करते थे। यद्यपि तत्कालीन आर्थिक संघों को राजा उन्नति के पथ पर बढ़ाने के लिए समुचित प्रयत्न करता था पर वह ध्यान रखता था कि कोई संघ व्यवसाय से अलग होकर कहीं अपनी ही हानि न कर बैठे।

गुप्तकालीन साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय शिल्पियों के संघ नगर निर्माण का कार्य करते थे। ये संघ स्थपतियों के रहे होंगे। एक जाति के कारू और शिल्पियों के सम्मिलित होकर श्रेणी बनाने के विधान का उल्लेख अमरकोष से मिलता है। श्रेणी के प्रधान को 'कुलक' और 'कुलश्रेष्ठी' कहा जाता था। 7वीं शताब्दी के व्यावसायिक संघों का उल्लेख बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में मिलता है।

बाणभट्ट एवं ह्यूनत्सांग के विवरण से पता चलता है कि हर्षवर्धन के शासनकाल में आर्थिक संघ थे, जो उद्योग श्रेणियों, व्यापारियों, बैंकों, श्रमिक संगठनों तथा ठेकेदारों के संघ थे। राजपूत काल में आर्थिक जीवन, व्यवसाय तथा पेशे के अनुसार संगठित था। समान कार्य करने वालों ने अपने हितों की रक्षा करने के लिये श्रेणियों एवं निकायों का गठन कर लिया था। ये निकाय व्यापार–व्यवसाय के लिये बैंकों की तरह कार्य करते थे। राजपूत काल के आर्थिक संघ अधिक शक्तिशाली हो गये थे और प्रायः वे राजनीति में भी हस्तक्षेप किया करते थे।

प्राचीन भारत में आर्थिक संघों ने एक ओर अपने आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति की तो दूसरी ओर व्यक्तिगत श्रेणियों तथा निकायों को सहकारिता की भावना सिखाई। इन संघों के कारण उत्पादन पर नियंत्रण रहा, वस्तुओं के मूल्य भी स्थिर रहे। यद्यपि आर्थिक संघ अपने संगठन तथा कार्य प्रणाली में स्वतन्त्र थे, तथापि वे राज्य की राजनीतिक सत्ता पर आर्थिक दबाव डालने में असमर्थ थे। परन्तु प्राचीन भारत में ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है कि जब आर्थिक संघ ने राज्य सत्ता को चुनौती दी हो।

पूर्व–मध्यकाल में आर्थिक श्रेणियों ने तत्कालीन आर्थिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाई हैं तथा ये आर्थिक श्रेणियाँ बहु–कार्यात्मक संगठनों के रूप में कार्य करने लगीं। यहीं नहीं, आर्थिक श्रेणियाँ 'ट्रेड यूनियन' का कार्य भी करने लगीं। आर्थिक श्रेणियों ने मूल्यों पर नियन्त्रण करने का भी कार्य किया। अब व्यवसाय विशेष से सम्बन्धित श्रेणी उद्यम के कौशल तथा उत्पादन की गुणात्मकता पर ध्यान देती थी। राज्य और समाज की अर्थव्यवस्था में भी आर्थिक श्रेणियाँ सहायक होती थीं तथा नये व्यवसायियों की भी यथासम्भव सहायता इन श्रेणियों द्वारा की जाती थी। राज्य अथवा समाज के आर्थिक हितों पर आघात पहुंचने की सम्भावना पर ही राज्य श्रेणियों के कार्य में हस्तक्षेप करता था, अन्यथा राज्य श्रेणियों के स्वायत्त अधिकारों का सम्मान करता था। 10 वीं शताब्दी तक उत्तर भारत में आर्थिक श्रेणियाँ बैंकों के रूप में कार्य करती थीं। 912 ई० के सियादोनी उत्कीर्ण लेख में नागक नामक व्यक्ति द्वारा मदिरा बनाने वालों के पास 1350 श्री मदादिवराद्रम्मों नामक मुद्राओं के निवेश

टिप्पणी

का वर्णन मिलता है। 9वीं तथा 10वीं शताब्दी के दक्षिण भारतीय अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ग्राम सभाएं धार्मिक कार्यों के लिये धन और भूमि को न्यास के रूप में लेती थीं। इसी प्रकार प्राचीन भारत की ग्राम सभाएं भी बैंकों तथा सार्वजनिक न्यासों के रूप में कार्य करने लगी थीं। निःसन्देह प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में आर्थिक श्रेणियों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था। भारत की स्वायत्त जन–संस्थाओं में आर्थिक श्रेणियाँ अत्यंत महत्वपूर्ण थीं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. किस पाषाण काल में पत्थर के उपकरणों का निर्माण मनुष्य का मुख्य उद्योग था?

   (क) पुरापाषाण काल (ख) उत्तर पाषाण काल

   (ग) नव पाषाण काल (घ) मध्य पाषाण काल

6. किस ई. में स्कंदगुप्त के इंदौर ताम्रपात्र में इंद्रपुर की तैलिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है?

   (क) 450 ई. (ख) 455 ई.

   (ग) 460 ई. (घ) 465 ई.

7. किस शताब्दी के व्यावसायिक संघों का उल्लेख बाणभट्ट के हर्षचरित में मिलता है?

   (क) 5वीं शताब्दी (ख) 7वीं शताब्दी

   (ग) 9वीं शताब्दी (घ) 11वीं शताब्दी

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ख)
3. (ग)
4. (क)
5. (घ)
6. (घ)
7. (ख)

1.6 सारांश

नवपाषाण काल में मनुष्य ने कृषि करना आरम्भ किया। भारत में मेहरगढ़ से कृषि के सबसे प्राचीन साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, जिनमें जौ और गेहूं की फसलें शामिल हैं, किन्तु यह क्षेत्र अब पाकिस्तान की सीमा में आता है। सिन्धु घाटी के लोगों का मुख्य व्यवसाय भी कृषि करना था। लोथल नामक स्थान से चावल की खेती के साक्ष्य मिले हैं।

टिप्पणी

चोलिस्तान तथा बनावली से मिट्टी के बने हल के प्रतिरूप प्राप्त हुए हैं। कालीबंगा (राजस्थान) से जुते हुए खेत के साक्ष्य मिले हैं।

मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था का भी मुख्य आधार कृषि थी जो हल और बैलों द्वारा की जाती थी। उस समय कृषि पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर थी, फिर भी शासक खेतों की सिंचाई के लिये कुएं, तालाब, बांध, झील आदि बनवाने में विशेष रुचि लेते थे। चंद्रगुप्त मौर्य ने सुदर्शन झील का निर्माण प्रारम्भ करवाया था। गुप्त काल में अधिकांश लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि करना था। कृषि उन्नत अवस्था में थी। कृषि हल और बैलों द्वारा की जाती थी। हालांकि कृषि वर्षा पर निर्भर थी, इसके बावजूद, सिंचाई खेतों की नहरों, तालाबों तथा झीलों से भी की जाती थी। सम्राट स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र (काठियावाड़) में सुदर्शन झील का पुनः निर्माण कराया, जिससे किसानों को बहुत लाभ हुआ।

पूर्व–मध्यकालीन साहित्य में उस समय की कृषि–व्यवस्था से संबंधित विस्तृत विवरण मिलते हैं। इस काल में चावल, सरसों, कोदव, कालीमिर्च, प्रियंग, जतिल निवार, विविध दालों, ईख, कपूर आदि की खेती की जाती थी। परमार, चौहान और चोल वंश के शासक सिंचाई का बहुत ध्यान रखते थे और समय–समय पर कुओं, तालाबों, नहर, बाँध, झील, आदि का निर्माण करवाते रहते थे। भारतीय संदर्भ में 'सामंतवाद' की पहली अस्मिता कर्नल जेम्स टॉड के हाथों हुयी। उन्होंने राजस्थान के इतिहास का संकलन किया और उसमें माना कि राजस्थान में भी यूरोपीय सामंतवादी व्यवस्थाएं और संबंध दृष्टिगोचर है।

वैदिक काल में व्यापार मुख्यतः वस्तु–विनिमय प्रणाली के द्वारा होता था, किन्तु आदिम रूप में सिक्के (जैसे निष्क) भी कुछ–कुछ प्रचलित थे। लोगों ने सोने, चांदी और तांबे की प्रचुर मात्रा में उपलब्धता के कारण अपने सामाजिक–आर्थिक जीवन के सार को काफी समुन्नत किया और किसी–न–किसी ढांचे का मुद्रात्मक लेन–देन का विकास किया। छठी शताब्दी ई.पू. तक आते–आते धातु–मुद्रा अधिक प्रचलन में आ गयी थी और हथौड़े से पीटकर बनाईं धातु की चादरों को आयताकार या गोलाकार काटकर सिक्कों का निर्माण किया जाने लगा। ऐसी धातुओं के ऊपर ठप्पे ठोक कर प्रतीक चिह्न लगाए जाते थे इसीलिए इसका नाम 'आहत मुद्रा' रखा गया। बौद्ध ग्रन्थों में एक सिक्के के अर्थ में कार्षापण का उल्लेख है। बौद्ध आचार्यों को सोने, चांदी, कांसे और तांबे के सिक्के ज्ञात थे और ये सिक्के हैं कंस, पाद, मासक, काकणिक, कार्षापण प्रादि और इनके मूल्य स्थान और काल अनुसार अलग–अलग थे। भारत को बहुत पहले से ही सिक्कों पर राजकीय परमाधिकार एवं एकाधिकार के महत्त्व का ज्ञान था।

व्यापारियों और महाजनों के प्राधिकृत संघ भी चांदी के पण जारी करते थे। मौर्योत्तर युग में मिनान्दर और अपोलोदोतस के अधीन भारतीय यवनों ने बड़े स्तर पर व्यापार किया था और भृगुकच्छ में उनके सिक्के प्राप्त हुए हैं। शकों, पल्लवों और कुषाणों ने भी सिक्के चलाये जो मुख्य तौर पर भारतीय यवनों पर आधारित हैं। कुषाणों ने सर्वप्रथम सोने के सिक्के जारी किये। सातवाहनों ने रगि और पोटिन (घटिया चांदी) के सिक्के निर्मित किये। गुप्त काल में सोने के सिक्के बहुत प्रचलित हुए। गुप्त शासकों की स्वर्ण मुद्रा को दीनार तथा सुवर्ण कहा जाता था। चांदी के सिक्के इस काल में रूपक कहलाते थे।

टिप्पणी

प्राचीन भारत में बैंकिंग अर्थात् महाजनी का लोगों को ज्ञान था। देशी ढंग की महाजनी भारत में कई शताब्दियों से प्रचलित है। स्मृतियों में निक्षेपों के ब्याज की विभिन्न प्रकार की दरें भी बताई गई हैं। निक्षेप के अनेक प्रकार बताए गए हैं। वृत्तिसंघ और निगम जो जमा करते थे और व्यापारियों को उधार देते थे, वे भी बैंक का काम करते थे। वृत्तिसंघ खैराती फंडों (पूर्त विन्यासों) के बैंक, न्यासी और कार्य–निष्पादक के रूप में कार्य करते थे। दक्षिण भारत से प्राप्त अभिलेखों में भी इस प्रकार की महाजनी तथा लोकहित के कार्य–कलापों का वर्णन है और यहां ब्याज–दर कुछ अधिक है।

शुक्र ने मांग एवं आपूर्ति के सिद्धान्त के आधार पर उपयोगिता के सिद्धान्त को विनिमय–मूल्य का अवधारक बताया है। मूल्य का उद्‌भव उसकी मांग से होता है। बैंक अनेक प्रकार के थे–वाणिज्यिक, औद्योगिक, कृषिक और राजकीय। ये सभी बैंक एक पहलू में समान थे, अर्थात् जमा करना और ऋण देना। कौटिल्य ने ब्याज के निरूपक तीन तत्व बताए हैं, सामान्य ब्याज–सिद्धान्त, कारोबारी ब्याज–सिद्धान्त तथा जोखिम बीमा ब्याज–सिद्धान्त। स्मृतियों में ब्याज की विविध दरों का उल्लेख है।

मुद्रात्मक ब्याज तीन प्रकार के थे–चक्रवृद्धि, काल–वृद्धि और कारित वृद्धि (करारी)। पूर्व–पाषाणकाल और मध्य–पाषाणकाल में पत्थर के उपकरणों का निर्माण मनुष्य का मुख्य उद्योग था। यही अवस्था उद्योग–धन्धों की उत्पत्ति की प्राचीनतम अवस्था थी। नव–पाषाणकाल में मनुष्य न केवल पत्थर के उपकरण बनाता था, बल्कि उसने भाण्डोद्योग एवं वस्त्रोद्योग का विकास भी कर लिया था।

मौर्य काल में वस्त्र एवं रंगाई उद्योग अपने विकास की चरम सीमा पर था। उत्तर–मौर्य काल में भी उद्योग–धन्धे उन्नत अवस्था में थे। गुप्त और वर्धन–काल में उद्योग–धंधों का विकास अपने चरमोत्कर्ष पर था। पूर्व–मध्यकाल में पाल, प्रतिहार, परमार, चौहान, राष्ट्रकूट, चालुक्य, चोल व अन्य राजवंशों के शासन काल में उद्योग–धन्धों को भरपूर प्रोत्साहन मिला था। भारत में व्यापार के सबसे प्राचीन साक्ष्य नवपाषाण और ताम्र–पाषाण काल के अवशेषों के साथ मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। ताम्र–पाषणकाल में व्यापार का अत्यधिक प्रचलन देखने को मिलता है। उत्तर–वैदिक काल में व्यापार अधिक उन्नत स्थिति में था। बौद्ध–ग्रन्थों में रथ, अन्न, तेल, रत्न, आभूषण आदि वस्तुओं के विक्रय के लिये बनी भिन्न–भिन्न वीथियों का उल्लेख हुआ है। मौर्यकाल में व्यापार एवं वाणिज्य का विकास चरम सीमा पर था। इस काल में सम्पूर्ण व्यापार राजकीय नियंत्रण में था और इसकी देख–भाल के लिये राज्य की ओर से 'पण्याध्यक्ष' नामक अधिकारी की नियुक्ति की गई थी। गुप्तकाल में भारत का आंतरिक व्यापार बहुत उन्नत अवस्था में था। इस काल में प्रचलित शांति और समृद्धि ने अंतर–प्रांतीय और अंतर–राज्य व्यापार को एक महान प्रोत्साहन दिया। उत्तर वैदिक काल में वणिकों तथा व्यापारियों ने संघ बनाने आरम्भ कर दिये थे। विभिन्न ग्रन्यों में 'श्रेष्ठी' शब्द मिलता है। संभवतः श्रेष्ठी संघ का अध्यक्ष होता था। आर्थिक संघ के निर्माण के लिये प्राचीन भारत की परिस्थितियाँ विशेष रूप से अनुकूल थीं। बौद्ध काल में प्रायः दो प्रकार के आर्थिक संघों का उल्लेख मिलता है–व्यापारिक तथा शिल्पिक। सूत्र युग में आर्थिक संघों के संचालन–सम्बन्धी विधानों का उल्लेख मिलता है। महाकाव्य काल में रामायण तथा महाभारत में निगम, गण और श्रेणी आर्थिक संघों के नाम मिलते हैं। मौर्य काल में गणना–विभाग का अध्यक्ष आर्थिक संघों के धर्म, व्यवहार, चरित्र और संस्थान का लेखा जोखा रखता था। कुषाण काल के शिलालेखों

टिप्पणी

में उस युग के कुछ आर्थिक एवं व्यावसायिक संघों के विवरण मिलते हैं। व्यापारिक संघों के नेताओं की उपाधि 'सार्थवाह' प्रचलित थी।

गुप्तकाल में व्यापारिक संगठनों की संख्या व क्षेत्र में वृद्धि हो गयी थी। सम्भवतः आर्थिक संघों के कुछ न्यायालय साधारण प्रजा के विवादों पर निर्णय करते थे। उस समय शिल्पियों के संघ नगर निर्माण का कार्य करते थे। हर्षवर्धन के शासनकाल में आर्थिक संघ थे, जो उद्योग श्रेणियों, व्यापारियों, बैंकों, श्रमिक संगठनों तथा ठेकेदारों के संघ थे।

प्राचीन भारत में आर्थिक संघों ने एक ओर अपने आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति की तो दूसरी ओर व्यक्तिगत श्रेणियों तथा निकायों को सहकारिता की भावना सिखाई। इन संघों के कारण उत्पादन पर नियंत्रण रहा, वस्तुओं के मूल्य भी स्थिर रहे। पूर्व–मध्यकाल में आर्थिक श्रेणियों ने तत्कालीन आर्थिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाई हैं तथा ये आर्थिक श्रेणियाँ बहु–कार्यात्मक संगठनों के रूप में कार्य करने लगीं।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **हँसिया** : लोहे का धनुषाकार एक औजार।
- **फावड़ा** : एक उपकरण जिससे मिट्टी आदि खोदकर उठाई जाती है।
- **पुरातन व्यवस्था** : इस व्यवस्था के अन्तर्गत फ्रांसीसी समाज सामंती व्यवस्था पर अवलम्बित था। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का कार्य उसके जन्म के आधार पर बँटा हुआ था।
- **उपसामंतीकरण** : इस प्रथा के अंतर्गत भूमि का स्वामी अपनी इच्छा से किसी अन्य को भूमि दे सकता था। साथ ही उन पर काम करने वाले कृषकों को भी हस्तांतरित कर देता था।
- **स्मृति** : इसका शाब्दिक अर्थ है–"याद किया हुआ"। यह हिन्दू धर्म के उन ग्रन्थों का समूह है जिनकी मान्यता श्रुति से नीची श्रेणी की है और जो मानवों द्वारा उत्पन्न थे। इनमें वेद नहीं आते।
- **वृत्ति संघ** : मिलकर काम करने के लिए सम्मिलित होने की क्रिया या प्रवृत्ति।
- **टकसाल** : उस कारखाने को कहते हैं जहां देश की सरकार द्वारा, या उसके दिए अधिकार से, मुद्राओं का निर्माण होता है।
- **संयुक्त पूंजी कम्पनी** : वह व्यावसायिक संगठन जिसके स्वामी बहुत से अंशपूंजीधारक (शेयरहोल्डर) होते हैं।
- **हार्पून** : बड़ी मछलियों को मारने के लिए प्रयोग होने वाला एक लोहे का भाला।
- **सार्थवाह** : गाड़ियों पर अपना माल लाद कर पूरे काफिले या सार्थ के साथ उस माल को दूर–दूर तक बेचने जाने वाला व्यापारीय व्यवसायी।
- **महाजन** : ये भारत के प्राचीन वर्ग–वर्ण विभाजन के आधार पर 'वैश्य' होते थे। वाणिज्य या व्यवसाय की आय से जीविकोपार्जन करने वाली भारतीय वैश्य जाति है।

टिप्पणी

- **सीप** : यह एक जलीय जन्तु है जिसका शरीर दो पार्श्व कपाटों में बन्द रहता है जो मध्य पृष्ट पर एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसमें चलने के लिए एक मांसल पांव होता है। इसके पैरों के ऊपरी भाग में अनेक सामानान्तर रेखाएँ होती हैं जिन्हें वृद्धि की रेखा कहा जाता है।
- **पच्चीकारी** : यह एक ऐतिहासिक कला है जिसमें उत्कृष्ट पद्धति से कटे, व जड़े हुए, तराशे हुए एवं चमकाए हुए रंगीन पत्थरों के टुकड़ों से पत्थर में चित्रकारी की जाती है।

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में नवपाषाण काल तथा सिंधु सभ्यता के काल में कृषि अर्थव्यवस्था किस प्रकार की थी?
2. वैदिक काल में प्रचलित कृषि अर्थव्यवस्था को संक्षेप में समझाइए।
3. मौर्यकाल में कृषि अर्थव्यवस्था किस प्रकार की थी?
4. गुप्तकालीन भारत में कृषि अर्थव्यवस्था की विशेषताएं बताइए।
5. साख से क्या अभिप्राय है?
6. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–
   (क) टकसाल
   (ख) आर्थिक संघ
   (ग) पच्चीकारी

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. हर्षवर्धन के काल की कृषि अर्थव्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
2. भारतीय सामंतवाद पर इतिहासलेखन के विषय में बताइए।
3. प्राचीन भारत में मुद्रा व्यवस्था पर एक निबंध लिखिए।
4. भारत में वैदिक काल में मुद्रा व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
5. गुप्त काल में मुद्रा व्यवस्था किस प्रकार की थी?
6. भारत में प्राचीनकालीन बैंकिंग प्रणाली का वर्णन कीजिए।
7. भारत में प्राचीन काल में बैंकों के प्रकार पर टिप्पणी लिखिए।
8. प्राचीन भारत में उद्योग–धन्धों के विकास पर चर्चा कीजिए।
9. पूर्वकालीन (प्राचीन) भारत के व्यापार और वाणिज्य के बारे में आप क्या जानते हैं?
10. गुप्तकाल में भारतीय व्यापार पर एक टिप्पणी लिखें।
11. श्रेणी से आपका क्या अभिप्राय है? प्राचीन भारत की प्रचलित श्रेणी व्यवस्था की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
12. गुप्तकाल की श्रेणी–व्यवस्था पर संक्षिप्त नोट लिखिए।

टिप्पणी

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. डॉ. पंकज लता श्रीवास्तव, 2011, "प्राचीन भारत", एक्सिस पब्लिकेशन्स।
2. हरबंस मुखिया, 2003, "द फ्यूडलिज्म डिबेट" (एडिटेड), मनोहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स।
3. आर.एस शर्मा, 2008, "इंडियन फ्यूडलिज्म", लक्ष्मी पब्लिकेशंस (थर्ड एडिशन)।
4. डी. एन झा, 2003, "द फ्यूडल ऑर्डर, स्टेट, सोसाइटी एंड आइडियोलॉजी इन अर्ली मिडीवल इंडिया", मनोहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स, पेपरबैक।
5. विजय कुमार ठाकुर, 1989, "हिस्टोरिओग्राफी आफ इंडियन फ्यूडलिज्म, टुवर्ड्स ए मॉडल आफ अर्ली इंडियन फयूडलिज्म", साऊथ एशिया बुक्स।
6. राम शरण शर्मा, 2015, "आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज एन्ड इंस्टीट्यूशंस इन एंशिएंट इंडिया", मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स।
7. आर.एस शर्मा, 2011, "इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ अर्ली इंडिया", विवा बुक्स।
8. राधा कृष्ण चौधरी, 1983, "प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास", जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. के.सी श्रीवास्तव, 2019, "प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति", यूनिटेड बुक डिपो।
10. डॉ. मोहन लाल गुप्ता, 2018, "प्राचीन भारत का इतिहास", न्यू पब्लिशर।
11. डॉ. पी.डी वाला, 2018, "प्राचीन भारत का इतिहास", रावत प्रकाशन।
12. राम शंकर त्रिपाठी, 2014, "हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया", मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स।
13. प्राण नाथ चोपड़ा, 2003, "ए कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया", स्टर्लिंग।
14. रणबीर चक्रवर्ती, 2004, "ट्रेड इन अर्ली इंडिया", ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
15. रघुवीर सिंह, 2012, "प्राचीन भारत का राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास", रावत प्रकाशन।
16. राम शंकर त्रिपाठी, 2014, "हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया", मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स।
17. राधा कृष्ण चौधरी, 1983, "प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास", जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली।
18. के.सी श्रीवास्तव, 2019, "प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति", यूनाइटेड बुक डिपो।

इकाई 2 सामाजिक विचार और संस्थान

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 वर्ण और जातियों का विकास
2.3 सामाजिक स्तरीकरण का भौतिक आधार
2.4 आश्रम, पुरुषार्थ और संस्कार
2.5 प्राचीन भारत में स्त्रियों का स्थान और उनकी स्थिति
2.6 शैक्षणिक विचार और संस्थान
2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.8 सारांश
2.9 मुख्य शब्दावली
2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.11 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

प्राचीन काल से ही भारत में जाति प्रथा प्रचलित रही है और समाज तथा राजनीतिक व्यवस्था पर उसकी मजबूत पकड़ बनी हुई है। लोगों को चार अलग–अलग वर्गों में विभाजित किया गया है– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ऐतिहासिक रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि यह सामाजिक व्यवस्था आर्यों के आगमन के साथ लगभग 1500 ई. पू. में देश में आई थी।

सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तियों के समूहों को उनकी प्रतिष्ठा, संपत्ति और शक्ति की मात्रा के अनुसार पदानुक्रम में विभिन्न श्रेणियों में उच्च से निम्न रूप में स्तरीकृत किया जाता है। समाज में सभी व्यक्ति एक से नहीं होते। उनमें अनेक जैविक और सामाजिक भेद होते है। ये भेद समाज में देखने को मिलते हैं। आदिम समाज सरल होते हैं। उनमें सामाजिक और सांस्कृतिक भेद कम होते है। ऐसे समाजों में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और उसके कार्यों का निर्धारण प्रधानतया जैविक तत्वों जैसे– आयु, लिंग, आर्थिक स्थिति, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के द्वारा ही होता है।

आश्रम शब्द संस्कृत भाषा की 'श्रम' धातु से बना है। इसके अन्तर्गत मनुष्य श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमों के कार्य सम्पन्न करता है। अतः आश्रम का अर्थ उद्योग अथवा प्रयत्न से है। परम पद तक पहुंचने में ये आश्रम विश्राम स्थल के रूप में कार्य करते हैं। इसीलिए साहित्यिक स्रोतों में आश्रम का अर्थ विराम या विश्रामदायक स्थान से भी लिया जाता है। आश्रम से तात्पर्य जीवन के उस भाग से है जिसमें मनुष्य कुछ समय रहकर श्रम करता है। प्राचीन भारत में जिस प्रकार समाज को चार वर्गों में विभाजित किया गया, उसी प्रकार मनुष्य के जीवन को भी चार भागों में बांटा गया। मनुष्य के जीवन की आयु को 100 वर्ष का मानकर उसे चार भागों में बांट दिया गया। प्रत्येक आश्रम का काल 25 वर्ष निर्धारित किया गया था। आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य प्रत्येक प्राणी की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति था।

टिप्पणी

प्राचीन काल के भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत करने के लिए पुरुषार्थ के नाम से अपने दार्शनिक विचारों का नियोजन और व्याख्या की थी। पुरुषार्थ शब्द पुरुष एवं अर्थ शब्दों से मिलकर बना है। यहां पुरुष शब्द का अर्थ जीवात्मा तथा अर्थ शब्द का मतलब उद्देश्य है। इस प्रकार पुरुषार्थ का अर्थ जीवात्मा का उद्देश्य है। प्राचीनकालीन भारतीय समाज में जीवात्मा का उद्देश्य परमात्मा में विलीन होना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य को पुरुषार्थ का पालन करना होता था। ये पुरुषार्थ थे– धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष।

प्राचीन काल में हिन्दु समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व के उत्थान एवं सर्वांगीण विकास के उद्देश्य से संस्कारों का संयोजन किया गया। मनुष्य जीवन का दैहिक और भौतिक जीवन सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और अनुशासित करने के निमित्त संस्कारों की अभिव्यक्ति की गई। संस्कारों का प्रारम्भ वैदिक काल में ही हो चुका था तत्कालीन समाज में प्रत्येक व्यक्ति इन संस्कारों को करना अपना सामाजिक कर्तव्य समझता था। प्रमुख संस्कारों की संख्या 16 थी।

किसी भी सभ्यता की आत्मा को समझने तथा उसकी उपलब्धियों एवं श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने का सर्वोत्तम आधार उसमें स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन करना है। स्त्रियों की स्थिति किसी देश की संस्कृति का मानदण्ड मानी जाती है। प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति सदैव एक समान नहीं रही। इसमें युगानुरूप परिवर्तन होते रहे हैं। उनकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक अनेक उतार चढ़ाव आते रहे हैं तथा उनके अधिकारों में तदनुरूप बदलाव भी होते रहे हैं। लेकिन अधिकांश स्त्रियां स्वतंत्र जीवन नहीं जी सकीं और वे अपने माता–पिता, अपने पति या अपने बेटों के संरक्षण में रहीं। प्रारंभिक कानून की पुस्तकों ने महिलाओं को शूद्र के समकक्ष माना।

भारतीय शिक्षा प्रणाली की ख्याति चारों ओर फैली हुई थी। भारत में चीन, जापान, तिब्बत तथा लंका आदि देशों से विद्यार्थी शिक्षा अर्जित करने आते थे। विभिन्न विषयों के विषय विशेषज्ञ आचार्यों के कारण नालन्दा, तक्षशिला आदि विश्वविद्यालय विश्व में विख्यात थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा अपने उद्देश्यों एवं व्यावहारिकता के कारण संसार में अनूठी थी।

इस इकाई में सामाजिक विचार और संस्थान को विस्तार से समझाया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्राचीनकालीन भारत में वर्ण–व्यवस्था के विकास के बारे में जान पाएंगे;
- प्राचीन भारत में जाति प्रथा की क्रमागत उन्नति का अवलोकन कर पाएंगे;
- प्राचीनकालीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण के भौतिक आधार की समीक्षा कर पाएंगे;
- आश्रम व्यवस्था का अर्थ समझ पाएंगे;
- विभिन्न आश्रमों के बारे में जान पाएंगे;

- प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में स्त्रियों की स्थिति की समीक्षा कर पाएंगे;
- प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्यों से परिचित हो पाएंगे;

टिप्पणी

2.2 वर्ण और जातियों का विकास

प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने वर्ण–व्यवस्था की स्थापना समाज के विभिन्न श्रेणियों के लोगों में कार्यों का उचित बंटवारा करके सामाजिक संगठन बनाए रखने के लिए की ताकि प्रत्येक मनुष्य अपने–अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करते हुए आपसी मतभेदों एवं वैमनस्य से मुक्त होकर अपना तथा समाज का पूरा विकास कर सके। यह व्यवस्था सामूहिक पद्धति से व्यक्ति की उन्नति की योजना है। इसके माध्यम से व्यक्ति परिवार, समुदाय, समाज तथा देश के प्रति अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करता था। इसके द्वारा समाज में एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होता था तथा वर्ग–संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा की संभावना समाप्त हो जाती थी।

वर्ण–व्यवस्था भारतीय समाज का मेरुदंड है। वर्ण शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'वृ' धातु से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ वरण करना या चयन करना है। इस प्रकार इससे तात्पर्य वृत्ति अथवा व्यवसाय–चयन (Choice of vocation) से है। वर्ण का एक अर्थ रंग भी है तथा इस अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग कहीं–कहीं मिलता है। ऋग्वेद में इसका पहला प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है जहां आर्यों ने स्वयं को श्वेत वर्ण तथा दास–दस्युओं को कृष्ण वर्ण का बताया है। बाद में यह शब्द वृत्ति का सूचक बन गया तथा व्यवसाय के आधार पर समाज में वर्णो का विभाजन किया गया। तत्पश्चात् उनमें कठोरता आई तथा व्यवसाय के स्थान पर जन्म को आधार मान लिया गया जिसके फलस्वरूप वर्ण जाति में परिणत हो गए।

ऋग्वैदिक कालीन समाज में प्रारम्भ में केवल तीन वर्ण थे–ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य। इस काल के अन्त में शूद्र वर्ण का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में चार वर्णों का सामूहिक उल्लेख केवल दसवें मण्डल पुरुषसूक्त में मिलता है जिसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र क्रमशः ब्रह्म के मुख, बाजुओं, जंघाओं एवं पैरों से उत्पन्न हुए हैं। इस विवरण के आधार पर कुछ विद्वानों ने तत्कालीन समाज में चार वर्णों की कल्पना की है जो कालांतर में जाति व्यवस्था में बदल गया, परन्तु पुरुषसूक्त ऋग्वेद में बाद में जोड़ा गया है, इसलिए यह विचार मानने योग्य नहीं है।

ऋग्वैदिक काल में विभिन्न वर्गों के व्यवसाय, खान–पान, विवाह आदि पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था तथा एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की वृत्ति अपना सकता था। इस समय तक वर्णों में कठोरता नहीं आई थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर ऋषि अंगिरस कहते हैं– 'मैं स्तुति करता हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी मां चक्कियों में आटा पीसती है। हम लोग विविध क्रियाओं द्वारा धनोपार्जन करना चाहते हैं।' इससे स्पष्ट है कि एक ही परिवार के व्यक्ति अलग–अलग व्यवसाय अपना सकते थे। इसी प्रकार विभिन्न वर्गों के बीच खान–पान एवं अन्तर्विवाह होने पर भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। वस्तुतः ऋग्वैदिक समाज की वर्ण–व्यवस्था उन्मुक्त थी। यह जन्म या वंश पर आधारित न होकर व्यक्ति के गुण और कर्म पर ही आधारित थी।

टिप्पणी

उत्तर–वैदिक काल तक आते–आते समाज में चारों वर्णों की स्पष्टतः स्थापना हुई। इस समय ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् व अन्य ग्रंथों की रचना हुई। इस काल के समाज में पहली बार हमें विभिन्न वर्गों के मध्य भेदभाव देखने को मिलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की पहचान हेतु विभिन्न प्रकार के यज्ञोपवीत (जनेऊ) का विधान किया गया। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। उन्हें देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। वे समस्त धार्मिक क्रियाओं के नियंता थे। उनकी उपस्थिति के बिना कोई भी धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था। वही राजा के पुरोहित होते थे। यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन, शिक्षा का संचालन एवं राजा को सलाह देना उनका प्रमुख कर्तव्य था। समाज में दूसरा स्थान क्षत्रियों का था जो युद्ध, देश और समाज की रक्षा, शासन आदि करते थे। कुछ क्षत्रिय शासक, जैसे जनकादि, अपने दार्शनिक ज्ञान के लिए भी विख्यात थे। तीसरा स्थान वैश्यों का था। ये कृषि, व्यवसाय और व्यापार के माध्यम से अपनी जीविका चलाते थे तथा देश की अर्थव्यवस्था का संचालन करते थे। तैत्तिरीय संहिता में उनका मुख्य उद्यम कृषि एवं पशुपालन बताया गया है। वे याज्ञिक क्रियाओं में भी सहयोग प्रदान करते थे। समाज के उपर्युक्त तीन वर्णों में हम पारस्परिक सहयोग एवं घनिष्ठता पाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण में तीनों वर्णों के मध्य सहयोग की कामना व्यक्त की गई है। अंतिम वर्ण शूद्रों का था। 'शूद्र' वर्ण को इस समय एक पृथक् वर्ग के रूप में मान्यता मिली। ऋग्वेद में जिन अनार्यों को दस्यु कहा जाता था, वे ही उत्तर–वैदिक काल में शूद्र कहे जाने लगे थे। उन्हें तीनों वर्णों का सेवक बताया गया तथा धार्मिक क्रियाओं के लिए अयोग्य घोषित किया गया। किन्तु शूद्रों की स्थिति उतनी निम्न नहीं थी जितनी कि सूत्रों एवं स्मृतियों के काल में हो गई। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। इस काल के कुछ ग्रंथों में आर्य पुरुष तथा शूद्र कन्या के बीच विवाह का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

उत्तर–वैदिक काल से जानकारी प्राप्त होती है कि यद्यपि वर्णों के बीच भेदभाव की भावना का उदय हो गया था तथापि वर्ण व्यवस्था में अभी उतनी जटिलता नहीं पाई थी। उत्तर–वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब विभिन्न वर्णों के मनुष्यों ने अपने कर्मों से ऊपर उठकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, "याज्ञवल्क्य ऋषि ने राजा जनक से, बृहदारण्यक उपनिषद् तथा कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार बालाकि गार्ग्य ने अजातशत्रु से, छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार श्वेतकेतु ने पांचालराज जाबालि से और पांचाल ब्राह्मणों ने कैकयराज अश्वपति से ज्ञान प्राप्त किया था। शतपथ ब्राह्मण में शूद्रों को सोम यज्ञ सम्पन्न करने की भी अनुमति दी गई है तथा छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार शूद्र गुरु के चरणों में बैठकर वैदिक ज्ञान भी प्राप्त कर सकते थे। इन दृष्टान्तों से ज्ञात होता है कि उत्तर–वैदिक काल तक शूद्र अस्पृश्य या हीन नहीं माने जाते थे।

सूत्रों के काल (600 ई. पू––300 ई. पू) में वर्ण व्यवस्था को सुनिश्चित आधार प्रदान किया गया और प्रत्येक वर्ण के कर्तव्यों का निर्धारण हुआ। राजा को यह परामर्श दिया गया कि वह वर्णधर्म की रक्षा करे। वर्ण का आधार कर्म न मानकर जन्म माना गया तथा ऊँच–नीच की भावना विकसित हुई। विभिन्न वर्गों के लिए दण्डों की पृथक–पृथक व्यवस्था की गई। एक ही अपराध में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को भिन्न–भिन्न दण्ड मिलता था। ब्राह्मण के अधिकार एवं उसकी सुविधायें बढ़ा दी गईं तथा शूद्रों की दशा अत्यंत शोचनीय हो गई। उसे प्रथम तीन वर्णों की दया पर छोड़

टिप्पणी

दिया गया और उसके समस्त अधिकार एवं सुविधायें छीन ली गईं। वशिष्ठ धर्मसूत्र में शूद्र को 'श्मशान के समान अपवित्र' कहा गया है। इस काल में शूद्रों को शिक्षा और संस्कार से वंचित कर दिया गया। किन्तु गौतम धर्मसूत्र में 'वार्ता' को शूद्र का वर्णधर्म बताया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वे कुछ सीमा तक कृषि भी करने लगे थे। इसी काल में जैन, बौद्ध व अन्य निवृत्तिपरक सम्प्रदायों का उदय हुआ। इन्होंने जन्म पर आधारित वर्ण–व्यवस्था का विरोध किया तथा उसका आधार कर्म बताया। क्षत्रियों तथा वैश्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और अब वे श्रेष्ठता में ब्राह्मणों की बराबरी करने लगे। बौद्ध साहित्य क्षत्रिय को ब्राह्मण की अपेक्षा श्रेष्ठतर बताता है। वैश्यों के पास अतुल सम्पत्ति संचित हो गई। किन्तु शूद्रों की स्थिति यथावत् रही। वे सभी अधिकारों एवं संस्कारों से वंचित थे। यद्यपि बौद्ध धर्म ने जाति प्रथा का विरोध किया तथापि उसे विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई।

अतः इस काल में बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रादुर्भाव के कारण ब्राह्मण धर्म के लिए संकट की स्थिति उत्पन्न हो रही थी। इस कारण से आपस्तम्ब, गौतम, वशिष्ठ, बौधायन व अन्य व्यवस्थाकारों ने सामाजिक एवं धार्मिक निषेधों को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सभी वर्णों द्वारा अपने–अपने कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य कहा गया है। इस समय वर्णानुकूल आचरण अनिवार्य था, किन्तु विशेष परिस्थितियों में आपात–धर्म की भी व्यवस्था की गई थी जिसके अनुसार आपातकाल में मनुष्य दूसरे वर्ण के कर्म को भी अपना सकता था, जैसे–शुंग एवं सातवाहन वंश के राजाओं ने ब्राह्मण होने पर भी क्षत्रिय–धर्म अपनाया था।

महाकाव्य काल में वर्ण–व्यवस्था का जो स्वरूप मिलता है वह उत्तर–वैदिक काल से मिलता–जुलता है। महाभारत के 'शांतिपर्व' में वर्ण–व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। महाभारत के एक–दो उल्लेखों से ज्ञात होता है कि शूद्रों के प्रति कुछ उदार दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा था। विदुर, मातंग व अन्य कुछ शूद्रों ने इस समय अपने सत्कर्मों से समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था। शूद्रों के लिए सीमित पैमाने पर कृषि एवं व्यापार की भी अनुमति प्रदान की गई। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर कुछ शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया था। यह उदाहरण दर्शाता है कि शूद्रों के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो रहा था। अर्थशास्त्र में चारों वर्णों तथा उनके कर्तव्यों का निरूपण मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि समाज में वर्णाश्रम धर्म को स्थापित करना राजा का परम कर्तव्य था। कौटिल्य ने एक स्थान पर लिखा है स्वधर्म का पालन करने से स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत होने पर वर्णसंकरता उत्पन्न होती है जिससे संसार का विनाश हो जाता है (स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकः संकरादुच्छियेत)। अतः वह शासक को स्पष्ट आदेश देता है कि वह सभी वर्गों को अपने–अपने धर्म में प्रवृत्त करे।

धर्मशास्त्रों के काल में वर्ण–व्यवस्था का जो स्वरूप निर्धारित हुआ वह कालांतर के समाजों के लिए आदर्श बना रहा। वर्ण को पूर्ण रूप से जन्मना माना गया। स्मृति ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों के व्यवसायों एवं कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। परम्परागत चार वर्णों के अतिरिक्त समाज में बहुसंख्यक वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न हो गईं। मनु ने शकों को व्रात्य क्षत्रिय माना है जो धर्मच्युत थे। मनुस्मृति में वर्ण–व्यवस्था के सिद्धान्तों का स्पष्टतः निर्धारण मिलता है। शुंग शासकों के काल में तदनुसार समाज को व्यवस्थित किया गया। किन्तु गुप्त काल तक वर्ण–व्यवस्था में पूर्णतः बनी रही।

टिप्पणी

स्मृतियों में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों का विधान है तथा प्रथम को मान्यता प्रदान की गई है। इसमें उच्च जाति के पुरुष और निम्न जाति की महिला के बीच विवाह होता था और यह सम्बन्ध शास्त्रसंगत था। प्रतिलोम विवाह इसके विपरीत था, जिसमें निम्नस्तर वर्ण के पुरुष और उच्चतर वर्ण की कन्या के बीच विवाह होता था जो निन्दनीय माना जाता था। अभिलेखों में भी अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण मिलते हैं।

छठी शताब्दी ई. में गुप्त साम्राज्य के पतन तथा हूणों के आक्रमण के कारण भारतीय समाज अव्यवस्थित हो गया था जिससे वर्ण–व्यवस्था को ठोस आधार पर प्रतिष्ठित करने के प्रयास हुए। खान–पान एवं विवाह में कट्टरता आई। मधुबन और बांसखेडा अभिलेखों तथा हर्षचरित से पता चलता है कि प्रभाकर वर्धन एवं हर्षवर्धन ने समाज में वर्ण–व्यवस्था को प्रतिष्ठित किया था। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन वर्णाश्रम धर्म का पोषक था। राजपूत युग तक आते–आते परम्परागत वर्ण विभिन्न उपजातियों में विभक्त हो गए। अस्पृश्यता की भावना का पूर्ण विकास हुआ जिससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए हिन्दू समाज आज तक छटपटा रहा है।

जाति प्रथा का विकास

जाति शब्द की उत्पत्ति 'जन्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है–जन्म लेना। अंग्रेजी में जाति के लिए कास्ट (बेंजम) शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है– नस्ल, प्रजाति अथवा भेद। जाति के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न–भिन्न विचार हैं। चार्ल्स कूले का विचार है कि एक ही वंश की संतानों के समूह को जाति कहते हैं। विन्सेंट ऑर्थर स्मिथ के अनुसार जाति उन परिवारों का समूह है, जो धार्मिक अनुष्ठानों, खान–पान और विवाद से संबंधित कुछ विशिष्ट नियमों में बंधे होते हैं। डॉ. मजूमदार ने जाति को एक 'बंद वर्ग' कहा है, जिसके बाहर विवाह करना या सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ाना निषिद्ध होता है। हर्बर्ट रिजले और ब्लंट ने जाति को ऐसे परिवारों का समूह माना है, जो एक ही पैतृक व्यवसाय को अपनाते हों; अपने ही समुदाय के अंदर विवाह करते हों तथा अपने समुदाय से संबंधित प्रतिबन्धों का पालन करते हों। डॉ. शामशास्त्री के अनुसार आहार और विवाह–संबंधी सामाजिक–विभाजन को जाति कहते हैं।

ऋग्वैदिक काल में जातियों का कोई अस्तित्व नहीं था और सम्पूर्ण समाज को कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नामक केवल चार वर्णों में विभाजित किया गया था। धीरे–धीरे उत्तर–वैदिक काल से वर्ण का विभाजन जन्म के आधार पर किया जाने लगा। यद्यपि इस काल के साहित्य में जाति शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है, फिर भी ऐसे अनेक वर्गों के नाम मिलते हैं, जो परवर्ती काल में जातियों के बोधक माने गए, जैसे– अथर्ववेद में रथकार, कर्मार एवं सूत काय तैत्तिरीय, वाजसनेयि एवं काठक संहिताओं में बढ़ई (तक्षा), कुम्हार (कुलाल), लोहार (कार), निषाद आदि काय तैत्तिरीय ब्राह्मण में सूत, भाट, रथकार, कुलाल, कर्मार, वप्ता (नाई) आदि काय ताण्ड्य ब्राह्मण में किरातों का और छान्दोग्य उपनिषद् में चाण्डालों का वर्णन हुआ है।

वस्तुतः 'कृष्ण जातीय' और 'ब्राह्मण जातीय' शब्दों का प्रयोग सर्वप्रथम निरुक्त और अष्टाध्यायी में मिलता है। सूत्र, महाकाव्य एवं स्मृति काल तक आते–आते प्राचीन वर्ण–व्यवस्था धीरे–धीरे जाति–व्यवस्था में परिवर्तित होने लगी। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में अनेक स्थानों पर वर्ण और जाति शब्द को एक–दूसरे का पर्यायवाची माना गया है। इस काल में कर्म के भेद के आधार पर अनेक जातियों का जन्म हुआ और

टिप्पणी

अलग–अलग जातियों के संयोग से उत्पन्न सन्तान को वर्ण–संकर कहा गया। ब्राह्मण एवं शूद्रों की स्थिति में जमीन आसमान का अन्तर आ गया। ऊँच–नीच का भेद–भाव उत्पन्न हुआ। यहां तक कि समान अपराध करने पर भी ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं शूद्रों को भिन्न–भिन्न दण्ड दिया जाने लगा। छठी शताब्दी ई.पू. में गौतम बुद्ध एवं महावीर ने जातिगत भेदभावों का घोर विरोध किया, किन्तु हिन्दू समाज इस बुराई से स्वयं को फिर कभी मुक्त नहीं कर सका। इस काल में बौद्ध एवं जैन धर्मों के विस्तार के बीच ब्राह्मण धर्म की रक्षा के उद्देश्य से ब्राह्मणों ने जाति–सम्बन्धी निषेधों का अत्यन्त कठोरता के साथ पालन करना प्रारम्भ कर दिया। मनुस्मृति में 57 जातियों का उल्लेख हुआ है। जातक कथाओं में भी कर्म के आधार पर जातियों का उल्लेख हुआ है और उनके भिन्न–भिन्न कर्तव्य बताए गए हैं। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने अपने ग्रन्थ 'इण्डिका' में भारत की सात जातियों का उल्लेख किया है–दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक, गोपालक, निरीक्षक और करग्राहक। जातियों का यह नामोल्लेख यद्यपि त्रुटिपूर्ण है किन्तु उसने उस समय की जाति–व्यवस्था के लिए स्पष्ट रूप से लिखा है कि भारत में न तो कोई अपना व्यवसाय बदल सकता था और न ही कोई जाति के बाहर विवाह कर सकता था। कोई व्यक्ति न तो दूसरी जाति में प्रवेश कर सकता था और न ही दो व्यवसाय अपना सकता था। अन्तर्जातीय विवाह भी निषिद्ध था। मनुस्मृति के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति, विष्णु संहिता, पाराशरस्मृति, नारदस्मृति आदि में भी विविध जातियों से सम्बन्धित भिन्न–भिन्न कर्तव्यों का विस्तार के साथ उल्लेख मिलता है।

गुप्तोत्तर काल या पूर्व–मध्य काल में हिन्दू धर्म का रूढिवादी स्वरूप पूर्ण रूप से दृढ़ता के साथ स्थापित हो चुका था। हर्षवर्धन के काल में हिन्दू समाज चार जातियों–ब्राहाण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में विभाजित था। ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन, यज्ञ आदि धार्मिक कृत्य करते थे। वे प्रतिष्ठित पदों पर भी नियुक्त थे। ह्यूनत्सांग ने ब्राह्मणों की बहुत प्रशंसा की है। वह लिखता है कि ब्राह्मणों की प्रसिद्धि के कारण ही भारत 'ब्राह्मण देश' कहलाता था। हर्षवर्धन स्वयं ब्राहाणों का बहुत सम्मान करता था तथा उन्हें बहुत दान देता था। वैश्य व्यापार तथा अन्य ऐसे ही कार्य करते थे। बाणभट्ट के अनुसार यहां के साहसी व्यापारी सुदूर–स्थल प्रदेशों में तथा द्वीपों में व्यापार करने के लिए यात्रा करते थे। स्वयं वर्धन वंश के शासक वैश्य जाति से संबंधित थे। यह काल वैश्य जाति के राजनीतिक प्रभुत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। समाज में शूद्रों को चौथा स्थान प्राप्त था। ये परिश्रम–साध्य कार्य करते थे। शिल्प तथा उद्योग–धंधे भी उन्हीं के द्वारा ही सम्पन्न होते थे। शूद्रों को समाज में सम्मान प्राप्त नहीं था। उन्हें शिक्षा अर्जित करने, सार्वजनिक स्थानों पर जाने और मंदिरों में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। इस काल में शूद्र कृषि कार्य भी करने लगे जिससे उनकी स्थिति में कुछ सुधार आया। इन चार मुख्य जातियों के अतिरिक्त उस काल में बहुत–सी अन्य जातियाँ तथा उप–जातियाँ भी प्रचलित थीं। इन्हें मिश्रित जातियां कहा जाता था। नगरों के बाहर चाण्डाल नामक अछूत जाति के बसने का भी उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण इनसे भेदभाव करते थे।

इस काल में राजनीतिक असुरक्षा के कारण जैसे–जैसे धार्मिक विश्वासों एवं कर्मकाण्डों का विस्तार होता गया, वैसे–वैसे जातीय पृथकता का भी विस्तार होता गया। अन्तर्जातीय विवाहों, भिन्न–भिन्न कर्मों, क्षेत्रीय विविधताओं, भिन्न–भिन्न देवी–देवताओं आदि के नाम पर अनेक जातियों एवं उप जातियों का जन्म हुआ। उदाहरणस्वरूप

टिप्पणी

अन्तर्जातीय विवाहों में ब्राह्मण पिता और वैश्य माता से अम्बष्ठ जाति का, ब्राह्मण पिता और शूद्र माता से निषाद जाति का, क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता से सूत जाति का, करण जातीय पिता और वैश्य स्त्री से तक्षक जाति का, तक्षक पिता और वैश्य स्त्री से चमार जाति का, कर्मों के आधार पर केवट, माली, जुलाहा, तेली, बढ़ई आदि जातियों का क्षेत्रीय विविधताओं के आधार पर मगध, विदेह, कनौजिया ब्राह्मण, गौड, सारस्वत, आदि जातियों का अथवा भिन्न–भिन्न देवी–देवताओं के नाम पर शैव, शाक्त, वैष्णव आदि उप जातियों का जन्म हुआ। इस काल में जातिगत भेदभाव की भावना अपने चर्मोत्कर्ष पर थी।

अपनी प्रगति जांचिए

1. ऋग्वेद में चार वर्णों का सामूहिक उल्लेख दसवें मंडल के किस सूक्त में मिलता है?

   (क) अक्ष सूक्त (ख) पुरुष सूक्त

   (ग) हिरण्यगर्य सूक्त (घ) नासदीय सूक्त

2. मनुस्मृति में कितनी जातियों का उल्लेख हुआ है?

   (क) 50 (ख) 53

   (ग) 55 (घ) 57

2.3 सामाजिक स्तरीकरण का भौतिक आधार

प्रत्येक समाज में किसी व्यक्ति या समूह को उसकी जाति, लिंग, आयु, व्यवसाय, पद, अधिकार एवं उत्तरदायित्व आदि के आधार पर उच्च या निम्न स्तर प्रदान किया जाता है। उदाहरण के लिए अपने हिन्दू समाज को ही लीजिए। इसमें कभी ब्राह्मणों को उच्च स्तर और शूद्रों को निम्न स्तर प्रदान किया जाता था। समाजशास्त्रीय भाषा में इस प्रक्रिया को सामाजिक स्तरीकरण के नाम से जाना जाता है। समाजशास्त्री जिस्वर्ट के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ समाज को कुछ ऐसे स्थायी समूहों और श्रेणियों में विभक्त कर देने की व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत सभी समूह और श्रेणियाँ उच्चता और अधीनता के सम्बन्धों द्वारा एक–दूसरे से बंधे हों।"

मुख्यतः सामाजिक स्तरीकरण दो प्रकार का होता है– जातिगत और वर्गगत। जाति के आधार पर व्यक्ति अथवा समूह का सामाजिक स्तर निश्चित करना जातिगत स्तरीकरण कहा जाता है, जैसे– ब्राहाण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। इसके विपरीत व्यक्तियों को उनकी योग्यता, कुशलता, पद, अधिकार और कर्तव्य आदि के आधार पर उन्हें उच्च या निम्न वर्ग में विभाजित करना वर्गगत स्तरीकरण कहा जाता हैय जैसे–पद के आधार पर आई.पी.एस अधिकारियों को उच्चतम और सिपाहियों को निम्नतम स्तर पर रखना।

सामाजिक स्तरीकरण के अनेक आधार होते हैं, जैसे– जाति, आयु, आर्थिक स्थिति, पद, लिंग, व्यवसाय, अधिकार एवं उत्तरदायित्व, योग्यता, कुशलता और शिक्षा। प्रत्येक समाज अपने सामाजिक मूल्यों, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार

टिप्पणी

इनमें से किन्हीं विशेष आधारों पर ही सामाजिक स्तरीकरण करता है। उदाहरण के लिए बन्द (रूढ़िवादी) समाजों में व्यक्ति की स्थिति प्रायः जाति, लिंग और व्यवसाय के आधार पर निश्चित की जाती है और खुले (प्रगतिशील) समाजों में शिक्षा, योग्यता, कुशलता, पद, अधिकार एवं उत्तरदायित्वों के आधार पर की जाती है।

कुछ समाज ऐसे हैं जिनमें व्यक्ति या समूह की सामाजिक स्थिति उनकी जाति अर्थात जन्म के आधार पर निश्चित की जाती है। प्राचीन भारत में सम्पूर्ण समाज चार वर्गों में बंटा था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। तब ब्राह्मण की स्थिति में जन्में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उच्चतम और शूद्र जाति में जन्में व्यक्ति की स्थिति निम्नतम होती थी। परन्तु तब भी वर्ण विशेष के भीतर व्यक्ति की स्थिति उसकी आयु, योग्यता तथा सफलता के आधार पर निश्चित होती थी।

प्रथम शताब्दी ई. से ही होने वाला आर्थिक विकास, जिससे सामाजिक स्तरीकरण प्रभावित हुआ, कृषि उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। कृषि का विकास प्रथम शताब्दी ई. काल से ही प्रारम्भ हो गया था और तृतीय ई. तक आते–आते उसका स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो चुका था। लोहे से बने हुए कृषि उपकरणों के व्यापक स्तर पर प्रयोग ने कृषि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनकी सहायता से जंगली भूमि को भी कृषि योग्य बनाया गया।

कृषि के विकास और कृषि योग्य भूमि की वृद्धि से और अधिक संख्या में कृषकों की आवश्यकता पड़ी होगी। इन्हीं परिस्थितियों में शूद्र भी कृषक होने लगे। परन्तु ऐसे सभी शूद्र स्वतंत्र कृषक न होकर अधिकांशतः आर्थिकों के रूप में आश्रित कृषक ही हुए होंगे। आश्रित कृषकों की संख्या में इतनी वृद्धि हुई कि समाज में आर्थिकों का अलग से एक समुदाय बन गया।

कृषि के विकास के साथ ही साथ औद्योगिक विकास की प्रक्रिया भी प्रथम शताब्दी ई. से प्रारम्भ हो गई थी। तीसरी–चौथी शताब्दी ई. तक आते–आते उद्योग और औद्योगिक श्रेणियाँ पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। महावस्तु अवदान, अंगविज्जा और कामसूत्र से आलोच्यकालीन व्यावसायिकों की एक सूची प्रकाश में आती है, जिसमें कामसूत्र से आलोच्यकालीन व्यावसायिकों की एक वृहद् सूची प्रकाश में आती है जिसमें रजक, नापित, मालाकार, गान्धिक, सौरिक (सुरा विक्रेता), ताम्बूलिक, सौवर्णिक, प्रावारिक, शांखिक, वारिक, गौलिक, दधियक, पूपिक, दन्तकार, मणिकार, प्रास्ताविक, कोशाविक, कासिक, तैलिक धृतकुण्डिक, खण्डकारक, मोदकारक, कुण्डक, फलवणिज, मूलवणिज, शर्करावणिज, खण्डपाचक और सीधुकारक आदि सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ श्रेणियों को महावस्तु में "शिल्पायतन" का नाम दिया गया है। इसी प्रकार प्रमुख शिल्पकारों–स्वर्णकार (कंसालि), ताम्रकार (कम्मार), लोहकार (कञ्चर), राज अथवा प्रास्तरिक (काल) और बढ़ई (वइंजि)–को दक्षिण भारत में 'पञ्चानांवारु' की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार उत्तर भारत में "पञ्चकारुकी" का उल्लेख प्राप्त होता है। शिल्पकारों की अन्य प्रमुख श्रेणियों में लोहकार, ताम्रकार, पुरिमकार, कुम्भकार, चित्रकार, रंगरेज, तांती, सूत्रधार, नांवक, सुवर्णधोवक, बंसकार और सूचीवान वर्णित हैं। ये श्रेणियाँ कोई नई श्रेणियाँ नहीं थीं वरन् पूर्ववर्ती काल से ही इनका अस्तित्व था। इस काल में ये अधिक व्यवस्थित हुई। कृषि और उद्योग की ही भाँति व्यापार भी तीसरी शताब्दी ई. से लेकर सातवीं शताब्दी ई. के काल में भी बहुत उन्नत स्थिति में था। चौथी–पांचवीं शताब्दी ई. के काल में भी व्यापार की उन्नत स्थिति बनी रही।

टिप्पणी

सामाजिक–आर्थिक विकास के कारण सामाजिक स्तर के निर्धारण में अर्थ के महत्व में पहले से ही वृद्धि हो रही थी और गुप्तकाल में यह प्रवृत्ति विकसित रूप में दिखाई देती है। मनु के काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए सामाजिक श्रेष्ठता के निर्धारक तत्वों में आरोही क्रम से वित्त, बन्धु, वय, कर्म और विद्या को महत्व दिया गया है। इस प्रकार विद्या का महत्व सबसे अधिक था। द्विजाति और शूद्र वर्ण में शूद्र इन सबके साथ यदि वय में भी बड़ा हो तभी मनु ने उसे सम्मान का अधिकारी माना है। परन्तु चौथी–पाँचवीं शताब्दी ई. तक आते–आते सामाजिक श्रेष्ठता निर्धारित करने वाले इन पाँचों तत्वों की मान्यता अवरोही क्रम में स्वीकार की जाने लगी। याज्ञवल्क्य ने सामाजिक स्तर के निर्धारण में विद्या को सबसे कम और वित्त को सर्वाधिक महत्व दिया है। सामाजिक स्तर के निर्धारण में अर्थ के महत्व में वृद्धि के संदर्भ में नवीं शताब्दी ई. के मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि भी यही विचार व्यक्त करते हैं। मनु के उपर्युक्त कथन की व्याख्या करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि "यदि ब्राह्मण इन गुणों से हीन होगा तो जाति में उत्कृष्ट होते हुए भी इन पाँचों गुणों–वित्त, बन्धु, वय, कर्म और विद्या से युक्त क्षत्रिय उसके लिए पूजनीय होगा। इसी प्रकार गुणवान वैश्य गुणहीन क्षत्रिय की जाति में निम्न होते हुए भी पूज्य होगा। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक स्तर के निर्धारण में वर्ण का महत्व कम हो रहा था। मनु का यह सामान्य नियम कि विद्या के आधार पर ब्राह्मणों, बल के आधार पर क्षत्रियों, धन के आधार पर वैश्यों और आयु के आधार पर शूद्रों का सामाजिक स्तर निर्धारित होना चाहिए, याज्ञवल्क्य द्वारा संशोधित किया गया। कालान्तर में मेधातिथि के भाष्य में भी हमें यही प्रवृत्ति मिलती है, जिसमें मनु के इस कथन को अर्थवाद कहा गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में भूमिदान सम्बन्धी जो प्रशंसा मिलती है, वह भी सामाजिक स्तर के निर्धारण में धन–सम्पत्ति के बढ़ते हुए महत्व की ओर संकेत करती है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि जिसके पास हाथी, घोड़ा और रथ होगा कलियुग में वही राजा होगा, जो जिसको विपुल धन देगा वही उसका स्वामी होगा, अर्थ ही कुलीनता का हेतु होगा विद्या, आचार आदि नहीं कुलीनता और स्वामित्व में धनी और निर्धन का सम्बन्ध होगा, सभी धनाढ्य वर्ण और जाति के भेदभाव के बिना स्वामी होंगे और सभी निर्धन परिचार के। यद्यपि यह वर्णन अतिरञ्जित प्रतीत होता है, परन्तु इसमें सत्य का अंश अवश्य निहित है। इस प्रकार लौकिक परिस्थितियों का प्रभाव शास्त्रीय दृष्टिकोण पर भी दृष्टिगोचर होता है।

पांचवीं शताब्दी ई. के ज्योतिष–ग्रन्थों में भी सामाजिक स्तर के निर्धारण में अर्थ को ही महत्व दिया गया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में सार्थ के प्रधान के चुनाव के सन्दर्भ में अर्थ को ही सबसे अधिक मान्यता दी है। उसके अनुसार इस चुनाव में जाति, विद्या और वय केवल तभी निर्णायक होंगे जब प्रत्याशियों में धन की समानता हो। अन्यथा जो सबसे धनी होगा वही सार्थवाह होगा। स्पष्ट है कि यहां पर वराहमिहिर ने धन को प्रधान और जाति, विद्या तथा वय को गौण माना है। भृत्यों को भी बृहज्जातक और बृहत्संहिता में धन स्वीकार किया गया है और इनसे सम्पन्न होना सामाजिक श्रेष्ठता का द्योतक है। वृद्धयवनजातक में तो भृत्यों और पशुओं से वञ्चित होना दुर्भाग्य का सूचक बताया गया है। इस काल के अभिलेखों में भूमिदान करने पर स्वर्गलाभ और उसके अपहत करने पर नरक प्राप्ति का जो भय दिखाया गया है वह भी धन–सम्पत्ति के महत्व का ही द्योतक है।

दासता

टिप्पणी

भारत में दास–प्रथा की प्राचीनता सिन्धु सभ्यता के काल तक मानी जाती है। सिंधु सभ्यता के प्रमुख नगरों में बड़े–बड़े भवनों के साथ एक कमरे के मकान भी मिले हैं। उससे तत्कालीन समाज के आर्थिक–सामाजिक विभाजन का अनुमान लगाया जाता है। पुरातत्वविद जॉन मार्शल के अनुसार एक कमरे के मकान दासों के हो सकते हैं। यद्यपि यह केवल अनुमान है। सर मोर्टिमर व्हीलर ने हड़प्पा और सुमेरियन सभ्यता के बीच हाथीदांत, कपास के अतिरिक्त दासों के व्यापार की संभावना भी व्यक्त की है। उसके अनुसार लागेश में एक फैक्ट्री थी। उसमें 21 डबलरोटी बनाने वाले, 27 दासियां, 25 शराब खींचने वाले और छह दास, बुनकर और कताई करने वाले, लुहार तथा अन्य शिल्पकर्मी कार्य करते थे। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि हड़प्पा और सुमेरियन सभ्यता के बीच दासों का व्यापार भी होता था, तो सिंधु सभ्यता में दासों की मौजूदगी स्वतः प्रमाणित हो जाती है। दास प्रथा की उत्पत्ति का संबंध, कृषि के विकास से भी बताया जाता है। उसके लिए अतिरिक्त श्रम की आवश्यकता थी। इसलिए आरंभ में शक्ति के बल पर लोगों को खेतों में काम करने के लिए बाध्य किया जाने लगा। कुछ लोग जो प्रकृति–आधारित खेती की अनिश्चितता के स्थान पर निश्चित आजीविका को पसंद करते थे, वे दूसरों को अपना श्रम बेचने लगे होंगे। कालांतर में उसी से दास प्रथा का जन्म हुआ, फिर धीरे–धीरे इस प्रथा को समाज की स्वीकृति मिलने लगी। कृषि के अतिरिक्त घरों, उद्यमों में भी दासों की सहायता ली जाने लगी।

ऋग्वेद में 'दास' शब्द अनेक स्थानों पर आया है। उसमें दासों के खरीदने–बेचने, भेंट करने, उपहार अथवा दान में देने, यहां तक कि दान लेने के भी, अनेकानेक प्रसंग हैं। ऋग्वेद में 'दास', दस्यु तथा असुरों का उल्लेख आर्यों से भिन्न वर्ण के रूप में किया गया है। सुनीत कुमार चटर्जी ने भाषा–विज्ञान के आधार पर यह साबित करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद में जिन दास–दस्युओं का उल्लेख किया गया है वे द्रविड़ लोग थे तथा उन्हें ही सिंधु सभ्यता का निर्माता स्वीकार किया है। किन्तु इस विषय में हम निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते हैं।

ऋग्वेद में दासों की निम्नलिखित विशेषताएं बताई गई हैं–

(1) अकर्मन्– वे वैदिक क्रियाओं का सम्पादन नहीं करते थे।

(2) अदेवयु– वे वैदिक देवताओं की पूजा नहीं करते थे।

(3) अयज्वन्– वे यज्ञ करने वाले नहीं थे।

(4) अब्रह्मन्– वे श्रद्धा एवं धार्मिक विश्वासों से हीन थे।

(5) अन्यव्रत– वे वैदिकेत्तर व्रतों का पालन करने वाले थे।

(6) मृद्धवाक्– वे अपरिचित भाषा का प्रयोग करते थे।

(7) शिश्नदेवा– वे लिंग पूजा करते थे।

अतः स्पष्ट है कि ये अनार्यों की ही विशेषताएं हैं। आर्यों को भारत में अपना अधिकार स्थापित करने से पहले इनसे घोर संघर्ष करना पड़ा। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि वे चौड़े तथा पाषाण के बने किलों (पुरों) में रहते थे। आर्यों द्वारा इंद्र देवता से दासों को पराधीन करने के लिए जिस तरह बार–बार प्रार्थना की गई है, उससे लगता है कि यह संबोधन उस समय के पूरे आर्येतर समुदाय के लिए रहा होगा, जो

टिप्पणी

आर्यों के आने से पहले ही इस भू–भाग पर रहते आ रहे थे। इन किलों को इन्द्र ने विनष्ट कर दिया जिसके कारण वे 'पुरन्दर' नाम से विख्यात हो गए। एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र ने दास वर्ण को गुहा के नीचे ढकेल दिया (यो दासवर्ण अपरं गुहाकरू)। इस प्रकार अनार्य पराजित हुए तथा उन्हें दास बना लिया गया।

उत्तर–वैदिक साहित्य में भी हमें दासों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। तैत्तिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि उस समय दास–दासियों को उपहार में दिए जाने की प्रथा प्रचलित थी। इसमें सिर पर कलश रखकर नाचती–गाती हुई दासियों का वर्णन आया है। उपनिषद् साहित्य में भी दास–दासियों से सम्बन्धित कई उल्लेख प्राप्त होते है। कठोपनिषद में दासियां नचिकेता को अपनी ओर लुभाने का प्रयास करती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में यह उल्लेख है कि राजा ने राज्याभिषेक वाले पुरोहित को दस हजार दासियां और दस हजार हाथी दिए। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन है कि याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या की शिक्षा लेने के पश्चात जनक ने उनसे कहा, 'विदेहों के साथ मैं स्वयं को दास बनने की कामना के साथ, आपको दान–स्वरूप प्रदान करता हूं।' इनसे पता चलता है कि दास रखना सामाजिक कुलीनता का द्योतक समझा जाता था। राजाओं, महाराजाओं तथा कुलीन वर्ग के लोगों के यहां दास–दासियाँ सेवा कार्य किया करती थीं।

स्मृतिकाल तक दास–प्रथा एक संस्था के रूप में स्थापित हो चुकी थी। दास–दासियों से सम्बंधित कानून बनाए जाने लगे थे। याज्ञवल्क्य किसी दास के साथ विवाद न करने का परामर्श देते हैं। वहीं जैमिनी ने शूद्रों के दान को निषिद्ध माना है, जबकि मनु ने शारीरिक दंड की व्यवस्था में दास एवं पुत्र को एक ही श्रेणी में रखा है। आपस्तंबधर्मसूत्र में वर्णन है कि अतिथि के अकस्मात पहुंच जाने पर, स्वयं को, स्त्री या पुत्र को भूखा रखा जा सकता है, किंतु उस दास को नहीं, जो रात–दिन सेवारत रहता है। नारद के अनुसार यदि गृहस्वामी की इच्छा हो तो दास को पुत्र की भांति अपनी संपत्ति का एक हिस्सा प्रदान कर सकता है। वर्ण–व्यवस्था के बंधन दासों पर भी उसी प्रकार लागू होते थे। याज्ञवल्क्य तथा नारद के अनुसार ब्राह्मण के अलावा बाकी तीनों वर्ण ब्राह्मण के दास बन सकते थे। क्षत्रिय के दास केवल वैश्य अथवा शूद्र बन सकते थे। क्षत्रिय किसी वैश्य या शूद्र का तथा वैश्य शूद्र का दास नहीं बन सकता था। कात्यायन ब्राह्मण के दासत्व ग्रहण करने पर थोड़ी छूट प्रदान करते हैं। उनके अनुसार ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का भी दास नहीं बन सकता। यदि बनना ही चाहता है तो उसे किसी चरित्रवान एवं वैदिक ब्राह्मण का दास बनने की अनुमति है, वह भी केवल पवित्र कार्यों के लिए। कौटिल्य एवं कात्यायन के अनुसार यदि स्वामी दासी से संसर्ग करे और संतानोत्पत्ति हो तो दासी एवं पुत्र दोनों को दासत्व से मुक्ति मिल जाती है। दास की गवाही मान्य नहीं थी। परंतु विशेष परिस्थितियों में जब कोई अन्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो तो मनु ने नाबालिग, स्त्री, नौकर आदि के साथ दास की गवाही को भी मान्य ठहराया है।

मौर्य युग में हमें दास–प्रथा के प्रचलन के प्रमाण मिलते हैं। अर्थशास्त्र में दास प्रथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें पाँच प्रकार के दासों का उल्लेख है–

(1) उदरदास– भरण–पोषण के लिए दास बनने वाले।

(2) आत्मविक्रयी– किसी विशेष परिस्थिति में स्वयं को बेचकर दासता ग्रहण करने वाले।

टिप्पणी

(3) आत्माधाता– स्वयं को दास के रूप में धनी व्यक्ति के पास बंधक रखने वाले।

(4) दण्डप्रणीतदास– राज्य द्वारा लगाए गए आर्थिक दण्ड को न चुका सकने के कारण बनाए गए दास।

(5) ध्वजाहत– युद्ध में बन्दी बनाए गए दास।

अशोक के लेखों में भी दास–प्रथा का उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत मौर्यकाल का यूनानी राजदूत मेगस्थनीज तत्कालीन समाज में दास प्रथा प्रचलित होने का कोई उल्लेख नहीं करता। उनके अनुसार, 'समस्त भारतवासी स्वतंत्र हैं। उनमें कोई भी दास नहीं है। भारतीय विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देशवासियों की तो बात ही क्या है।' जबकि उन्हीं दिनों रचे जा रहे बौद्ध साहित्य में दासों का खुला उल्लेख है। क्या मेगस्थनीज भारतीय दास–प्रथा से सचमुच अनभिज्ञ था? अथवा उसने जानबूझकर उसे छिपाया था? जबकि वह स्वयं ऐसे देश से आया था, जहां जनसंख्या का करीब एक–तिहाई भाग दास की श्रेणी में आता था। परन्तु इस विवरण के बावजूद स्ट्रैबो, आनेसिक्रिट्स, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अशोक के अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि इस समय दास विभाग सूत्राध्यक्ष के अधीन होता था तथा भारत में दास–प्रथा विद्यमान थी। किन्तु यहां दासों की स्थिति प्राचीन रोम तथा यूनान के दासों की अपेक्षा बहुत अच्छी थी। उनके प्रति मानवीय व्यवहार किया जाता था। अशोक अपने लेखों में दासों तथा सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किए जाने का आदेश देता है। संभवतः इसी कारण यूनानी लेखकों को यहां दास–प्रथा दिखाई नहीं दी।

मनुस्मृति में सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया है–

(1) ध्वजाहत– युद्ध में बन्दी बनाया गया।

(2) भक्तदास– भोजन पाने की लालच से बना हुआ दास।

(3) गृहज– घर में उत्पन्न दासी–पुत्र।

(4) क्रीत– खरीदा गया दास।

(5) दत्रिम– किसी के द्वारा उपहार में दिया गया।

(6) पैत्रिक– पितृपरम्परा से चला आता हुआ।

(7) दण्ड दास– ऋणादि न चुका सकने के कारण दण्ड स्वरूप बनाया गया दास।

नारद तथा कात्यायन स्मृतियों में दासों की 15 कोटियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

(1) गृहजात (घर में पैदा हुआ), (2) क्रीत (खरीदा हुआ), (3) लब्ध (दान, उपहारादि में प्राप्त), (4) दायादुपगत (वसीयत में प्राप्त), (5) अनाकाल भृत (अकालवश दास बना हुआ), (6) आहित (बन्धक रखा गया), (7) ऋण दास (किसी ऋण चुकाने के उद्देश्य से बना हुआ), (8) युद्ध प्राप्त (युद्ध में जीता गया), (9) पणेजित (10) उपागत (स्वेच्छा से बना), (11) प्रव्रज्यावसित (व्रात्य संन्यासी जिसने अपने आपको दास बनने के लिए प्रस्तुत किया हो), (12) कृत (जो कुछ दिनों के लिए स्वेच्छापूर्वक दास बना हो), (13) भक्त–दास (स्वामी के प्रति भक्ति के कारण बना हुआ दास), (14) बडवहत (दासी के प्रेम में फंसकर स्वयं को दास बनाया हुआ) तथा (15) आत्म विक्रेता (स्वयं को बेच देने वाला)।

टिप्पणी

दासों के उपर्युक्त पन्द्रह प्रकार ईसा की चौथी–पांचवीं शताब्दियों से भारतीय समाज में मान्य हो गए। किन्तु भारत के प्राचीन व्यवस्थाकारों ने दास–प्रथा की निन्दा की है तथा दासता से मुक्ति का विधान भी प्रस्तुत किया है। कौटिल्य तथा मनु दोनों ने इस बात पर बल दिया है कि आर्यों को दास नहीं बनाया जा सकता, बल्कि इस कार्य के लिए केवल शूद्र वर्ण ही है। प्रायः सभी व्यवस्थाकार इस बात से सहमत हैं कि आर्थिक कारणों से दास बने हुए व्यक्ति अपने स्वामी को मूल्य चुका कर दासत्व से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। जो व्यक्ति धन देने में असमर्थ होते थे उन्हें एक निश्चित अवधि तक सेवा करने के पश्चात् मुक्ति मिल सकती थी। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा दी गई सेवाओं को ही मूल्य माना जाता था। दासों को अपनी अलग जीविका कमाने का अधिकार दिया गया है। यह उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी। साथ ही वे अपनी पैतृक सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकने के भी अधिकारी थे। इस धन का उपयोग वे अपनी मुक्ति के लिए कर सकते थे। युद्ध के समय बन्दी बनाए गए दासों को एक निश्चित समय तक सेवा कर लेने या बन्दी बनाए जाने के समय उसके ऊपर जो धन व्यय हुआ हो उसका आधा भाग अपने स्वामी को देकर स्वतंत्र हो जाने का अधिकार था। जो स्वामी दास से निष्क्रिय मूल्य लेकर भी उसे स्वतंत्र नहीं करते थे उनके लिए अर्थशास्त्र में दण्ड का प्रावधान किया गया है। यह भी व्यवस्था दी गई है कि यदि स्वामी के सम्पर्क से दासी को पुत्र उत्पन्न हो जाय तो दासी तथा उनके पुत्र दोनों को ही दासता से मुक्ति मिल जाएगी। बौद्ध ग्रन्थ दिग्घनिकाय में दासत्व से मुक्ति के तीन उपाय बताए गए हैं–(1) दास द्वारा संन्यास ग्रहण कर लेने पर, (2) धन देकर, (3) स्वामी द्वारा स्वतंत्र कर दिए जाने पर। एक जातक में कहा गया है कि यदि कोई स्वामी संन्यास ग्रहण कर ले तो उसके सभी दास स्वतंत्र हो जाएंगे। नारद के अनुसार यदि कोई दास अपने स्वामी की किसी घोर विपत्ति से रक्षा करता था तो वह स्वतंत्र होने का अधिकारी था। स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने भी दास को धन देकर मुक्ति पाने का अधिकार दिया है। नारद ने कुछ प्रकार के दासों जैसे उपहार में मिले हुए, खरीदे गए, उत्तराधिकार में प्राप्त, स्वयं अपने को बेचने वाले आदि की मुक्ति के लिए उनके स्वामियों की सम्पति को अनिवार्य बताया है। कौटिल्य के अनुसार स्वामी की इच्छा के विरुद्ध उसके घर से भागने वाला दास कभी भी दासता से मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता है।

यद्यपि प्राचीन व्यवस्थाकारों ने दास प्रथा की जगह–जगह आलोचना की है तथा उससे मुक्त होने के लिए व्यापक उपायों का निर्देश किया है तथापि यह स्पष्ट है कि समाज में घरेलू दासों को रखने की प्रथा बनी रही। 'लखपति' नामक रचना में दासियों के विविध कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि कभी–कभी स्वामियों के अत्याचार से तंग आकर दासियां विष खाकर या कुएं में कूदकर आत्महत्या कर लेती थीं। कुलीन परिवारों में दासों के अतिरिक्त बहुत संख्या में अन्य सेवक भी रहते थे। सामान्य सेवकों तथा दासों के कार्यों में अन्तर था। सेवक केवल शुद्ध कार्य ही करते थे जबकि दासों को झाड़ू लगाने, मैल साफ करने, स्वामी की निजी सेवा करने जैसे निम्न कार्यों में नियोजित किया जाता था।

गुप्तोत्तरकाल या पूर्वमध्यकाल (600 से 1200 ई.) के साक्ष्यों–स्कन्दपुराण, इत्सिंग, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, देवण्णभट्ट, अपरार्क, हेमचन्द्र, कल्हण, हरिश्चन्द्र, क्षेमेन्द्र आदि से उस काल की दास–प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। विवेचित काल में विज्ञानेश्वर ने

टिप्पणी

'मिताक्षरा' में 15 प्रकार के दासों का वर्णन किया है। विवेचित काल में दास–दासियों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई जिसका प्रमुख कारण था–सामंतवादका चरमोत्कर्ष, युद्ध में बने दास तथा मुस्लिम आक्रमण (महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी, बख्तियार खिलजी आदि)। इस समय स्वतंत्र शासक, सामंत, श्रेष्ठि तथा गणिकाएं भी दास–दासियाँ रखते थे। भू–अनुदानों (Land grants) की बढ़ती हुई संख्या के कारण इस समय कृषि–दासों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। केवल यही नहीं, भारत से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दासों का व्यापार भी किया जा रहा था जिससे दासों की संख्या में अभिवृद्धि हो रही थी। यह स्थिति कात्यायन के बाद बहुत अधिक दिखाई पड़ती है क्योंकि सइमराइच्चकहा, कथासरितसागर, उपमितिभव प्रपंचकथा, लेखपद्धति, गणितसारसंग्रहण आदि अनेक ग्रन्थों में दासों के व्यापार के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पूर्व–मध्यकाल में दास–दासियों की स्थिति में गिरावट आई। दासीपुत्र अब अधिक निन्दासूचक हो गया। बाणभट्ट के अनुसार नाम के अन्त में दास शब्द आना ही मनुष्य के सामाजिक स्तर को अत्यन्त हीन बना देता है।

इस प्रकार विभिन्न प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि भारत में सिंधु सभ्यता से लेकर पूर्व–मध्यकाल तक किसी न किसी रूप में दास प्रथा विद्यमान रही। किन्तु यह प्राचीन यूनान तथा रोम जैसी अमानवीय नहीं थी। यह कहना उचित नहीं है कि यूनान तथा रोम में जो कार्य दासों द्वारा किया जाता था, वही कार्य भारत में शूद्र वर्ग करता था। भारतीय तथा यूनानी–रोमन दासों की जीवन पद्धति परस्पर भिन्न थी।

अपनी प्रगति जांचिए

3. किस स्मृतिकार ने शूद्रों के दान को निषिद्ध माना है?

(क) जैमिनि (ख) गौतम

(ग) मनु (घ) मेधातिथि

4. विज्ञानेश्वर ने 'मिताक्षरा' में कितने प्रकार के दासों का वर्णन किया है?

(क) पांच (ख) दस

(ग) पंद्रह (घ) बीस

2.4 आश्रम, पुरुषार्थ और संस्कार

आश्रम व्यवस्था की स्थापना मनुष्य के अच्छा एवं अर्थपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए की गई। यह जीवन की एक सुविचारित योजना थी। जीवन के उद्देश्य दो भागों में बाँट लिए गए– तात्कालिक और अन्तिम। तात्कालिक उद्देश्यों में इसी संसार में सुख–सुविधा प्राप्ति को स्थान दिया गया। अन्तिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष का विधान है। इसके लिए यह आवश्यक था कि इस संसार में कर्मनिष्ठ जीवन जीकर अन्त में मोक्ष की ओर उन्मुक्ता पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। कुमार स्वामी आश्रमों को पूर्णता प्राप्ति का साधन मानते हैं। ऐहिक और पारलौकिक जीवन में, आश्रम व्यवस्था द्वारा अनूठा समन्वय स्थापित हुआ है।

टिप्पणी

आश्रम का अर्थ

हिन्दू मान्यता के अनुसार मनुष्य का जीवन एक प्रकार से शिक्षा एवं आत्मसंयम का जीवन है। इस शिक्षा की अवधि में उसे प्रशिक्षण के चार पड़ावों से गुजरना पड़ता है। इन्हीं पड़ावों को आश्रम कहा गया है जिनसे होता हुआ प्राणी अपने गंतव्य पर पहुँचता है। आश्रम शब्द की रचना संस्कृत की 'श्रम' धातु से हुई है जिसका अर्थ है उद्योग करना या परिश्रम करना। यहां परिश्रम के दो अर्थ अभिप्रेत हैं। प्रथम, वह स्थान जहां परिश्रम किया जाता है और द्वितीय परिश्रम करने की क्रिया का बोध कराता है। पहले अर्थ के अनुसार आश्रम रुकने, ठहरने के स्थल हैं। जीवन के ये पड़ाव स्थल या विश्राद्न स्थल इस उद्देश्य से बनाए गए हैं कि मनुष्य अपनी जीवन की यात्रा से उत्पन्न थकान को वहां दूर कर सके और भावी यात्रा तय करने की शक्ति एकत्रित कर सके। पी. एच. प्रभु का मानना है कि अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य द्वारा की जाने वाली जीवन यात्रा के मध्य पड़ने वाले विश्राम स्थल के रूप में आश्रमों को मानना चाहिए।

आश्रम के प्रकार

जीवन के कुल चार आश्रम हैं – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास।

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम

यह मनुष्य के जीवन का प्रथम सोपान है। यह आश्रम साधारणतः 25 वर्ष की आयु तक माना गया है। यह आश्रम विद्या और शक्ति की साधना का आश्रम है। उस काल में शिक्षा का अर्थ वेदाध्ययन था। उस समय आज जैसी शिक्षा व्यवस्था नहीं थी। विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए गुरुकुल में रहते थे। एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विभिन्न विद्याओं मे निपुणता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास इसी आश्रम में होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम का आयोजन और महत्व विशेष रूप से द्विजों के लिए है जिन्हें विभिन्न वेदशास्त्रों और विद्याओं की साधना की अनुमति है। इस आश्रम मे यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार के पूर्ण होने पर द्विज प्रवेश करता है, जिसकी आयु सामान्यतः 8 से 16 वर्ष की होती है। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार एक ब्राह्मण साधारणतः 8 से 10 वर्ष, क्षत्रिय 10 से 14 वर्ष की और वैश्य 12 से 16 वर्ष की आयु के मध्य उपनयन संस्कार के माध्यम से ब्रह्मचर्य आश्रम मे प्रवेश कर सकता है। गुरु को जब यह ज्ञात हो जाता था कि शिष्य में ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा जागृत हो गई है, तब वह उसे वेदों के ज्ञान से अवगत कराता था। विद्यार्थी शिक्षित होकर जीवन के दूसरे आश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थ आश्रम का जीवन उत्तरदायित्वों से भरा हुआ होता था। अतः इन उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए बालक को इस आश्रम में तैयार किया जाता था।

ब्रह्मचर्य जीवन तप और इंद्रिय संयम का जीवन है। ब्रह्मचारी को अलंकरण, विलासिता की वस्तुओं और प्रमाद एवं आलस्य उत्पन्न करने वाले पदार्थों से दूर रहने की सलाह थी। इस आश्रम में रहकर वह उन कर्मों को करे जिससे उसके नैतिक चरित्र का निर्माण होता रहे।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य : मनु ने ब्रह्मचारी के लिए कुछ कार्य करने की अनुमति दी है और कुछ कार्य उसके लिए वर्जित ठहराये हैं। ब्रह्मचारी के कर्तव्यों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

टिप्पणी

- ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत (उपवति सूत्र) आर्जन (मृगचर्म), मेखला और दण्ड को नियमपूर्वक धारण करता रहे।
- भोजन के लिए गृहस्थों से भिक्षा प्राप्त करे किन्तु निम्न व पातकी लोगों से तथा साधारणतः अपने कुलबान्धव, जाति व गुरूकुल से भिक्षा प्राप्त न करे। इसके अतिरिक्त वह भोजनाधिक्य से बचे।
- प्रतिदिन स्नान करने के पश्चात् देवता और ऋषियों को जल दे।
- मांस, मधु, सुगंध, माला, रस, स्त्री, सभी प्रकार के आसव और प्राणियों की हिंसा से दूर रहे।
- शरीर में उबटन, आँख में अंजन, जूते और छाते के प्रयोग से दूर रहे।
- काम, क्रोध और लोभ से बचता रहे।
- नाच, गाना, बजाना से दूर रहे।
- जुआ खेलना, कलह, निंदा, झूठ, स्त्रियों को सकाम दृष्टि से देखना एवं उनका आलिंगन करना आदि सब वर्जित है।
- ईश्वर के विषय में ज्ञान अर्जित करना, पवित्र जीवन व्यतीत करना, शरीर और मस्तिष्क को अनुशासित रखना, वेदों का अध्ययन करना, सादा जीवन एवं उच्च आदर्श को अपनाना ब्रह्मचारी के मुख्य कर्तव्य हैं।

(2) गृहस्थ आश्रम

साधारणतः ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त होने अर्थात 25 वर्ष की आयु तक व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से इतना समर्थ हो जाता है कि वह जीवन मे अर्थ और काम की उचित साधना और विभिन्न पारिवारिक व सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सके। सामान्यतः इस आयु तक व्यक्ति अपनी शिक्षा पूर्ण कर विवाह करके, गृहस्थ मे प्रवेश करता है। जीवन का यही 25 से 50 वर्ष तक का भाग गृहस्थ आश्रम कहलाता है। सामाजिक जीवन का आरंभ तथा अन्त गृहस्थ आश्रम से होता है। सामाजिक दृष्टिकोण से गृहस्थ आश्रम सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। समावर्तन संस्कार के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का विधान था। इस आश्रम में उसे वैवाहिक जीवन–यापन करना होता था, क्योंकि घर वही होता है, जहां घर वाली हो (न गृहं काट पाषाणैः दायित्ता यत्र तद् गृहम्)। विवाह इसलिए आवश्यक था क्योंकि विवाह गन्दगी और विकारों को स्वच्छ करके मनुष्य को निर्मल एवं उज्ज्वल बनाता है। इसका प्रभाव संस्कारक होता है। विवाह मनुष्य में सेवा तथा परोपकार की भावनाओं में वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त 'पुत्' नाम नरक से बचने और पितृ ऋण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भी विवाह आवश्यक माना जाता था। विवाह मोक्षदायी समझा जाता था। वैदिक युग से लेकर धर्मशास्त्रों तक पंचमहायज्ञों को करना गृहपति का प्रमुख कर्तव्य बताया गया है। ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ पांच यज्ञ हैं जिनका अनुष्ठान गृहस्थ को प्रतिदिन करना चाहिए। ऋणों को चुकता करने के लिए इन पांच यज्ञों

के अनुष्ठान की व्यवस्था की गई थी। पांच महायज्ञों की परिभाषा मनुस्मृति में बहुत सुन्दर एवं सरल ढंग से दी गई है। श्लोक प्रस्तुत है।

अध्यापनं ब्रह्म यज्ञः पितृ यज्ञस्तु तर्पणम्।

होमोदैवो बलिभाँतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्।।

टिप्पणी

ब्रह्मयज्ञ– इस यज्ञ को करने से ऋषि ऋण से मुक्ति प्राप्त होती है। ऋषियों द्वारा रचित साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन पर ब्रह्मयज्ञ में बहुत महत्व दिया गया है। इस यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य वैदिक ज्ञान और परम्परा को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना है।

पितृयज्ञ– ऐसी मान्यता है कि गृहपति परिवार के अतिरिक्त मनुष्येतर प्राणियों (पितरों और देवताओं) से भी जुड़ा है। भगवद् गीता के अनुसार जिन पितरों को जल और पिण्ड नहीं प्राप्त होते हैं वे पितर लोक से गिर पड़ते हैं अर्थात् वे वहां नहीं रह पाते हैं (पतन्ति पितरौ हेयषां लुप्त पिण्डोदक क्रिया)। पितृ यज्ञ के माध्यम से पितरों को जल मिलता रहता है।

देवयज्ञ– गृहपति का यह कर्तव्य है कि वह देवताओं को प्रसन्न रखे क्योंकि वे वांछित फलदाता हैं। उनके अशुभ फलों से बचने और शुभ फलों को प्राप्त करने हेतु उन्हें प्रसन्न रखना आवश्यक है। उन्हें प्रसन्न रखने का साधन होम अथवा हवन है। इसीलिए हवन करने को ही देवयज्ञ बताया गया है। हवन में डाली गई आहुति सूर्य को मिलती है। सूर्य से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा होती है। इसी कारण गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन होम करें।

भूतयज्ञ– सबको भोजन कराने के पश्चात खाने की भावना भूतयज्ञ का निचोड़ है। इस यज्ञ में सभी प्राणियों को बलि (भोज्य पदार्थ का गोलक) अर्पित करने का विधान है। यह बलि हाथ से सफाई करके पानी छिड़क कर पवित्र की गई भूमि पर रख दी जाती है। यह बलि देवताओं, दिवाचर और निशाचर प्राणियों, पितरों कीड़े–मकोड़ों, पशु पक्षियों आदि के निमित्त होती है। इसमें विशाल प्राणि समूह के पोषण का भाव निहित है।

नृयज्ञ– अतिथि पूजन ही नृयज्ञ है। अतिथि का यहां तात्पर्य ऐसे मनुष्य से है जिसके आने और जाने की तिथि का निश्चय न हो (न विद्यते तिथिर्यस्य सः अतिथि)। अतिथियों का समुचित रूप से सम्मान करना गृहस्थ का अति आवश्यक कर्तव्य था। मनु के अनुसार गृहस्थ के घर एक रात ठहरने वाला ब्राह्मण अतिथि कहलाता है। बौधायन धर्म सूत्र में लिखा है कि अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय, गृहस्थ को उसकी सेवा करनी चाहिए। अतिथि की तुलना देव से की गई है। भारत आज भी अपने आतिथ्य के लिए विश्वप्रसिद्ध है। अतिथि पूजन से धन, आयु, यश तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। पंचमहायज्ञों के अतिरिक्त गृहस्थ का दायित्व था कि वह ब्राह्मणों को दान दे। पशु, पक्षियों एवं कीटों को संतुष्ट करना उसका कर्तव्य था। गृहस्थ की जिम्मेदारियां असीमित थीं।

गृहस्थ भिक्षा देता है और इसी भिक्षा से अन्य आश्रम के लोगों का पोषण होता है। इसलिए यह श्रेष्ठ है। जैसा अभी संकेत किया जा चुका है कि यह विशाल प्राणि समूह को खिलाने पिलाने का कार्य करता है। यह इसको श्रेष्ठ साबित करने के लिए

टिप्पणी

पर्याप्त है। इंद्र का कथन है कि गृहस्थ का जीवन स्वयं अत्यधिक श्रेष्ठ और पवित्र है और इसी के द्वारा जीवन के उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति संभव है। वंश प्रवाह और समाज प्रवाह सन्तानोत्पादन पर निर्भर है जो ग्रहस्थ आश्रम में ही संभव है। मानव प्रजाति के प्रवाह की निरंतरता को बनाए रखने में गृहस्थ आश्रम की भूमिका श्रेष्ठ है। अतः इसकी महानता स्वतः सिद्ध है। ऋणों के उद्धार की दृष्टि से यह आश्रम सर्वश्रेष्ठ है। गृहस्थ विधसाशी होता है। सबको भोजन कराने के पश्चात शेषान का उपयोग करने वाला विधसाशी कहलाता है। सबको भोजन कराकर भोजन करने वाला महान, प्रतिष्ठित एवं प्रशंसनीय होता है। जिस आश्रम में ऐसे व्यक्ति हों वह आश्रम महान प्रवर और प्रशंसनीय होगा। चारों पुरुषार्थों की पूर्ति अकेले इस आश्रम में हो, संभव है। इस कारण इसकी प्राधान्य प्रतिष्ठा असंदिग्ध है।

गृहस्थ आश्रम संसार को भोगने का आश्रम था। इस आश्रम में व्यक्ति का प्रमुख उद्देश्य श्रम और ऐच्छिक सुखों की प्राप्ति होता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह धर्म और मोक्ष के महत्व को पूर्णतया समझ लेता था। अर्थ एवं काम भी केवल व्यक्ति के ऐच्छिक सुख के लिए नहीं थे। उनके द्वारा वह समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करता था तथा साथ ही अपनी आध्यात्मिक उन्नति करता था।

गृहस्थाश्रम के उपर्युक्त महत्व के आधार पर ही महाभारत और धर्म शास्त्रों द्वारा यह विश्वास दिलाया गया है कि गृहस्थाश्रम व्यतीत किए बिना स्वर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। अन्य सभी आश्रम किसी न किसी रूप में वैयक्तिक कल्याण से ही सम्बद्ध हैं जबकि गृहस्थाश्रम पूर्णतया समष्टिवादी है। इसी आधार पर यह कहा गया है कि गृहस्थाश्रम वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व बना हुआ है।

(3) वानप्रस्थ आश्रम

महाभारत में स्थान–स्थान पर वानप्रस्थ आश्रम का उल्लेख मिलता है जिससे हमें उस काल में इस आश्रम की स्थिति का ज्ञान होता है। जब गृहस्थ पुत्र–पौत्र वाला होकर आनन्द से संसार यात्रा कर रहा हो तभी उसे संसार से निःस्पृह हो जाना चाहिए। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति अपनी आयु का तृतीय भाग (50 से 75 वर्ष) व्यतीत करता है। शरीर में वृद्धावस्था की सूचना मिलते ही गृहस्थ को अपनी जिम्मेदारियां अपने पुत्र के हाथों में सौंपकर संसार से विमुख होकर जीवन यापन करना चाहिए। इस आश्रम के व्यक्ति को अरण्यवासी बनना होता था। जीवन के द्वितीय भाग को गृहस्थ में व्यतीत करने के बाद मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह वन में चला जाय। घर छोड़कर वन में रहना पड़ता है इसीलिए इस आश्रम का नाम वानप्रस्थ है। वहां उसका समाज से विमुख होने के लिए समाजीकरण होता था। इस आश्रम में संन्यासी बनने की तैयारी की जाती थी। यदि पत्नी भी पति के साथ वनगमन करने की इच्छुक हो तो गृहस्थ पत्नी सहित वन की ओर प्रस्थान करे, नहीं तो पत्नी को पुत्रादि के भरोसे छोड़ जाए।

वानप्रस्थ लेने के पश्चात् उपनिषद् आदि आरण्यक शास्त्रों को अध्ययन करने का नियम था। वानप्रस्थ आश्रम में यज्ञ और अध्ययन के अतिरिक्त व्यक्ति नियम और अनुशासन का जीवन जीता था। परिवार और समाज के बन्धनों से ऊपर उठने के लिए उसे तैयारी करनी पड़ती थी। वानप्रस्थी तीर्थ क्षेत्रादि में अथवा नदी के उद्गम जैसे वन में जाकर तपस्या करते हुए काल यापन करते थे। उनका साधारण जन–समाज

टिप्पणी

के साथ आचार–व्यवहार खान–पान, पहनने–ओढ़ने में कोई मेल नहीं था। गृहस्थ द्वारा प्रयोग किए जाने वाले वस्त्राभूषण व खाद्य उनके लिए सर्वथा वर्जनीय थे। वन्य औषधि, फलमूल व शुष्क पत्र आदि उनकी भूख मिटाते थे। भूमि, शिलातल, बालू आदि उनकी शय्या होती थी। उनके वस्त्र कास, कुश, चर्म एवं वल्कल होते थे। उनके लिए हजामत बनाना निषिद्ध था। एकमात्र धर्मानुष्ठान उनके शरीर धारण का उद्देश्य था। सर्वभूत में मैत्री रखना ही वानप्रस्थ धर्म का मर्म है। इस आश्रम के दौरान स्नानादि से निवृत्त होकर होम का अनुष्ठान करना, समिधा, कुशा, पुष्प आदि आनुष्ठानिक द्रव्यों का संग्रह करना एवं परमतत्व के साक्षात के अनुकूल चिन्ता में निमग्न होकर कालयापन करना ही वानप्रस्थ धर्म है। जो इस प्रकार इस आश्रम के कर्मो का अनुष्ठान करते हैं वे अनायास समस्त कलुषताओं से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं।

(4) संन्यास आश्रम

संन्यास का अर्थ पूर्ण वैराग्य है। यह जीवन का अन्तिम पड़ाव स्थल है। यह बौद्धिक चेतना तथा आध्यात्मिक ज्ञान की चरम अवस्था की प्राप्ति का साधन माना गया है। जगत के प्रति राग–अनुराग का पूर्णतः त्याग करके संन्यास आश्रम में प्रवेश किया जाता था। वानप्रस्थ का काल यापन करने के पश्चात् जीवन के अंतिम भाग में (75 से 100 वर्ष) संन्यास ग्रहण का विधान था। शरीर जब नितान्त जराग्रस्त हो, विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो, उस समय प्राजापत्य का अनुष्ठान करके सब कुछ त्याग करने का विधान बनाया गया है। शास्त्रीय विधान में विहित कर्म का त्याग करना ही संन्यास है। अगर इच्छा हो तो संन्यास ग्रहण करने से पहले अपने श्रद्धादि स्वयं ही सम्पादित किए जा सकते हैं। संन्यासी एकाग्रचित्त होकर ईश्वर में लीन होने का प्रयास करे। उसे एकाकी रहना चाहिए। समत्व बुद्धि का विकास संन्यासी के लिए अति आवश्यक है। अपने मन, चित्त और बुद्धि को ईश्वर में लगाए। चित्त वृत्तियों का निरोध कर अन्तर्यामी भाव से चराचर जीवों में उसी परमात्मा की सत्ता को देखे। वह निष्काम कर्म करते हुए कर्मों की सीमा से ऊपर उठकर मृत्यु के पश्चात तेजोमय लोक में जाता है जहां उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

संन्यासी को धैर्यपूर्वक कठोर वचन सुनने चाहिए और तिरस्कार के बदले आशीर्वाद देने चाहिए। उसे केवल सत्य बोलना चाहिए। संन्यास आश्रम इहलौकिक जीवन में ही पारलौकिक जीवन में प्रवेश कराता है। संन्यासी को अपने विस्तृत ज्ञान और अनुक्रम से समाज का मार्ग प्रदर्शन करना चाहिए। संन्यासियों के लिए विभिन्न नामों का प्रयोग किया जाता था। सूत्र साहित्य में उन्हें संन्यासी के अतिरिक्त भिक्षु, परिव्राजक, मौन आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।

पुरुषार्थ

प्राचीन काल के भारतीय विचारकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत करने के लिए पुरुषार्थ के नाम से अपने दार्शनिक विचारों का नियोजन और व्याख्या की थी। इन विचारकों का मानना है कि जीवन के सुख के दो आधार हैं–भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिक सुख के अन्तर्गत सांसारिक आकर्षण और ऐश्वर्य को प्रधान माना गया है तथा आध्यात्मिक सुख के अन्तर्गत त्याग और तपस्या आते हैं। भौतिक सुख क्षणिक और अस्थिर है जो असत्य है तथा आध्यात्मिक सुख स्थायी और परमानन्द है, जो सत्य है। इसीलिए भारतीय जीवन दर्शन के मूल

टिप्पणी

में भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच समन्वय और सन्तुलन का प्रभाव दिखाई पड़ता है। जीवन की सार्थकता भी इसी में है कि दोनों का समन्वित और संतुलित रूप ग्रहण किया जाए। पुरुषार्थ इस प्रयास का परिचायक है। पुरुषार्थ में भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तत्व निहित हैं।

पुरुषार्थ एक नैतिक व्यवस्था है जो व्यक्ति को समाज एवं समाजेतर आयाम से जोड़ती है। यह मनुष्य का वह आधार है जिसके माध्यम से वह अपना जीवन जीता है तथा विभिन्न कर्तव्यों का मनोनिर्देशपूर्वक पालन करता है। चारों पुरुषार्थों की पूर्ति द्वारा मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष की पूर्ति होती है तथा उसका सर्वांगीण विकास होता है। उपनिषद् में लिखा है कि "संसार को पूजने वाला अंधकार में हैं लेकिन उससे भी अधिक अंधकार में वे हैं जो केवल ब्रह्म को पूजते हैं, जो दोनों को पूजता है वह अमरत्व को प्राप्त होता है"। पुरुषार्थ सिद्धान्त मनुष्य को संसार और ब्रह्म दोनों से जोड़ता है। अतः सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करके मोक्ष प्राप्त करने हेतु इस सिद्धान्त की हिन्दू मनीषियों द्वारा रचना की गई।

पुरुषार्थ का अर्थ

पुरुषार्थ 'पुरुष' और 'अर्थ', इन दो शब्दों से बना है। पुरुष का अर्थ 'विवेकशील प्राणी' तथा अर्थ का तात्पर्य 'लक्ष्य' है। अतः पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ हुआ विवेकशील प्राणी का लक्ष्य। मनुष्य इस संसार में और परलोक में जो कुछ प्राप्त करना चाहता है उस सबकी अभिव्यक्ति ही पुरुषार्थ है। यह मनुष्य के प्रयोजन एवं उसके प्राप्य का द्योतक है। पुरुषार्थ मनुष्य के उद्देश्य अथवा लक्ष्य का विषय है। यह वह मुख्य प्रयोजन है जिसकी प्राप्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्न करना मनुष्य के लिए आवश्यक एवं कर्तव्य हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मनुष्य के चार पुरुषार्थ माने गए जो चतुर्वर्ग कहे गए। पुरुषार्थ के अन्तर्गत उन सभी क्रियाओं का समावेश है जो इस जीवन को सुखमय, समृद्ध एवं सार्थक बनाती है। इन्हीं पुरुषार्थों के बल पर व्यक्ति अपने समस्त कार्य उत्साह के साथ करता है तथा जीवन, जगत और परमात्मा के प्रति अपनी कर्मनिष्ठा ज्ञापित करता है। पुरुषार्थ में तात्कालिक और चरम उद्देश्यों को स्थान प्राप्त है। पुरुषार्थ मनुष्य जीवन को संतुलित स्वरूप प्रदान करते हैं। उसकी लौकिक एवं पारलौकिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए पुरुषार्थ के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया गया। साधारणतया पुरुषार्थ की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि "पुरुषरर्थ्यति पुरुषार्थ" अर्थात पुरुष की इष्ट वस्तु ही पुरुषार्थ है। इसके अन्तर्गत मनुष्य लौकिक उपभोग के साथ धर्म का अनुसरण करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष को प्राप्त करता है क्योंकि हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार जीवन और मत्यु से छुटकारा पाना, संसार में आवागमन के चक्कर से मुक्ति प्राप्त करना और ईश्वर के समीप पहुंचना ही मोक्ष है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त है 'काम करो'। निरुद्यम दुख का कारण बनता है। पुरुषार्थ के माध्यम से मनुष्य को निरुद्यम से दूर रहने या बचने की सलाह दी गई है। परवर्ती पौराणिकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने को पुरुषार्थ कहा है। अतः पुरुषार्थ अपने सभी अर्थों में मानव जीवन को सफल एवं सार्थक बनाने का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है।

टिप्पणी

पुरुषार्थ के प्रकार

'त्रिवर्ग' की धारणा का विकास मनु द्वारा किया गया है जिसमें तीन पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ एवं काम– सम्मिलित हैं। चौथा पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष को जीवन का अन्तिम उद्देश्य मानकर त्रिवर्ग पर ही बल दिया गया है। अतः धर्म, अर्थ और काम की एक निश्चितता एवं क्रमिक व्यवस्था द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के इस विधान को ही पुरुषार्थ कहते हैं।

(1) धर्म

'धर्म' शब्द का अर्थ है धारण करना। श्रुति तथा स्मृति में बताया गया है कि सदाचार ही परम धर्म है। भारतीय संस्कृति का मूल–मन्त्र धर्म ही है। धर्म आध्यात्मिकता तथा नैतिकता का समन्वय है। धर्म परमार्थ का सम्पादन करता है। धर्म का मात्र उद्देश्य है विषयों से चित्तवृत्तियों का निरोध कर आत्मज्ञान प्राप्त करना। सदाचार, अहिंसा, दान, इन्द्रिय संयम इत्यादि को परम धर्म माना गया है। धर्म व्यक्ति को कर्तव्यों, सत्कर्मों एवं गुणों की ओर ले जाता है। वास्तव में धर्म का अर्थ बहुत व्यापक है। पुरुषार्थ प्राचीन हिन्दू समाज में जीवन के एक परम्परागत मूल्य के रूप में है और इसके अन्तर्गत 'धर्म' एक नियंत्रणकारी तत्व के रूप में सन्निहित रहा है। इससे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था निर्धारित होती है। वस्तुतः धर्म व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की संहिता है जो उसके कार्यों को देश, काल परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित, नियमित और नियंत्रित करता है तथा उसके स्वस्थ उज्ज्वल जीवन जीने के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। यह मानव रूपी पशु की पाशविक प्रवृत्तियों पर अंकुश इसलिए लगाता है कि कहीं वह अर्थ और काम के सेवन में अनैतिक एवं अनुचित साधनों का प्रयोग कर पथभ्रष्ट न हो जाए। धर्म मनुष्य को अपने न्यायोचित पथ पर चलते रहने के लिए बाध्य करता है। दुर्खीम (Durkheim) नामक विद्वान् ने बाध्यता को सामाजिक तथ्य की एक विशेषता बताया है। अतः धर्म एक सामाजिक तथ्य है या नैतिक नियमों का ठेकेदार। नैतिकता और न्याय की रक्षा के लिए धर्म का विधान है। अनैतिकता उसी प्रकार से धर्म से घबराती एवं भयभीत रहती है जिस प्रकार मोर पक्षी से सांप। जहां मोर होते हैं वहां या तो सांप रहते नहीं हैं और रहते भी हैं तो दबे–दबे और सहमे–सहमे। अनैतिकता नैतिकता के सामने सर उठाने का साहस नहीं करती। धर्म वह लक्ष्मण रेखा है जिसके बाहर जाने से जीवन रूपी सीता का अधर्म द्वारा अपहरण हो जाने की सम्भावना है। अतः अर्थ एवं काम की पूर्ति करते समय मनुष्य को धर्म की परिधि में रहने के लिए कहा गया है। इसी अर्थ में धर्म मानव जीवन का अनुशासक एवं नियंत्रक है और इसी अर्थ में उसकी उपमा चरवाहे या सारथी से की जाती है। संक्षेप में, धर्म नैतिक नियमों की एक व्यवस्था है।

धर्म का कार्य मनुष्य की संग्रह वृत्ति और भावनात्मक अभिलाषाओं को दिशा प्रदान करना है। धर्म का यह मार्ग दर्शन जीवन के आनन्द एवं मोक्ष में समन्वय स्थापित करता है। सांसारिक हितों एवं आध्यात्मिक स्वतंत्रता में संगति बैठाना (लाना) धर्म द्वारा विहित अनुशासन से ही संभव है। डॉ.पी.वी काणे के अनुसार धर्म एक जीवन–पद्धति या आचरण संहिता थी जो समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के कार्यों पर नियंत्रण रखती थी। इस पद्धति का उद्देश्य मानव का विकास करना भी था जिससे कि वह जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सके। अतः मनुष्य का कर्तव्य, कार्य और स्वभाव धर्म से संचालित होता है।

टिप्पणी

(2) अर्थ

पुरुषार्थ में दूसरा स्थान "अर्थ" का है। साधारणतः अर्थ से अभिप्राय 'धन' से होता है। अर्थ का संबंध धन–सम्पत्ति से होते हुए भी भौतिक जगत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है यही संसार का मूल है। जिस प्रकार आत्मा के लिए मोक्ष, बुद्धि के लिए धर्म और मन के लिए काम की आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीर के लिए अर्थ की आवश्यकता है। यदि व्यावहारिक रूप से देखा जाए तो मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताएं और भौतिक इच्छाएं अर्थ के माध्यम से ही पूरी होती हैं। अतः अर्थ से अभिप्राय सभी भौतिक वस्तुओं और साधनों से है जो व्यक्ति को सुख–सुविधाएं प्रदान करती हैं, जिन्हें प्राप्त कर वह समृद्ध हो जाता है। कौटिल्य ने तो धर्म को भी अर्थ पर ही आधारित माना है। उनके अनुसार ज्ञान और अभिलाषाओं की तुष्टि अर्थ द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए उन्होंने शासन–व्यवस्था पर आधारित अपनी पुस्तक का नाम 'अर्थशास्त्र' रखा। शुक्र के अनुसार धर्म, काम और मोक्ष तीनों ही अर्थ के आधीन माने गए। महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर ने भी धन का महत्व बताते हुए श्री कृष्ण से कहा है कि धन ही सभी धर्मों का मूल है। इसी से सारी धार्मिक क्रियाएं की जाती हैं। पर जब इसके संबंध में व्यापक रूप से विचार किया जाता है तो इसका क्षेत्र केवल धन तक ही सीमित नही रहता इसके साथ भौतिक वैभव सम्पत्ति तथा शक्ति भी है। इस प्रकार से अर्थ सांसारिक वैभव की प्राप्ति का एक मात्र साधन है। अतः भौतिक सुखों का स्रोत 'अर्थ' ही है। अर्थ के अभाव में जीवन व्यर्थ हो जाता है।

अर्थ से अभिप्राय मनुष्य के आर्थिक और राजनीतिक जीवन, शक्ति और सम्पत्ति की इच्छा से है। धन सब कुछ नहीं है पर कुछ अवश्य है। मानव इच्छाओं की पूर्ति के लिए धन आवश्यक है। शिक्षा एवं सुख सुविधाओं की प्राप्ति के लिए धन का सहारा लेना पड़ता है। उद्योग, व्यापार तथा उत्पादन के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार धन के अन्तर्गत उन आर्थिक एवं अनार्थिक क्रियाओं को सम्मिलित किया गया है जिनमें धन की आवश्यकता पड़ती है। अर्थ के माध्यम से सांसारिक समृद्धि को हस्तगत किया जा सकता है। सांसारिक समृद्धि धन और शक्ति से संभव है। कपाडिया ने अर्थ को संग्रही वृत्ति के रूप में परिभाषित किया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए अर्थ आवश्यक है। अतः मानवीय आवश्यकताएं और उनकी पूर्ति के साधनों का संगठन पुरुषार्थ का अर्थ पक्ष है।

(3) काम

काम के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक इच्छाएं और प्रवृत्तियां सम्मिलित हैं। संकुचित अर्थ में काम का अर्थ यौन इच्छाओं की पूर्ति है। काम का सर्वोत्तम और आध्यात्मिक उद्देश्य पति–पत्नी में आध्यात्मिकता, मानव प्रेम, परोपकार तथा सहयोग की भावनाओं का विकास करना है। विस्तृत अर्थ में काम से अभिप्राय मनुष्य में विद्यमान उन सभी इच्छाओं से है जिनका संबंध इन्द्रियों की संतुष्टि एवं सुख से है। काम का संबंध भावनात्मक और सौन्दर्यात्मक जीवन से भी है। शुद्ध यौन कामना के रूप में काम की अभिव्यक्ति उसकी निम्न स्तर पर अभिव्यक्ति है। कुछ भी हो सत्य है कि काम की निम्न स्तर पर पूर्ति के बिना मानव प्रजाति एवं समाज के सातत्य को बनाए रखना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। काम जीवन का एक प्रमुख अंग है। काम पूर्ति के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, परन्तु इसका प्रयोग धर्मानुकूल होना चाहिए। यही कारण

है कि इस काम की संतुष्टि को धर्म द्वारा नियमित कर दिया गया है ताकि अनाचार, दुराचार और कदाचार पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके।

टिप्पणी

(4) मोक्ष

मनुष्य के पुरुषार्थ का अंतिम चरण मोक्ष है। मोक्ष शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'मुच्' धातु से हुई है, जिसका अभिप्राय है मुक्त करना, स्वतंत्र करना अर्थात छुटकारा पाना। सांसारिक और भौतिक वस्तुओं से मुक्ति पाना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष वह दशा है जब जीव ब्रह्ममय हो जाता है अथवा ब्रह्म से उसका एकाकार हो जाता है। वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। सांसारिक बन्धनों से बंधकर मनुष्य ईश्वर में विलीन नहीं हो सकता। ईश्वर में विलीन होना ही मोक्ष है। मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य, परमपद और आध्यात्मिक स्वतंत्रता इसके पर्यायवाची शब्द हैं। मोक्ष से ही मनुष्य शाश्वत आनन्द को प्राप्त कर सकता है। लौकिक आनन्द इस शाश्वत आनन्द का कण है। सम्पूर्ण आनन्द की अनुभूति शाश्वत आनन्द में निहित है। धर्म, अर्थ तथा काम साधन हैं और मोक्ष साध्य। मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग बताए गए हैं–

(क) कर्म–मार्ग: फल प्राप्ति की इच्छा किए बगैर अनासक्त भाव से कर्म करना कर्म–मार्ग कहलाता है।

(ख) ज्ञान–मार्ग: ज्ञान–मार्ग को मोक्ष प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग माना गया है।

(ग) भक्ति मार्ग: यह आराधना का मार्ग है। भगवान की प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति के लिए भक्ति मार्ग ही उत्तम है।

चारों पुरुषार्थों में सर्वश्रेष्ठ

चारों पुरुषार्थों की श्रेष्ठता एवं महत्ता प्रदिपादित करने हेतु उपयोगिता–अनुपयोगिता को कसौटी माना जा सकता है। यह सत्य है कि उपयोगिता और अनुपयोगिता का विचार अलग–अलग व्यक्तियों में भिन्न हो सकता है, जैसे– कामी को स्त्री प्रिय होती है और उसके लिए प्रेम–प्रसंग की ही उपयोगिता है, वहीं लोभी को धन से प्रेम होता है और धन ही उसके लिए सर्वस्व हो सकता है। ईश्वर के प्रेमी के लिए ईश्वर ही सर्वस्व है। यहां व्यक्ति के हिसाब से उपयोगिता और अनुपयोगिता के निर्धारण से काम नहीं बनेगा। भारतीय समाज एवं हिन्दू चिंतन में जो उपयोगी है वही महत्वपूर्ण है। चारों पुरुषार्थों में वही सर्वश्रेष्ठ है जिसमें कमियां न हो और जो असीमित हो। चारों पुरुषार्थों की श्रेष्ठता पर अलग–अलग विचार करके हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि चारों में कौन श्रेष्ठ है?

क्या धर्म मूल्यवान है? हम सबके बनें और सब हमारे हों, हम सबकी सहायता करें और दूसरों की इच्छाओं को भी पूरा होने दें। ऐसा तभी संभव है जब मनुष्य कुछ नियमों पर चले। धर्म इन नियमों का ही नाम है। धर्म से इस लोक में और परलोक में सुख मिलता है। इस दृष्टि से तो धर्म सर्वश्रेष्ठ मूल्य ठहरता है। इस पर भी धर्म एक साधन है न कि साध्य।

क्या अर्थ मूल्यवान है? यह सत्य है कि भौतिकवादी व्यक्ति को अर्थ की महत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है। धन से ही पेट पालन होता है। पर ध्यान रहे कि धन का एक सीमा तक महत्व है उसके बाद नहीं। 'साईं उतना दीजिए जामे कुटुम समाय। न मैं भूखा मरूँ, न कोई भूखा जाय', यह उक्ति धन प्राप्ति के सम्बन्ध में सटीक लगती

टिप्पणी

है। अधिक धन अनेक प्रकार के जंजालों में फंसाता है तथा सुख–चैन और नींद हराम करता है। धन संचय करके उसका भोग न कर पाये तो ऐसा धन व्यर्थ है। भर्तृहरि के अनुसार धन की तीन गतियां होती हैं दान, भोग और नाश। धन आने पर धन का भोग करना चाहिए। भोग से बचे धन को दान कर देना चाहिए। जो ऐसा नहीं करते हैं उनके धन की तीसरी गति (अर्थात नाश) अपने आप हो जाती है। धन होने पर चोर, डाकुओं, लुटेरों और फिरौती मांगने वालों का भय हमेशा बना रहता है। अतः अर्थ में भी अनेकानेक कमियां हैं। जो भय और चिंता का कारण हो उसे मूल्यवान कैसे माना जा सकता है?

क्या काम मूल्यवान है? चार्वाक दर्शन एवं कामी व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाए तो काम मूल्यवान हो सकता है, परन्तु काम दुःख का कारण बनता है, इसलिए मूल्यवान नहीं है। मनुष्य अपनी अनन्त इच्छाओं की पूर्ति न कर पाने से दुःखी होता है। मनुष्य में ग्रन्थियां, तनाव, आक्रोश और क्रोध का बीजारोपण होता है तथा निराशा की अभिव्यक्ति होती है, जिससे मनुष्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जिसके कारण जीवन अशान्त हो जाए उसे मूलयवान कैसे माना जा सकता है? दुख, निराशा एवं अशान्ति के अतिरिक्त भी कारण है जो काम को परम पुरुषार्थ का दर्जा देने से रोकता है। भोग भोगने से भोगने की क्षमता का क्षय होता है, यह अर्थशास्त्र का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। विषय भोगों से विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं जैसे– एड्स जैसा भयानक एवं जानलेवा रोग। विषय–सुख टिकाऊ न होकर क्षणिक होता है। अति कामी पुरुष का उत्तरार्ध जीवन दुखमय होता है। अतः काम को परम पद का दर्जा नहीं दिया जा सकता।

क्या मोक्ष मूल्यवान है? चक्रवर्ती सम्राट और साधारण सम्राट में कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर देना सरल है। चक्रवर्ती सम्राट श्रेष्ठ है क्योंकि वह सम्राटों का सम्राट है। इसी प्रकार धर्म और मोक्ष में मोक्ष श्रेष्ठ है क्योंकि धर्म एक मूल्य है जबकि मोक्ष मूल्यों का मूल्य है। भारतीय चिंतन के अनुसार मनुष्य अजर अमर होना चाहता है। संसार उसका वास्तविक निवास स्थान नहीं है बल्कि उसका वास्तविक निवास स्थान ईश्वर है। शाश्वत आनन्द और शाश्वत शान्ति की प्राप्ति मोक्ष द्वारा ही संभव है और यह स्वयं से उच्चतर किसी साध्य का साधन नहीं है। अतः मोक्ष सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है।

संस्कार

एक हिन्दू धर्म का अनुयायी अपने जीवन पर्यन्त संस्कारों के दौर से गुजरता रहता है। मनु के अनुसार संस्कार शरीर की शुद्धि करते हैं। ये गर्भाधान से प्रारम्भ होकर अंत्येष्टि क्रिया के साथ समाप्त होते हैं। मनुष्य के जीवन को उज्ज्वल एवं परिष्कृत करने तथा उपयोगी बनाने के लिए संस्कार प्रायोजित हैं। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के साथ संस्कार नत्थी करने का यही प्रयोजन है।

संस्कार का अर्थ

'संस्कार' शब्द 'कृ' धातु में 'धन्' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ शुद्धता अथवा पवित्रता से है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कार को 'Ceremony' या 'Rites', 'Rituals' से जोड़कर 'संस्कारों' को समझाने का प्रयत्न किया है परन्तु ये भ्रामक शब्द हैं। संस्कार अंग्रेजी भाषा के शब्द सैक्रामेन्ट (Sacrament) के सबसे निकट है बजाय

टिप्पणी

Ceremony या Rites शब्दों के क्योंकि 'Sacrament' शब्द का अर्थ धार्मिक विधान से है और संस्कार का अर्थ भी साधारणतः यही लिया जाता है। हालांकि मीमांसा के अन्तर्गत इसका अर्थ विधिवत् शुद्धि है। संस्कार का अर्थ है– शुद्ध करना, पवित्र करना, परिष्कार करना, उज्ज्वल बनाना, योग्य बनाना एवं उपयोगी बनाना। अपने प्रकृत रूप में मनुष्य ही क्यों कोई भी वस्तु उपयोग के लायक नहीं होती। उन्हें उपयोगी बनाना पड़ता है। उपयोगी बनाने हेतु तथा गन्दगी साफ करने के लिए संस्कारों से होकर गुजरना पड़ता है। मनुष्य को शुद्धि की क्रियाओं को करना पड़ता है। अन्न का उदाहरण लेते हैं। अन्न जिस रूप में खेतों में खड़ा होता है खाने के योग्य नहीं होता है। उसे खाने के योग्य बनाना पड़ता है। अन्न को साफ करना, कूटना, पीसना, पिसे आटे को चालना पड़ता है। यही अन्न संस्कार है। खान से प्राप्त खनिज पदार्थों का उदाहरण लेते हैं। खान से निकले खनिज पदार्थ शुद्ध अवस्था में नहीं होते, उनमें अन्य अनेक तत्वों का मिश्रण होता है। अतः खान से निकले पदार्थों का शोधन करने के लिए शोधक कारखाने हैं जहां इन पदार्थों को शुद्ध किया जाता है। इसी प्रकार पुस्तक और सोने का भी संस्कार होता है। जब ये वस्तुएं संस्कृत (purified) हो जाती हैं तब उपयोगी बन जाती हैं।

समाज वैज्ञानिक इसे भली भांति जानते हैं कि मनुष्य जन्म से सामाजिक प्राणी नहीं होता। जन्म से तो वह जैविक प्राणी (Biological Organism) होता है पर समाज के सांचे में ढालकर उसे सामाजिक प्राणी बनाया जाता है। जैविक प्राणी को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाने की प्रक्रिया समाजीकरण (Socialization) कहलाती है। संस्कार व्यक्ति का समाजीकरण करते हैं, उसके स्वरूप को निखारते हैं, उसके मैल को धोकर निर्मल बनाते हैं और उसके अवगुणों को दूर कर उसे गुणों का पुंज बना देते हैं। मनोवैज्ञानिक समवेत स्वरों में गाते हैं कि मनुष्य में कुछ पाशविक प्रवृत्तियां होती हैं। इन पाशविक प्रवृत्तियों के संशोधन के लिए तथा उसे समाज के अनुरूप बनाने के लिए संस्कार बहुत जरूरी हैं। मनुष्य का समाजीकरण करना भी संस्कार का उद्देश्य है। जैमिनी कृत पूर्व–मीमांस सूत्र के अनुसार मानव की कमियों को दूर कर उसे अर्थवान बनाना ही, संस्कार है (संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य)।

तंत्रवार्तिक में 'योग्यतां चारधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते' कहकर संस्कार को योग्यता प्रदान करने वाली क्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है। हिन्दू संस्कार के उद्भट व्याख्याता राजबली पाण्डेय का मानना है कि विधिपूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान से व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्जनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। वे कहते हैं कि संस्कार में शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों का समावेश है।

संस्कार के प्रकार

संस्कारों की संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद है। गृह्यसूत्रों के काल से संस्कारों का एक व्यवस्थित क्रम हमारे सामने उपस्थित होने लगता है। गृह्यसूत्र साधारणतया विवाह से आरम्भ कर समावर्तन संस्कार तक का निरूपण करते हैं। इनमें संस्कारों की संख्या 12 से 18 तक दी गई है। अधिकांश गृह्यसूत्रों में अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः इसे शुभ संस्कारों की श्रेणी में नहीं रखा जाता था।

टिप्पणी

संख्या की दृष्टि से आश्वलायन गृह्यसूत्र में 12, पारस्कर, बौधायन एवं वाराह गृह्यसूत्र में 13 तथा वैखानस गृह्यसूत्र में 18 संस्कारों का उल्लेख मिलता है। गौतम धर्म सूत्र मे व्यक्ति के लिए 40 संस्कारों का विधान है। मनुस्मृति में 13 संस्कार दिए गए हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में केशान्त को छोड़कर मनुस्मृति के शेष बारह संस्कारों का उल्लेख है। मनुस्मृति में पुंसवन तथा सीमान्तोन्नयन संस्कारों तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में केशान्त संस्कारों का उल्लेख नहीं हुआ है। परन्तु परवर्ती स्मृतियों में संस्कारों की संख्या 16 मिलती है। प्रत्येक संस्कार हवन अथवा यज्ञ से प्रारंभ होता है। इन संस्कारों के नाम इस प्रकार हैं– (1) गर्भाधान (2) पुंसवन (3) सीमान्तोन्नयन (4) जातकर्म (5) नामकरण (6) निष्क्रमण (7) अन्नप्राशन (8) चूडाकर्म (9) कर्णवेध (10) विद्यारम्भ (11) उपनयन (12) वेदारम्भ (13) केशांत (14) समावर्तन (15) विवाह (16) अन्त्येष्टि।

(क) प्राग जन्म संस्कार

गर्भाधान, पुंसवन एवं सीमान्तोन्नयन नामक संस्कार जन्म से पूर्व किए जाते हैं। ये संस्कार आरम्भिक विचारों की छाया लगते हैं। गर्भाधान मानव जीवन का प्रथम संस्कार है। गर्भाधान से अभिप्राय गर्भ का धारण करना है। स्त्री के ऋतुमती होने के चौथे दिन के उपरान्त पांचवें दिन स्नान करके मन्त्रों से आहुति देते हुए हवन किया जाता है। गर्भाधान के दूसरे या तीसरे मास में गर्भ वीर्य की पुष्टि के लिए, पुंसवन संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा प्रमुख है। साधारणतः सीमान्तोन्नयन संस्कार गर्भ के चौथे महीने आयोजित होता था। इसमें गर्भवती स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर उठाया जाता था। संक्षेप में, प्राग जन्म संस्कारों का उद्देश्य आसुरी शक्तियों को प्रसन्न कर गर्भस्थ शिशु को उनके अशुभ प्रभावों से बचाना है।

(ख) बाल्यावस्था के संस्कार

जातकर्म, नामकरण (नामधेय), निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म तथा कर्णवेध बाल्यावस्था के संस्कार हैं। जातकर्म संस्कार हर्ष एवं उल्लास व्यक्त करने के लिए विहित है। मेधाजनन, आयुष्य और बल इस संस्कार के तीन अनुष्ठान हैं। इन तीनों अनुष्ठानों से क्रमशः बालक के मेधावी, दीर्घजीवी और बलशाली होने की कामना की जाती थी। संतान को नाम प्रदान करना भी एक संस्कार माना जाता था। नामधेय संस्कार में बच्चे का नामकरण किया जाता था। शिशु के नाम प्रायः देवताओं, नक्षत्रों आदि के नाम पर रखे जाते थे। जन्म के उपरान्त जब शिशु को प्रथम बार घर से बाहर ले जाया जाता था तब वह निष्क्रमण कहा जाता था। यह संस्कार प्रायः जन्म के चौथे मास में होता था। पांचवें महीने के पश्चात् बालक खाने योग्य हो जाता है और अन्न के प्रति अपना आकर्षण प्रकट करने लगता है। अन्नप्राशन संस्कार में पहली बार बालक को पकाया हुआ भोजन दिया जाता है क्योंकि एक अवस्था के बाद बालक की सम्यक् वृद्धि के लिए माता का दूध अपर्याप्त होता जाता है। जच्चा एवं बच्चा दोनों के कल्याण हेतु माता के दूध के स्थान पर पकवान, विशेष रूप से क्षीरपाक (खीर), देने का विधान है। चूड़ाकर्म संस्कार को मुंडन भी कहा जाता था। यह जन्म के तीसरे मास कराया जाता था। किसी शुभ मुहूर्त पर मन्दिर अथवा सरिता या तालाब के किनारे नाई बालक के बालों को काट कर उन्हें सकोरे में रखकर जंगल में गड्ढा खोद कर गाड़ देता है और बालक की चूड़ा (चोटी) रख दी जाती थी जो हिन्दुओं की पहचान के लिए आवश्यक था। बाल कट जाने पर सिर पर मक्खन–मलाई लगाकर बालक को स्वच्छ पानी से

टिप्पणी

नहलाया जाता है और अन्त में यज्ञवेदी में ले आने पर समस्त गुरु एवं वृद्धजन उसे आशीर्वाद देते हैं। यह संस्कार बालक की दीर्घायु के लिए किया जाता था। कर्णवेध संस्कार जन्म के तीसरे या पांचवें महीने में धार्मिक संस्कार के रूप में सम्पन्न होता था। सुई की नोक से कानों का छेदन होता था और तत्पश्चात् कानों में सुवर्ण की बाली या कुंडल पहनाया जाता था।

(ग) शैक्षणिक संस्कार

विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त अथवा गोदान और समावर्तन नामक पाँचों संस्कार शैक्षणिक संस्कार हैं। विद्यारम्भ संस्कार बालक की आयु के छठे वर्ष में सम्पादित होता था। स्नान के पश्चात् बालक कोपीन, एक उत्तरीय तथा एक कटि वस्त्र धारण करता है और इसके पश्चात् गुरु मन्त्रों द्वारा बालक के विद्यारम्भ का संस्कार शुरू करता है। उपनयन संस्कार बालक की आयु के आठ वर्ष में किया जाता है। उपनयन संस्कार ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रवेश द्वार है। उपनीत बालक ही ब्रह्मचारी बन सकता था और द्विज कहलाता था। उपनयन शब्द दो शब्दों का योग है 'उप' का अर्थ है समीप, 'नयन' का अर्थ है ले जाना। उपनयन में बालक को गुरु के पास ले जाते हैं। प्राचीन काल में उपनयन के बाद बालक गुरु के पास रह कर पढ़ता था। उपनयन–संस्कार का उद्देश्य गुरु–शिष्य का निकटतम सम्बन्ध स्थापित करना है। उपनयन में बालक को जनेऊ धारण करवाया जाता है। वेदारम्भ संस्कार का अभिप्राय गुरु के पास जाकर बालक को गायत्री मंत्र से लेकर चारों वेदों तक का अध्ययन करना है। इस संस्कार में बालक गुरु की देख–रेख में वेदों का अध्ययन करता है। केशान्त संस्कार विद्यार्थी के सोलहवें वर्ष में सम्पन्न किया जाता था। मनु के अनुसार गर्भ के सोलहवें वर्ष में ब्राह्मण का, बाईसवें वर्ष में क्षत्रिय का और चौबीसवें वर्ष में वैश्य का केशान्त संस्कार सम्पन्न करना चाहिए। केशान्त को गोदान भी कहा जाता था। इस संस्कार के मंगलमय अवसर पर ब्राह्मण आचार्य को गोदान दिया जाता था। समावर्तन संस्कार ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु से विद्या अर्जित करके युवक के घर लौटने पर किया जाता था। इस संस्कार का प्रमुख कृत्य स्नान है। स्नान करने के बाद वह स्नातक बन जाता था। यह स्नान ज्ञान सागर में अवगाहन का प्रतीक है। इस समय पहली बार स्नातक की दाढ़ी आदि मुड़वाई जाती थी और शीशा, कंघा, तेल आदि प्रयोग करने के लिए दिया जाता था। अब वह गृहस्थ–जीवन व्यतीत करने का अधिकारी समझा जाता था।

(घ) शिक्षोपरांत संस्कार

हिन्दू समाज में सम्पन्न होने वाले समस्त संस्कारों में विवाह संस्कार सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विवाह संस्कार व्यक्ति के गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का सूचक है। वैलवाकर के अनुसार, इस संस्कार से व्यक्ति का समाजीकरण किया जाता था, क्योंकि इसमें जीवन की वृद्धि करने के लिए सन्तानोत्पत्ति की प्रतिज्ञा की जाती थी। विवाह–संस्कार में मधुपर्क, गोदान, शिलारोहण आदि अनेक विधियां विवाह का महत्व समझाने के लिए की जाती थीं। हिन्दू समाज में विवाह को अनिवार्य माना जाता था। हिन्दू विवाह एक संस्कारक क्रिया है क्योंकि इससे पति–पत्नी में मधुर संबंधों की सृष्टि होती है और सन्तानोत्पादन के बाद वे संबंध और प्रगाढ़ हो जाते हैं। हिन्दू विवाह स्वयं में किसी भी प्रकार से विकारक प्रभाव डालने वाला नहीं है। यह स्त्री–पुरुष के जीवन का आलोक है।

टिप्पणी

(ङ) मरणोपरांत संस्कार

मृत्यु हो जाने पर मनुष्य का अंत्येष्टि संस्कार किया जाता है। यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार था। परलोक में सुख एवं शान्ति की प्राप्ति हेतु यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार के अंतर्गत शव को लकड़ी की चिता पर घी का प्रयोग करके जलाया जाता है। वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ अग्नि में आहुतियां देने का विधान था। दाह कर्म से निवृत्त होने के पश्चात् लोग नदी अथवा तालाब में स्नान करने के पश्चात् घर लौट आते थे। दाह संस्कार के तीसरे दिन मृतक की अस्थियों को एकत्र करके उनको किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाता था। गृह्यसूत्रों में इस संस्कार को सम्पन्न करने से सम्बन्धित क्रियाओं का विशद उल्लेख मिलता है। आधुनिक युग में प्रायः सभी हिन्दू परिवारों में अंत्येष्टि क्रिया का सम्पादन उपरोक्त विधि से होता है। यह संस्कार प्रायः सबसे बड़े पुत्र द्वारा कराया जाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. हिंदू मान्यता के अनुसार जीवन के कितने आश्रम हैं?

   (क) दो (ख) चार

   (ग) छह (घ) आठ

6. मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास किस आश्रम में होता है?

   (क) ब्रह्मचर्य (ख) गृहस्थ

   (ग) वानप्रस्थ (घ) संन्यास

7. सामाजिक दृष्टि से कौन सा आश्रम महत्वपूर्ण माना गया है?

   (क) ब्रह्मचर्य (ख) गृहस्थ

   (ग) वानप्रस्थ (घ) संन्यास

2.5 प्राचीन भारत में स्त्रियों का स्थान और उनकी स्थिति

यहां प्राचीन भारत में स्त्रियों का स्थान और उनकी स्थिति को विभिन्न कालों के माध्यम से विवेचित किया जा रहा है–

हड़प्पा काल

हड़प्पा सभ्यता के अनेक स्थानों से बहुत संख्या में अर्द्धनग्न नारी की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। विद्वानों के अनुसार ये मातृदेवी की मूर्तियां हैं। सर जॉन मार्शल का मानना है कि हड़प्पा सभ्यता के देवगणों में मातृदेवी का स्थान सर्वश्रेष्ठ था। ऐसे साक्ष्य भी प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि प्राचीन संसार में मातृदेवी की पूजा लोकप्रिय थी। मातृदेवी की इस प्रकार की मूर्तियां ईरान, मेसापोटामिया, सीरिया, फिलिस्तीन, एशिया माइनर, मिश्र और अन्य पश्चिमी देशों में मिली हैं। दक्षिण भारत में भी ऐसी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। नारी की शक्ति के रूप में पूजा की जाती थी। किन्तु

टिप्पणी

इस काल के ठोस साक्ष्यों के अभाव में समाज में नारी का स्थान सुनिश्चित करना संभव नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि हड़प्पा समाज में नारी का आदरपूर्ण स्थान था। वह परिवार की मुखिया एवं पोषिका मानी जाती थी। उसका मुख्य कार्य बच्चों का लालन–पालन एवं अवकाश के समय में घर में सूत कातना था। उस काल की मुद्राओं पर अंकित नारी चित्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रियां धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में पुरुषों के साथ समान रूप से सम्मिलित होती थीं। जिस प्रकार एक स्त्री अपने आवास का निर्माण करने में सभी सुविधाओं का ध्यान रखती है, घर के अन्दर प्रत्येक सामान को उसकी जगह पर रखती है, साफ–सफाई, जलनिकासी की पूरी व्यवस्था करती है, उसी प्रकार यह अनुभव किया जा सकता है कि अवश्य ही इस मातृसत्तात्मक व्यवस्था कहलाने वाली हड़प्पा सभ्यता को भी स्त्रियों ने अपने घर की तरह साफ–सुथरा, नियोजित, तथा व्यवस्थित रखने का प्रयास किया होगा। अतः उस समय स्त्री की स्थिति सर्वश्रेष्ठ थी।

वैदिक काल

ऋग्वैदिक काल में समाज में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। वे पति की 'अर्धांगिनी', 'सहधर्मिणी' तथा 'गृहस्वामिनी' मानी जाती थी। कोई भी धार्मिक कार्य या यज्ञ पत्नी के बिना संपन्न नहीं होता था। उस काल में पर्दा प्रथा प्रचलित नहीं थी। कन्याओं की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था जिसके परिणामस्वरूप घोषा, विश्वारा अपाला, लोपामुद्रा आदि विदुषियां हुईं जिन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना की तथा विद्वानों से शास्त्रार्थ किया। परिवार में स्त्री का मुख्य कार्य घर का प्रबन्ध, बच्चों का पालन–पोषण तथा गृहस्थी के अन्य कार्य भी थे। कन्याओं को अपने माता–पिता की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। उन्हें सम्पत्ति का अधिकार था। यद्यपि जब पुत्र मिलकर रहते थे तो स्त्रियां अपने पति को सम्पत्ति के विभाजन के लिए बाध्य नहीं कर सकती थी। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्त्रियों की इतनी अच्छी स्थिति होने के बावजूद भी पुत्रियों की अपेक्षा पुत्र की कामना की जाती थी। डॉ. अल्तेकर का मानना है कि, "विवाह के उपरान्त स्त्री पति की सुरक्षा में रहती थी।" डॉ. एस. सी. चौधरी के अनुसार, "वैदिक काल में स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे।"

ऋग्वैदिक काल की तुलना में उत्तर वैदिक काल में समाज में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आ गई। पुत्री के जन्म पर शोक प्रकट किया जाता था। हालांकि पुत्री का जन्म प्रसन्नता का द्योतक नहीं था, परन्तु उनके पालन–पोषण तथा शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जाती थी। उपनिषदों में गार्गी एवं मैत्रेयी जैसी विदुषियों के नाम मिलते हैं। इस युग में बहु–विवाह होने लग गए थे। स्त्री को पुरुष की 'सहधर्मिणी' माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में उसे पुरुष की 'अर्धांगिनी' बताया गया है। इस युग में माता के पद को बहुत ऊँचा और पवित्र माना जाता जाता था। माता का स्थान आचार्य और पिता से श्रेष्ठ बताया गया है। अतः इस काल में स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक थी। परन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि इस काल के अंत में स्त्रियों की स्थिति में काफी गिरावट आ गई थी। उन्हें 'उपनयन संस्कार' से वंचित कर दिया गया था। उनके राजनीतिक सभाओं में भाग लेने पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया था। धार्मिक कार्यों में उसका स्थान पुरोहित ने ले लिया था। उन पर कई प्रकार के प्रतिबंध लगाए जाने

टिप्पणी

लगे। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि, "एक अच्छी स्त्री वह है जो उत्तर नहीं देती।" शतपथ ब्राह्मण कहता है कि " पत्नी को पति से पहले भोजन नहीं करना चाहिए।" स्त्री को जुआ और शराब की भांति पुरुष का दोष माना गया था। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आने लगी थी।

महाकाव्य काल

महाकाव्य काल में भारतीय समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्व दिया जाता था क्योंकि पुत्र के द्वारा ही व्यक्ति अपने इहलोक और परलोक दोनों को सुधार सकता था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इस महाकाव्य कालीन युग में पुत्री का जन्म आपत्ति का कारण माना जाता था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पुत्री के लालन–पालन की उपेक्षा की जाती थी। स्वयं भीष्म पितामाह पुत्री को पुत्र के समान मानने वालों में से एक थे। महाकाव्य काल में विवाह व्यस्क अवस्था में होते थे। एक स्त्री को अपने लिए वीर एवं योग्य वर चुनने का अधिकार था। सीता, उर्मिला, कुन्ती, द्रोपदी, सुभद्रा, देवयानी, शकुन्तला, सत्यवती, दमयन्ती आदि सभी का विवाह युवावस्था में ही हुआ था। यह सत्य है कि महाकाव्य काल में सामान्यतया एक पत्नी प्रथा का उल्लेख मिलता है परन्तु राजवंशों में बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी। दशरथ, पाण्डु, अर्जुन, भीम, कृष्ण आदि के एक से अधिक पत्नियां थी। किन्तु सभी राजवंशी राजा अपनी पत्नियों का आदर व सम्मान करते थे और सब समान अधिकारों का उपयोग करती थी।

वैदिक युग के समान महाकाव्य कालीन युग में भी स्त्री पति के अभाव में अपने देवर को पति रूप में स्वीकार कर सकती थी। पति द्वारा सन्तान न होने पर वह पति की अनुमति से किसी अन्य व्यक्ति से संतान प्राप्त कर सकती थी। कुन्ती और माद्री ने नियोग प्रथा द्वारा ही पुत्र प्राप्त किए थे। महाकाव्य काल में विधवा विवाह अथवा स्त्री के पुनर्विवाह का भी उल्लेख प्राप्त होता है। बाली की मृत्यु के पश्चात् सुग्रीव ने उसकी विधवा तारा के साथ विवाह किया था। महाकाव्य काल में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। कौशल्या, तारा, सीता, आत्रेयी, सुभद्रा, द्रौपदी आदि सभी सुशिक्षित और प्रतिष्ठित व्यक्तित्व वाली स्त्रियां थीं। अतः हम स्वीकार कर सकते हैं कि महाकाव्य काल में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक थी।

मौर्य काल

मौर्यकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। कन्या का जन्म दुख का कारण समझा जाता था। उनकी शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। उन्हें घर से बाहर जाने की स्वतंत्रता नहीं थी और पति की इच्छा के विरुद्ध वे कोई कार्य नहीं कर सकती थीं। संभ्रांत परिवार की स्त्रियां प्रायः घर के अंदर ही रहती थी। कौटिल्य ने ऐसी स्त्रियों को 'अनिष्कासिनी' कहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से उस समय सती प्रथा प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

मौर्य काल में भी अनेक ऐसी स्त्रियां थीं जो विवाह द्वारा पारिवारिक जीवन न बिताकर गणिका या वेश्या के रूप में जीवन–यापन करती थीं किन्तु समाज में उन वेश्याओं का अपना एक सम्मानजनक स्थान था। वे अनेक प्रकार से राजा का मनोरंजन करती थीं। स्वतंत्र रूप से वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों को 'रूपाजीवा' कहा जाता था। इनसे राज्य को आय होती थी। इनके कार्यों का निरीक्षण गणिकाध्यक्ष तथा एक

राजपुरुष करता था। अनेक गणिकाएं गुप्तचर विभाग में भी कार्यरत थीं। बहुत–सी स्त्रियां सैनिक और अंगरक्षिकाओं का कार्य करती थीं। डॉ. भण्डारकर के अनुसार मौर्यकाल में पर्दा प्रथा प्रचलित थी।

टिप्पणी

उत्तर–मौर्य काल

मौर्योत्तर काल में भारत में विकेंद्रीकरण के फलस्वरूप स्थापित एक के बाद एक शुंग वंश, कण्व वंश, सातवाहन वंश, इक्ष्वाकु वंश, चेदि वंश आदि का अस्तित्व रहा, जिन्होंने अपने–अपने समाज में स्त्रियों की भिन्न–भिन्न ढंग से विवेचना की है। शुंग काल में स्त्रियों के लिए अनेक कठोर नियम बना दिए गए। मनु रचित मनुस्मृति में भी स्त्रियों के लिए निंदनीय वक्तव्य देखने को मिला। सातवाहन समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। वे उत्सवों तथा सभाओं आदि में बढ़–चढ़ कर भाग लेती थीं। समाज में अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित थे। शातकर्णि ने मराठी अंगीय वंश की राजकुमारी से विवाह किया था। उसके उत्तराधिकारी वाशिष्ठी पुत्र श्री पुलुमवि ने महाक्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री से विवाह किया। समाज में माता के रूप में स्त्री का बहुत सम्मान था। सभी सातवाहन शासकों के नाम के साथ उनकी माताओं के नाम भी लिखे जाते थे। गौतमी पुत्र शातकर्णि, वाशिष्ठी पुत्र श्री पुलुमवि आदि शासकों ने भी अपने नाम के आगे अपनी माताओं का नाम लगा रखा था। सातवाहन राजाओं के नाम का मातृप्रधान होना स्त्रियों की सम्मानपूर्ण सामाजिक स्थिति का सूचक माना जा सकता है। स्त्रियां प्रशासनिक कार्यों में भी भाग लेती थीं। इस काल के अभिलेखों में स्त्रियों द्वारा प्रभूत दान दिए जाने का उल्लेख है। नागानिका, गौतमी, बलश्री आदि कई स्त्रियां अपने पतियों के साथ मिलकर प्रशासन चलाती थीं। उस काल में स्त्रियों को राजनीति तथा धर्म की शिक्षा भी दी जाती थी। नागानिका ने अपने पति के साथ दो अश्वमेघ यज्ञ किए थे। इसके अतिरिक्त, सातवाहन काल में स्त्रियों में पर्दा–प्रथा प्रचलित नहीं थी। अतः सातवाहन समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी।

परन्तु कुषाण काल में स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं थी। कन्या का जन्म अशुभ माना जाता था। सामान्यतः उनकी शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। उन्हें घर की चारदीवारी के अंदर ही रहना पड़ता था। वे अपने विवाह से पहले माता–पिता, विवाह के पश्चात् पति तथा बाद में बच्चों के नियन्त्रण में रहती थीं। उनका विवाह अल्प आयु में कर दिया जाता था। उन्हें अपने पति का चुनाव करने की अनुमति नहीं थी। उन्हें सम्पत्ति के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया था। उस समय समाज में वेश्यावृत्ति प्रचलित थी। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि कुषाण काल में सती प्रथा प्रचलित हो गई थी।

गुप्त काल

गुप्त काल में, वैसे तो स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी थी, परन्तु वैदिक काल की अपेक्षा उनकी स्थिति में बहुत अधिक गिरावट आ चुकी थी। इसके बावजूद, गुप्तकात में स्त्रियों को बहुत सम्मान प्राप्त था। अजन्ता की गुफाओं से ज्ञात होता है कि स्त्री पुरुष की दासी नहीं थी। वह स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करती थी। उसे शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। गुप्त काल में स्त्रियों के दार्शनिक तथा विदूषियां होने के भी उदाहरण मिलते हैं। काव्य–मीमांसा के अनुसार, कुछ स्त्रियां कवयित्री होती थीं।

टिप्पणी

अमरकोष में शिक्षिकाओं के लिए उपाध्याय, उपाध्यायी और आचार्या आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है। परन्तु गुप्त काल में बाल–विवाह की प्रथा प्रचलित थी। कन्या का विवाह 12–13 वर्ष की उम्र में कर दिया जाता था। उस समय पर्दे की प्रथा भी प्रचलित थी। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में लिखा है कि जब शकुन्तला राजा दुष्यंत के दरबार में गई तो उसने अपने मुख को अवगुंठन (रुमाल) से ढक लिया था। उस समय सती प्रथा भी प्रचलित थी। 510 ई. के एरण अभिलेख में सती प्रथा का वर्णन मिलता है। उस समय स्त्रियां वेश्यावृत्ति भी करती थी। गुप्त काल में विधवा विवाह भी प्रचलित था। परन्तु विधवा स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार नहीं माना जाता था। उस काल में देवदासी प्रथा भी प्रचलित थी।

गुप्तोत्तर काल

इस काल में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट देखी गई । समाज में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह, अंतर्जातीय विवाह, बहु–विवाह, सती प्रथा तथा बाल विवाह आदि का प्रचलन था। बाल विवाह का प्रभाव स्त्रियों की शिक्षा पर भी पड़ा। केवल कुलीन परिवार की कन्याएं ही शिक्षित होती थीं। स्त्रियों को सम्पत्ति विषयक अधिकार से वंचित रखा गया तथा उनके लिए अनेक कर्तव्य निर्धारित कर दिए गए थे।

गुप्तोत्तर काल में सती प्रथा का अत्यधिक विकास हुआ। राजा हर्षवर्धन की माता यशोमती अपने पति की मृत्यु पर सती हो गई थी। आंगिरस, हारीत आदि पूर्व मध्यकालीन स्मृतियों तथा अपरार्क विज्ञानेश्वर आदि निबंधकारों ने सती प्रथा की प्रशंसा की है। आंगिरस ने विधान किया कि विधवा के लिए सती होना ही एकमात्र धार्मिक विकल्प है । हारीत के अनुसार सती व्रत के द्वारा पत्नी अपने पति को जघन्य पापों से भी मुक्ति दिलाती है तथा दोनों स्वर्ग में साढ़े तीन करोड़ वर्षों तक सुखपूर्वक निवास करते हैं । नारद स्मृति के टीकाकार असहाय के अनुसार स्त्रियों की अभिभावकता इसलिए आवश्यक है कि शास्त्राध्ययन के अभाव में उनकी बुद्धि विकसित नहीं होती। हालांकि कई स्त्रियां तो विदुषी भी होती थीं जैसे अवन्तिसुन्दरी, लीलावती आदि। सामान्यतः कन्याओं का विवाह माता–पिता द्वारा ही तय किया जाता था। उच्चवर्ग में स्वयंवर का प्रचलन था।

भारत के कुछ क्षेत्रों में 'देवदासी' प्रथा प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत कुमारी कन्यायें नृत्य, गान के लिए मन्दिरों को समर्पित की जाती थीं। प्रारम्भ में इसका स्वरूप विशुद्ध रूप से धार्मिक था किन्तु वाद में यह महिलाओं के देह शोषण का माध्यम बन गया। पूर्व मध्यकाल तक आते–आते देवदासियों की भूमिका राजाओं और सामन्तों की कामवासना को शान्त करने तक सीमित हो गई। अल्बरूनी लिखता है कि देवदासियां अविवाहित सैनिकों की कामपिपासा शान्त करने में भी सहायक थीं। दक्षिण में यह प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी। अतः स्त्रियों की स्थिति में पहले की तुलना में गिरावट आ गई थी।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

8. किस काल में समाज में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था?

(क) गुप्तकाल में (ख) महाकाव्य काल में

(ग) मौर्योत्तर काल में (घ) ऋग्वैदिक काल में

9. सती प्रथा का अत्यधिक विकास किस काल में हुआ था?

(क) गुप्तोत्तर काल (ख) वैदिक काल

(ग) महाकाव्य काल (घ) गुप्त काल

2.6 शैक्षणिक विचार और संस्थान

प्राचीन भारत में शिक्षा का बहुत महत्व था। मनुष्य के भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान और विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत निर्वाह के लिए शिक्षा की आवश्यकता को हमेशा स्वीकार किया गया। वैदिक काल से ही इसे प्रकाश का स्रोत माना गया जो मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलोकित करते हुए उसे सही दिशा–निर्देश देता है। विद्या को मोक्ष का साधन माना गया है। प्राचीन भारतीयों का यह दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा द्वारा प्राप्त तथा विकसित की गई बुद्धि ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति होती है। विद्या के विविध उपयोग बताए गए हैं। विद्या से सम्बंधित समस्त गुणों का निरूपण करने के पश्चात् भारतीय विद्वानों ने यह घोषित किया कि विद्या से विहीन व्यक्ति पशु के समान है। प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास का साधन थी। शिक्षा का प्रारम्भिक एवं व्यापक उद्देश्य चरित्र निर्माण करना था। इसका उद्देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करना नहीं था अपितु मनुष्य के स्वास्थ्य का भी विकास करना था। शिक्षा के द्वारा मनुष्य आजीविका का उत्तम साधन प्राप्त करता है। प्राचीन भारतीयों की दृष्टि में शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उत्थान का सर्वप्रमुख माध्यम है।

शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीन काल में भारत में रचित किसी भी ग्रन्थ में शिक्षा के उद्देश्यों का आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त के अनुसार वर्णन प्राप्त नहीं होता। तथापि विभिन्न ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित जो उल्लेख मिलते हैं उनके आधार पर हम प्राचीन शिक्षा के उद्देश्यों एवं आदर्शों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। ये निम्नलिखित हैं–

(1) चरित्र निर्माण : प्राचीन भारत में शिक्षा केवल जीविकोपार्जन का साधन नहीं थी। नैतिकता की भावना विकसित करके चरित्र को समुन्नत और श्रेष्ठ बनाना भारतीय शिक्षा पद्धति का प्रमुख उद्देश्य था। भारतीय शास्त्रों में सच्चरित्रता को व्यक्ति का सबसे बड़ा आभूषण माना गया है। चरित्रहीन व्यक्ति की सर्वत्र निन्दा की गई है। मनुस्मृति में वर्णित है कि ऐसा व्यक्ति जो सद्चरित्र हो चाहे उसे वेदों का ज्ञान भले ही कम हो, उस व्यक्ति से कहीं अच्छा है जो वेदों का पंडित होते हुए भी शुद्ध जीवन व्यतीत न करता हो। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है उससे उसमें नैतिकता का उदय होता है तथा सन्मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा प्राप्त होती

टिप्पणी

है। भारतीय विचारकों ने चरित्र को विद्वता से अधिक महत्वपूर्ण माना है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपनी तामसी तथा पाशविक प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखता है। उसमें अच्छे तथा बुरे में अंतर करने की बुद्धि जागृत होती है। वह बुरे कार्यों को त्याग कर स्वयं को सत्कर्मों में प्रवृत्त करता है। प्राचीन काल में विद्यार्थी के लिए शिक्षा की व्यवस्था कुछ इस प्रकार की गई थी कि प्रारम्भ से ही उसे सच्चरित्र होने की प्रेरणा मिलती थी और वह उसके अनुसार स्वयं को विकसित करता था। वह गुरुकुल में आचार्य के सान्निध्य में रहता था जो न केवल विद्यार्थी की बौद्धिक प्रगति का ध्यान रखता था, अपितु उसके नैतिक आचरण की निगरानी भी करता था। वह इस बात का ध्यान रखता था कि विद्यार्थी दिन–प्रतिदिन के जीवन में शिष्टाचार एवं सदाचार के नियमों का पालन करे। इनमें स्वयं से बड़ों, समानों तथा छोटे के प्रति व्यवहार एवं आचरण सम्मिलित थे। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए शौच, आचार, स्नान, सन्ध्योपासना आदि विद्यार्थी के चरित्र के मूल आधार थे जो उसके चरित्र का उत्थान करते थे। विद्यार्थी के समक्ष हरिश्चन्द्र, राम, लक्ष्मण, हनुमान, भीष्म जैसे महापुरुषों तथा सीता, सावित्री, अनसूया, द्रौपदी जैसी महान् नारियों के उच्च चरित्र का आदर्श प्रस्तुत किया जाता था जिससे उसके चरित्र निर्माण में प्रेरणा मिलती थी।

प्राचीन शिक्षा पद्धति को विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण के लक्ष्य को पूरा करने में सफलता मिली। इसके द्वारा शिक्षित विद्यार्थी कालान्तर में चरित्रवान एवं आदर्श नागरिक बनते थे। भारत की यात्रा पर आने वाले विदेशी यात्रियों ने यहां के लोगों के नैतिक चरित्र के समुन्नत होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है। अतः प्राचीन भारतीय शिक्षा का वातावरण चरित्र–निर्माण में सहयोग प्रदान करता था।

(2) व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास : प्राचीन शिक्षा का एक उद्देश्य विद्यार्थी के व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण विकास करना था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व को दबाने का कभी भी प्रयास नहीं किया गया बल्कि पूर्ण अवसर दिया जाता था। कुछ विद्वानों का विचार है कि भारत की शिक्षा पद्धति में कठोर अनुशासन के द्वारा विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को दबा दिया गया जिससे उनका समुचित विकास नहीं हो सका। किन्तु इस प्रकार की अवधारणा भारतीय दृष्टिकोण को ठीक प्रकार से न समझ पाने के कारण है। वस्तुतः भारत में हरेक युग में व्यावहारिक दृष्टि से वृत्ति के चुनाव की स्वतन्त्रता रही है। स्मृति ग्रन्थों में शिक्षा का जो विधान प्रस्तुत किया गया है वह अधिकांशतः काल्पनिक एवं आदर्शवादी है। व्यावहारिक दृष्टि से उस पर आचरण बहुत कम किया गया।

प्राचीन शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी के बौद्धिक विकास के साथ–साथ शारीरिक विकास का भी पूरा ध्यान रखा गया था। प्राचीन भारतीय चिन्तकों में यह धारणा विद्यमान थी की 'स्वस्थ मस्तिष्क का स्वस्थ शरीर में निवास होता है'। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी में आत्म–विश्वास, आत्म–अनुशासन, आत्म–संयम, आत्म–सम्मान, विवेक–शक्ति, न्याय–शक्ति आदि गुणों का उदय होता था जो उसके व्यक्तित्व का विकास करने में सहायक थे। विद्या अर्जित करने से पहले उपनयन संस्कार के अवसर पर ही विद्यार्थी में आत्म–विश्वास जाग्रत किया जाता था। उसे यह विश्वास दिलाया जाता था कि उसके कर्तव्यों के निर्वाह तथा लक्ष्य की प्राप्ति में देवता उसकी सहायता करेंगे। ब्रह्मचारी अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त होकर निष्ठापूर्वक पूरी दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था। विद्यार्थी को यह याद दिलाया

टिप्पणी

जाता था कि वह अपनी जाति एवं देश की संस्कृति का रक्षक है। उसका महत्व इतना अधिक था कि राजा भी उसका आदर करता था। वह ब्रह्मचारी को यथेच्छित धन प्रदान करता था। विद्यार्थी को भविष्य–जीवन की चिन्ता नहीं सताती थी। उसके निर्वाह का उत्तरदायित्व समाज अपने कन्धों पर वहन करता था। यदि वह व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करता तो उसकी वृत्ति पूर्व निर्धारित थी। यदि वह धार्मिक शिक्षा ग्रहण करता तो भी निर्धनता उसके मार्ग में बाधक नहीं थी। उसकी आवश्यकताएं सीमित होती थी तथा समाज उनकी पूर्ति करता था। विद्यार्थी का जीवन सीधा–सादा एवं सरल था।

ब्रह्मचारी को आहार, विहार, वस्त्र, आचरण आदि सभी को नियमित करना होता था। गीता में कहा गया है कि "यथायोग्य आहार–विहार करने वाले, कर्मों में यथायोग्य प्रयास करने वाले, यथायोग्य शयन करने वाले तथा यथायोग्य जागने वाले व्यक्ति के लिए ही योग दुःखों का विनाशक बनता है। आत्मसंयम से ही व्यक्ति में विवेक एवं न्याय शक्ति का उदय होता है। वह सत्–असत् का भेद करने में समर्थ हो जाता है। इन सभी तत्वों का विद्यार्थी के व्यक्तित्व के सम्यक् विकास में योगदान होता है"।

(3) नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान : प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराकर उसे सुयोग्य नागरिक बनाना भी था। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु इस बात पर बल दिया जाता था कि मनुष्य समाजोपयोगी बने, स्वार्थी नहीं। शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात समावर्तन संस्कार का आयोजन किया जाता था जिसमें आचार्य विद्यार्थी के समक्ष उसके भावी कर्तव्यों को बहुत ही प्रभावयुक्त शब्दों में समझाता था। तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित है– 'सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना। अपने परिश्रम (स्वाध्याय) में आलस्य मत करना। गुरु को दक्षिणा देने के बाद सन्तति उत्पादन की परम्परा को विच्छिन्न मत करना। सत्यमार्ग से विचलित मत होना। धर्म से विचलित मत होना। लाभकारी कार्यों में प्रमाद मत करना। महान् बनने का अवसर न खोना। अध्ययन–अध्यापन के कर्तव्यों की उपेक्षा मत करना। देवताओं तथा पितरों के यज्ञ, श्रद्धादि की उपेक्षा मत करना। माता को देवी मानना। आचार्य को देवता मानना। पिता को देवता मानना। अपने अतिथि को देवता समझना। दोष रहित कार्यों को करना, अन्य नहीं। हम लोगों के अच्छे कार्यों का अनुकरण करना। जो कुछ भी दान करना, श्रद्धा, विश्वास, आनन्द, विनम्रता, भय तथा दयालुता से करना। कर्तव्य अथवा आचरण में किसी प्रकार के संदेह होने पर उत्तम विवेक वाले ब्राह्मणों की भांति आचरण करना'। शिक्षा प्राप्ति के पश्चात विद्यार्थी गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है तथा आचार्य द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण करते हुए देश एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था। विभिन्न व्यवसायों में अपनी अलग–अलग आचार संहिताएं होती थीं। इसमें सामाजिक कर्तव्यों पर विशेष बल दिया गया था। उन्हें यह सलाह दी गई कि वे केवल अपने स्वार्थ में ही लिप्त न रहें बल्कि अपने धन का समुचित भाग परोपकार और जनकल्याण के कार्यों पर भी खर्च करें।

(4) सामाजिक सुख तथा कुशलता की उन्नति : भारतीय शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक सुख एवं कुशलता को प्रोत्साहन प्रदान करना भी था। इस उद्देश्य की प्राप्ति भावी पीढ़ी को ज्ञान की विभिन्न शाखाओं, व्यवसायों तथा उद्योगों में प्रशिक्षण देकर की जाती थी। भारतीय समाज में कार्य विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार किया

टिप्पणी

गया था। साधारणतः व्यवसाय वंशानुगत होते थे। विभिन्न वर्गों के लोग अपनी–अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करके अपने–अपने कार्यों में कुशलता प्राप्त करते थे। गीता में लिखित है कि 'अपने–अपने कर्मों में रत मनुष्य ही सिद्धि को प्राप्त करता है'। भारतीय शिक्षा पद्धति ने सदैव यह उद्देश्य अपने समक्ष रखा कि नई पीढ़ी के युवक अपने परिवार के व्यवसाय को ही अपनाएं। प्राचीन भारत में सभी प्रकार के कार्यों के लिए शिक्षा देने की व्यवस्था थी। कार्य विभाजन के द्वारा विभिन्न शिल्पों और व्यवसायों में लोग निपुणता प्राप्त करने लगे जिससे सामाजिक कुशलता एवं सुख की निरन्तर उन्नति होती रही।

(5) संस्कृति का संरक्षण एवं विस्तार : प्राचीन काल में हिन्दुओं ने अपने विचार तथा संस्कृति के संरक्षण एवं प्रचार के लिए शिक्षा को प्रमुख माध्यम माना। विभिन्न वर्गों के लोगों का कर्तव्य था कि वे अपनी संतान को अपने वर्ण से सम्बन्धित सभी प्रकार के शिल्पों एवं प्रगति के विषय में प्रारम्भ में ही शिक्षित करें। आर्यों की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वैदिक साहित्य को सुरक्षित बनाए रखना था। यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक विद्यार्थी वेदों को कण्ठस्थ करे तथा उसे अपने मस्तिष्क में सुरक्षित रखे। यह प्राचीन आचार्यों के घोर परिश्रम का ही तो फल है कि हमारा वैदिक कालीन सम्पूर्ण साहित्य हमारे सामने आज भी ज्यों का त्यों सुरक्षित है। कुछ लोग काव्यशास्त्र, व्याकरण, लौकिक साहित्य, तर्कविद्या, दर्शन में निपुण होकर प्राचीन ज्ञान–विज्ञान को सुरक्षित रखते थे।

भारतीय समाज में वैदिक युग से ही तीन ऋणों का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। इसने प्राचीन पीढ़ियों की सर्वोत्तम परम्पराओं को सुरक्षित बनाए रखने तथा उनके प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह मान्यता प्रचलित थी कि जन्म के साथ ही व्यक्ति पर तीन ऋण लद जाते हैं–देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण। इनसे मुक्त होना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य होता है। देवऋण से मुक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करने पर, ऋषिऋण से मुक्ति ब्रह्मचर्य के पालन से तथा पितृऋण से मुक्ति सन्तानोत्पन्न करने पर मिलती है। इन ऋणों के विधान द्वारा इस बात की पूरी व्यवस्था की गई थी कि भावी पीढ़ियां अपनी प्राचीन संस्कृति तथा परम्पराओं को सुरक्षित रखें और उनका प्रचार–प्रसार भी करती रहें।

प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं का संरक्षण करने के कुछ अन्य उपाय भी थे। इनमें स्वाध्याय तथा ऋषि–तर्पण विशेष रूप से उल्लेखनीय थे। स्वाध्याय में प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षित था कि वह विद्यार्थी जीवन में अधीत पाठों के कम से कम एक भाग की प्रतिदिन पुनरावृत्ति करे। द्वितीय में यह विधान किया गया कि वह प्रातःकालीन प्रार्थनाओं में पूर्वकाल के ऋषियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करे। कालान्तर में जब वैदिक संस्कृत का प्रचलन बन्द हो गया तब लोक भाषा में पुराण आदि साहित्यों को प्रस्तुत किया गया जिनके द्वारा वैदिक संस्कृति तथा परम्परा को आम लोगों तक पहुंचाया गया। परिणामस्वरूप भारत की प्राचीन संस्कृति जीवन्त रही। डॉ. अल्तेकर ने ठीक ही लिखा है, "हमारे पूर्वजों ने प्राचीन युग के साहित्य की विभिन्न शाखाओं के ज्ञान को सुरक्षित ही नहीं रखा अपितु अपने यथाशक्ति योगदान द्वारा उसमें निरन्तर वृद्धि करके उसे मध्य युग तक भावी पीढ़ी को हस्तांतरित किया।"

टिप्पणी

(6) निष्ठा तथा धार्मिकता का संचार करना : भारत की प्राचीन संस्कृति धर्मप्रधान रही है जहां धर्म ने संस्कृति के सभी पहलुओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। अतः शिक्षा पद्धति भी धर्म से प्रभावित थी तथा उसका एक प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों में निष्ठा एवं धार्मिकता की भावना जागृत करना था। विद्यारम्भ में जो संस्कार होते थे, गुरुकुल में विद्यार्थी के लिए जो अनुष्ठान और व्रत निर्धारित हैं तथा उसकी प्रतिदिन की प्रार्थना, इन सबके माध्यम से उसके मस्तिष्क में पवित्रता एवं धार्मिकता का उदय होता था। यह आध्यात्मिक भावना उसे भौतिक जीवन के आकर्षणों से विरक्त करती थी। वह सत्यनिष्ठा के साथ अपना आचार–विचार संयमित रखते हुए अध्ययन करता था तथा सुचरित्र का निर्माण करता था। किन्तु इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन शिक्षा विद्यार्थियों को संसार त्यागकर संन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा देती थी। इसका उद्देश्य विद्यार्थी को सामाजिक जीवन के लिए उपयुक्त बनाना था। वैदिक काल में भी बहुत कम लोग आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे। अधिकांश लोग शिक्षा पूर्ण करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे। प्राचीन धर्मग्रन्थों में गृहस्थ आश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि यह अन्य सभी का पोषक था। संन्यास एवं कायाक्लेश को अधिक मान्यता प्राप्त नहीं थी।

शिक्षा के पाठ्यक्रम

ऋग्वैदिक काल में शिक्षा का मुख्य पाठ्यक्रम वैदिक साहित्य का अध्ययन ही था। वेदों के अतिरिक्त इतिहास, पुराण तथा नाराशंसी गाथाएं एवं खगोल–विद्या, ज्यामिति, छन्दशास्त्र आदि भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे। वैदिक साहित्य का अध्ययन 9 या 10 वर्ष की आयु में प्रारम्भ होता था। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई तथा ये शिक्षा के विषय बन गए। उपनिषद् तथा सूत्रों के काल में वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया गया। इसलिए पदपाठ, कर्मपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि विधियां अस्तित्व में आईं। वैदिक साहित्य के अध्ययन को सरल बनाने के उद्देश्य से 6 वेदांगों की रचना हुई–शिक्षा, छन्द, कल्प, निरुक्त, व्याकरण तथा ज्योतिष। सूत्र युग के अन्त तक आते–आते वैदिक साहित्य का अध्ययन कम हो गया तथा उसके स्थान पर पाठ्यक्रम में अन्य विभिन्न विषयों को सम्मिलित कर लिया गया। इस काल में दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, खगोलविद्या, मूर्तिकला, वैद्यक, पोतनिर्माण कला के क्षेत्र में प्रगति हुई। विभिन्न व्यवसायों तथा शिल्पों की भी शिक्षा का प्रबंध किया गया। इस युग के स्नातक वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण होते थे। अट्ठारह शिल्प निम्नलिखित थे–गायन, वादन, चित्रकला, नृत्य, गणना, गणित, यन्त्र, मूर्तिकला, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, चिकित्सा, विधि, प्रशासनिक प्रशिक्षण, धनुर्विद्या तथा सैनिक शिक्षा, जादूगरी, सर्पविद्या, विष दूर करने की विधि तथा छिपे हुए धन का पता लगाने की विधि।

वात्स्यायन के कामसूत्र में 64 विधाओं का उल्लेख मिलता है जिनका अध्ययन सुसंस्कृत महिला के लिए अनिवार्य बताया गया है। ये पाकविद्या, शारीरिक प्रसाधन, संगीत, नृत्य, चित्रकला, सफाई, सिलाई–कढ़ाई, व्यायाम, मनोरंजन आदि से सम्बन्धित हैं। कामसूत्र के अतिरिक्त कादम्बरी, शुक्रनीतिसार, ललितविस्तर आदि में भी चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य तथा विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि यहां शिक्षा के पाठ्यक्रम में 4 वेद, 6 वेदांग, 14 विधाएं, 18 शिल्प, 64 कलाएं आदि

टिप्पणी

सम्मिलित थे। कवि कालिदास ने भी 14 विद्याओं का उल्लेख किया है जिनमें चारों वेद एवं छह वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र का उल्लेख किया है। ह्वेनसांग तथा अलबरूनी के विवरण से ज्ञात होता है कि व्याकरण तथा ज्योतिष की शिक्षा का भारत में बहुत अधिक प्रचलन था। इन विषयों से सम्बन्धित विद्वानों का समाज में बहुत सम्मान था। राजदरबार में भी अनेक ज्योतिषी रहते थे। शैक्षणिक केंद्रों में धार्मिक विषयों के साथ ही साथ लौकिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। तक्षशिला में वैदिक साहित्य के साथ–साथ 18 शिल्पों की भी शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार विद्यार्थी साहित्य का अध्ययन करके स्वतन्त्र रूप से जीविकोपार्जन के योग्य बन जाते थे।

वैदिक युग के प्रारम्भ में मौखिक शिक्षा होती थी तथा पवित्र मन्त्रों को कण्ठस्थ करने पर बल दिया जाता था। पुरोहित वर्ग के लोग विशेष रूप से मन्त्रों को स्मरण कर लिया करते थे। सामान्य जन केवल कुछ प्रसिद्ध मन्त्रों को ही याद किया करता था। कालान्तर में मन्त्रों को याद करने के साथ ही साथ उनकी व्याख्या के ज्ञान पर भी बल दिया गया। निरुक्त में ऐसे व्यक्ति की निन्दा की गई है जो मन्त्रों के अर्थ को समझे बिना ही उनका उच्चारण करते हैं। शास्त्रार्थ के लिए गोष्ठियों का आयोजन किया जाने लगा जिसमें विद्यार्थी बहुत संख्या में भाग लेते थे। उपनिषद् तथा सूत्रों के काल में वेदों को अपौरुषेय माना गया तथा वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण किए जाने पर बल दिया गया। साहित्य की व्यापकता के कारण कुछ विद्यार्थी केवल वेदों को याद करते थे तथा कुछ उनकी टीका से सम्बन्धित ग्रंथों का अध्ययन करते थे। प्राचीन काल में कागज तथा छपाई के साधनों के अभाव में पुस्तकें अत्यन्त महंगी थी जिससे साधारण विद्यार्थी उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते थे। उस समय पुस्तकालयों का भी अभाव था। ऐसी स्थिति में मौखिक शिक्षा ही सबसे सरल और उचित माध्यम थी। इस विधि से विद्यार्थी पाणिनीय व्याकरण और अमरकोश जैसे ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर लेते थे। विद्वान् वही माना जाता था जिसको सभी विधाएं कण्ठस्थ हों।

गुरुकुल पद्धति

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख तत्व गुरुकुल व्यवस्था है। इसमें विद्यार्थी अपने से दूर गुरु के घर में रहकर शिक्षा अर्जित करता था। कभी–कभी वह शिक्षा केंद्रों से सम्बद्ध छात्रावासों में भी रहता था। इस प्रकार के विद्यार्थियों को 'अन्तेवासी' अथवा 'आचार्य कुलवासी' कहा गया है। धर्मग्रन्थों में वर्णित है कि विद्यार्थी उपनयन संस्कार के साथ तो गुरुकुल में निवास करे तथा विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करे। गुरु के घर में रहते हुए विद्यार्थी उसके परिवार का एक सदस्य हो जाता था तथा गुरु उसके साथ पुत्र जैसा व्यवहार करता था। गुरुकुल में विद्यार्थी ब्रह्मचारी बनकर शिक्षा ग्रहण करता था। वहां उसे गुरु के पहले उठना तथा उसके सो जाने पर सोना पड़ता था। गुरु की सेवा करना उसका परम कर्तव्य था। उसकी सेवाओं के बदले में गुरु भी उसके ऊपर व्यक्तिगत ध्यान रखता था तथा लगन के साथ उसे विविध विद्याओं और कलाओं की शिक्षा प्रदान करता था।

प्राचीन काल के व्यवस्थाकारों ने गुरु के साथ विद्यार्थी के सान्निध्य के महत्व को समझा था और इसी कारण गुरुकुल पद्धति पर बल दिया। गुरु के चरित्र तथा आचरण का शिष्य के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता था और वह उसका अनुकरण करता था। परिवार के वातावरण से दूर रहने के कारण उसमें आत्म–निर्भरता की

भावना विकसित होती थी तथा वह सांसारिक गतिविधियों से भली प्रकार परिचित होता था। उसमें अनुशासन की प्रवृत्ति का भी उदय होता था। इसी कारण महाभारत में गुरुकुल की शिक्षा को घर की शिक्षा की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय बताया गया है।

टिप्पणी

गुरुकुल सदैव वनों में ही स्थित नहीं होते थे। कुछ विख्यात ऋषियों जैसे– वाल्मीकि, कण्व, संदीपनि व अन्यों के आश्रम वनों में ही थे तथा उन्होंने अपने आश्रमों में सैकड़ों विद्यार्थियों को पढ़ाने की व्यवस्था कर रखी थी किन्तु अधिकांशतः गुरुकुल ग्रामों तथा नगरों में स्थित थे। शिक्षक गृहस्थ थे और स्वाभाविक रूप से वे उन्हें अपने निवास स्थान के समीप ही रखते थे। यह अनिवार्य था कि गुरुकुल ग्राम या नगर में किसी उपवन या एकान्त स्थान पर स्थित हों।

प्राचीन साहित्य में गुरुकुलों में रहकर शिक्षा अर्जित करने वाले विद्यार्थियों के नाम मिलते हैं। छान्दोग्योपनिषद् से ज्ञात होता है कि उद्दालक आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु ने गुरुकुल में रहकर अध्ययन किया था। विष्णुपुराण से पता चलता है कि कृष्ण तथा बलराम ने सन्दीपनि के आश्रम में रहकर अध्ययन किया था। रामायण में भारद्वाज तथा वाल्मीकि के गुरुकुलों का उल्लेख मिलता है। महाभारत से ज्ञात होता है कि कण्व तथा मार्कण्डेय ऋषियों के आश्रम शिक्षा के प्रसिद्ध केंद्र थे। दुर्वासा मुनि के आश्रम में दस हजार विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। ऐतिहासिक काल में हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला के आचार्य चाणक्य के साथ रहकर शिक्षा अर्जित की थी। गुप्त काल में ब्राह्मणों को दिए जाने वाले भूमिदान को अग्रहार कहा जाता था। ये अग्रहार भी शिक्षा के प्रमुख केंद्र थे। हर्षचरित में गुरुकुल का उल्लेख मिलता है। अल्बरूनी के विवरण से ज्ञात होता है कि पूर्व मध्यकाल में शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से अनेक गुरुकुलों की स्थापना की गई थी।

गुरु–शिष्य सम्बन्ध

भारतवर्ष में गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। प्राचीन भारतीय समाज में गुरु को अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान दिया गया था। शिष्य गुरु को ईश्वर तुल्य मानते थे। गुरु–शिष्य सम्बन्ध अत्यन्त पुण्य, पुनीत, मधुर एवं सौहार्दपूर्ण थे। प्राचीन काल में सार्वजनिक शिक्षण संस्थाएं, जहां प्रबन्ध समिति द्वारा नियुक्त अध्यापक शिक्षण–कार्य करते थे, बहुत कम थीं। अधिकांश ख्याति प्राप्त आचार्य अपने निजी शिक्षण केंद्र स्थापित करके विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। इनमें आचार्य तथा उसके विद्यार्थी के बीच सीधा सम्बन्ध होता था। विद्यार्थी योग्य विद्वान् आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाते थे तथा आचार्य भी सच्चे जिज्ञासु विद्यार्थी को ही अपना शिष्य बनाता था। शिष्य उसके घर के सदस्य के रूप में रहते हुए शिक्षा ग्रहण करता था। गुरु–ज्ञान का भण्डार होता था। छात्र एवं गुरु में वाद–विवाद द्वारा अध्ययन होता था। छात्र की प्रत्येक जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयास किया जाता था। गुरु सदैव ज्ञान की खोज में रहते थे तथा अपने ज्ञान–ज्योति से छात्र के अन्धकार रूपी अज्ञान को प्रकाशित करते थे। आचार्य तथा विद्यार्थी के मध्य सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ था। गुरु छात्र को पुत्र के समान तथा शिष्य गुरु को पिता के समान मानते थे। निरुक्त में कहा गया है कि शिष्य अपने आचार्य को पिता और माता के समान समझे तथा उसके प्रति कभी द्रोह न करे (तं मन्येत् पितरं मातरं च तस्मै न द्योत्कतमच्चनाह)। मनुस्मृति में कहा गया है कि उपनयन संस्कार के पश्चात् विद्यार्थी

टिप्पणी

का दूसरा जन्म होता है और गायत्री उसकी माता तथा आचार्य उसका पिता होता है। शिष्य को अपना लेने के बाद गुरु उससे कोई शुल्क नहीं लेता था, बल्कि स्वयं उसे भोजन, वस्त्रादि देकर उसकी सहायता किया करता था। शिष्य के बीमार होने पर गुरु उसकी देखभाल करता था। शिष्य गुरु के गृह कार्यों में उसकी सहायता किया करता था। वह गुरु के लिए भिक्षा माँगता था तथा उसको आज्ञाओं का पालन करने के लिए सदैव उद्यत रहता था। वह गुरु की निन्दा नहीं कर सकता था और न ही निन्दा सुन सकता था। आपस्तम्ब का मत है कि गुरु की त्रुटियों को शिष्य एकान्त स्थान में उससे बताए। गौतम ने व्यवस्था दी है कि शिष्य अपने धर्मविहीन गुरु की आज्ञा मानने से मना कर सकता है।

प्रायः सभी ग्रंथों में गुरु की सेवा करना शिष्य का पुनीत कर्तव्य बताया गया है। वह गुरु के लिए प्रतिदिन जल, दातून, आसन आदि प्रदान करता था, ईंधन की व्यवस्था करता था, घर की सफाई करता था तथा गायों की सेवा करता था। शिष्य प्रायः एक आचार्य को छोड़कर दूसरे के यहां नहीं जाता था। ऐसे शिष्यों को पतंजलि ने 'तीर्थकाक' बताया है जो एक आचार्य का परित्याग कर दूसरे आचार्य के पास जाते थे। जातक कथाओं से ज्ञात होता है कि कभी–कभी आचार्य अपनी कन्या का विवाह अपने योग्य शिष्य से कर दिया करते थे। कुछ ग्रन्थ गुरु की पुत्री के साथ विवाह का निषेध करते हैं। शिष्य अपने शील, गुण एवं प्रतिभा के कारण गुरु का हृदय जीत लेते थे। शिष्य के कार्य–अकार्य के लिए गुरु ही उत्तरदायी होता था। गुरुपत्नी भी शिष्य के प्रति मधुरता एवं कोमलता का व्यवहार करती थी। वह उसकी आवश्यकताओं तथा सुख–दुःख का सदैव ध्यान रखती थी। गुरु के स्नेहमयी और वात्सल्यपूर्वक व्यवहार से प्रभावित होकर शिष्य कभी–कभी अपने माता–पिता को त्यागकर गुरुकुल में ही सारा जीवन व्यतीत कर देते थे। ऐसे शिष्य को 'अन्तेवासिन' कहा जाता था। राजा–रंक सभी गुरुकुल में साथ–साथ शिक्षा प्राप्त करते थे परन्तु गुरु अपने सभी शिष्यों के साथ समानता का व्यवहार करते थे। विद्यार्थी अत्यन्त निष्ठापूर्वक गुरुकुल के नियमों का पालन करते थे। उन्हें कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था। अनुशासनहीन तथा उद्दण्ड विद्यार्थियों को गुरु द्वारा दण्डित किए जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। तिलमुत्थि जातक से पता चलता है कि काशी के एक राजकुमार को उसके गुरु ने शारीरिक दण्ड दिया था।

समावर्तन संस्कार के पश्चात् शिष्य गुरुकुल से वापस आता था। उसके बाद भी उसका अपने गुरु के साथ सम्पर्क बना रहता था। वह प्रायः अपने गुरु के पास जाता तथा उसे भेंट, उपहारादि प्रदान करता था। गुरु भी अपने शिष्य के यहां जाते थे तथा यह देखते थे कि शिष्य अपने स्वाध्याय का पालन कर रहा है अथवा नहीं। इस प्रकार प्राचीन भारत में गुरु–शिष्य सम्बन्ध, पारस्परिक स्नेह तथा सौहार्द पर निर्भर थे।

शिक्षण शुल्क

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में शुल्क देने का कोई निश्चित नियम नहीं था। प्रायः शिक्षा निःशुल्क होती थी। शिक्षा प्रदान करना आचार्यों का पुनीत कर्तव्य माना गया था। जो लोग शुल्क पाने की इच्छा से शिक्षा प्रदान करते थे, समाज उन्हें हेय की दृष्टि से देखता था। ऐसे विद्वानों को कालिदास ने 'ज्ञान का व्यवसायी' कहा है। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि निर्धन शिक्षा प्राप्त करने से वंचित न

टिप्पणी

रह जाय। परन्तु शिष्य का यह कर्तव्य था कि वह अपने गुरु को कुछ न कुछ धन दक्षिणा स्वरुप अवश्य प्रदान करे। माता–पिता से भी यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने बालक को शिक्षित करने वाले गुरु को उपहारादि प्रदान करें ताकि आचार्य के सामने आर्थिक संकट उत्पन्न न हो सके। धनी व्यक्ति अपने बालकों के प्रवेश के समय ही गुरु को सम्पूर्ण धनराशि प्रदान कर देते थे। जातक कथाओं से ज्ञात होता है कि श्रेष्ठिपुत्र तथा राजकुमार तक्षशिला में शिक्षा के लिए प्रवेश के समय ही सम्पूर्ण शिक्षण शुल्क दे देते थे। महाभारत से पता चलता है कि भीष्म ने गुरु द्रोणाचार्य को कौरव राजकुमारों की शिक्षा के लिए प्रारम्भ में ही शुल्क प्रदान कर दिया था। यदि कोई व्यक्ति समर्थ होते हुए भी आचार्य को शुल्क प्रदान नहीं करता था तो समाज में उसकी निन्दा की जाती थी। जिन छात्रों के माता–पिता निर्धन होते थे, वे स्वयं गुरु की सेवा द्वारा शुल्क की क्षतिपूर्ति करते थे। शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् ऐसे विद्यार्थी भिक्षा मांगकर गुरु–दक्षिणा चुकाते थे। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां अचार्यों ने दक्षिणा लेने से इनकार कर दिया। याज्ञवल्क्य ने जनक द्वारा प्रदत्त दक्षिणा ग्रहण नहीं की। बौद्ध भिक्षु नागसेन ने मेनाण्डर से दक्षिणा ग्रहण नहीं की। कभी–कभी गुरु, शिष्य की सेवा से प्रसन्न होकर उसे ही दक्षिणा मान लेता था तथा शिष्य के हठ करने पर क्रुद्ध हो जाता था। कालिदास द्वारा रचित ग्रन्थ रघुवंश से ज्ञात होता है कि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने जब गुरु–दक्षिणा देनी चाही तो गुरु ने उसकी सेवा को हो पर्याप्त माना। लगातार हठ करने पर वे चिढ़ गए तथा दण्ड स्वरूप चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं प्रदान करने को कहा। रघु की सहायता से कोत्स इतनी बढ़ी धनराशि वरतन्तु को प्रदान करने में सफल रहा।

अध्ययन–अध्यापन करने वाले विद्वानों के निर्वाह की उचित व्यवस्था करना राज्य तथा समाज का कर्तव्य था। इस उद्देश्य से राजा तथा कुलीन वर्ग के लोग शिक्षण संस्थाओं को भूमि तथा धनादि दान में देते थे। जैसा कि पहले बताया गया है कि गुप्त काल में ब्राह्मण विद्वानों को ग्राम दान में दिए जाते थे जिन्हें 'अग्रहार' कहा जाता था। चीनी ग्रंथों से जानकारी मिलती है कि राजा हर्षवर्धन ने उड़ीसा में जयसेन नामक बौद्ध विद्वान् को 14 बड़े गाँव दान में दिए थे। नालन्दा महाविहार को भी आस–पास के ग्राम दान में दिए गए थे। इन गांवों से जो राजस्व मिलता था उससे शिक्षण संस्थाओं का खर्च चलता था तथा विद्यार्थियों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, आवास आदि की सुविधा प्रदान की जाती थी। गौतम तथा विष्णु जैसे शास्त्रकारों ने व्यवस्था दी है कि छात्रों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने वाले आचार्य के भरण–पोषण की व्यवस्था राजा को करनी चाहिए। उसका यह कर्तव्य था कि वह ब्राह्मण अध्यापकों को समुचित धन प्रदान करे जिससे उनका अध्ययन–अध्यापन का कार्य निर्विघ्न रूप से चलता रहे। निर्धन से निर्धन परिवार का भी यह कर्तव्य था कि वह शिक्षा हेतु कुछ न कुछ अंशदान अवश्य करे। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे द्वार पर भिक्षा के लिए आए ब्रह्मचारी को यथाशक्ति अन्न प्रदान करें। ब्रह्मचारी को द्वार से वापस करना जघन्य पाप बताया गया है। श्राद्ध के अवसर पर आम लोग विद्वान् पण्डितों को दक्षिणा प्रदान करते थे। विभिन्न संस्कारों तथा समारोहों के अवसर पर भी उन्हें दान–दक्षिणा दी जाती थी। इस प्रकार समाज का सभी वर्ग शिक्षा को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से यथायोग्य अंशदान करता था। इससे आचार्यगण आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर पूर्ण रूप से अपने कार्य में एकाग्रचित रहते थे।

टिप्पणी

परीक्षा तथा उपाधियां

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में आधुनिक काल की भांति परीक्षा लेने तथा उपाधि प्रदान करने की प्रथा नहीं थी। विद्यार्थी अपने आचार्य के सीधे सम्पर्क में रहते थे। जब वे एक पाठ याद कर लेते तथा आचार्य उनसे सन्तुष्ट हो जाता तब उन्हें दूसरा पाठ याद करने को दिया जाता था। शिक्षा पूर्ण होने पर समावर्तन नामक संस्कार का आयोजन किया जाता था तथा तत्पश्चात् छात्र एक विद्वत्मण्डली के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। वहां उससे उसके अध्ययन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न पूछे जाते थे और इसके उपरांत वह स्नातक बन जाता था। यहां उल्लेखनीय है कि विद्वानों की सभा छात्र की योग्यता के विषय में अन्तिम प्रमाण नहीं था, अपितु इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय उसे ज्ञान प्रदान करने वाले आचार्य का ही होता था। चरक तथा राजशेखर ने विद्वत्परिषदों का उल्लेख किया है जो कवियों तथा विद्वानों की परीक्षा लेती थी। किन्तु यह परीक्षा आज की परीक्षा जैसी नहीं थी बल्कि इसमें विद्वानों की श्रेष्ठता प्रमाणित की जाती थी।

प्राचीन काल में शिक्षा केंद्रों द्वारा आजकल की तरह कोई उपाधि प्रदान नहीं की जाती थी। उपाधि प्रदान करने की प्रथा मध्यकाल की उपज है। तारानाथ के विवरण से पता चलता है कि बंगाल के पाल शासक विक्रमशिला के छात्रों को अध्ययन की समाप्ति पर सनद प्रदान करते थे। ह्वेनसांग भी इसका उल्लेख नहीं करता। वस्तुतः प्राचीन काल में छात्रों का उद्देश्य आधुनिक युग के छात्रों की भांति उपाधियों के पीछे दौड़ना नहीं था। वे ज्ञान के सच्चे पिपासु थे। अपने अध्ययन को वे जीवन–भर संजोए रखते थे। उनकी प्रबल अभिलाषा अपने देश की सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने की थी और यही उनके समस्त शैक्षणिक क्रियाकलापों का मूलमंत्र था।

प्राचीन शिक्षा पद्धति के दोष

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति अनेक दृष्टि से उत्तम थी परन्तु इसके बावजूद इसमें कुछ दोष भी थे, जो निम्नलिखित हैं–

(1) प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति पर धर्म का व्यापक प्रभाव था। शिक्षा पर धर्म का नियन्त्रण होने से जहां बहुत से लाभ हुए वहां कुछ दोष भी उत्पन्न हो गए। यद्यपि यह कहना गलत होगा कि धार्मिक प्रभाव के कारण भारतीय शिक्षा प्रणाली से निवृत्ति–मार्गी विचारधारा को बल मिला, लेकिन ब्राह्मण–पुरोहितों के ही अध्यापक होने से इस बात का सदैव भय बना रहा कि कहीं वे अपनी प्रतिष्ठा का दुरुपयोग न करने लगें। यह वास्तव में प्रशंसनीय तथ्य है कि उन्होंने इस स्थिति का लाभ उठाकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ–साधन का प्रयास नहीं किया परन्तु इससे इतना अवश्य हुआ कि भारतीय जीवन में धार्मिक और लौकिक पक्षों का सन्तुलन बिगड़ गया।

(2) प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में कुछ पाठ्यक्रम संबंधी दोष भी थे। पाठ्यक्रम में धार्मिक अथवा अर्ध–धार्मिक विषय प्रमुख बन गए और लौकिक विषय गौण हो गए। आचार्य अधिकांशतः पुरोहित हुआ करते थे जिनका दृष्टिकोण पूर्णतया धार्मिक था। उन्होंने वेद, पुराण, दर्शन, धर्मशास्त्रों आदि के अध्ययन पर विशेष बल दिया तथा इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, गणित, खगोल आदि लौकिक विषयों की उपेक्षा की थी जिससे इनका स्वतन्त्र रूप से अध्ययन नहीं हो पाया। वाणिज्य, उद्योग तथा ललित

टिप्पणी

कलाओं के अध्ययन पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया जिसके परिणामस्वरूप इनका विकास अवरुद्ध हो गया। शिल्प तथा कला निम्न–वर्गीय उद्यम बन गए। इसके अतिरिक्त यह शिक्षा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास पर अधिक बल देती थी। इसका दृष्टिकोण व्यावहारिकता की अपेक्षा आदर्शवादी अधिक था।

(3) भारतीय शिक्षा पद्धति के अंतर्गत वेदों तथा उन पर आधारित ग्रन्थों को दैवी अथवा अपौरुषेय एवं पवित्र माना जाता था। किसी प्रकार का शोध या कोई भी सिद्धान्त इनके अविरुद्ध होने पर ही मान्य होता था। इसके परिणामस्वरूप तर्क को शास्त्र वचन से गौण माना जाने लगा। इस प्रकार की व्यवस्था में मौलिक चिन्तन तथा स्वतंत्र गवेषणाओं के लिए कोई भी स्थान नहीं रहा। उन ग्रन्थों के विरुद्ध कोई भी युक्तियुक्त बात कहना भी असंभव हो गया। गुप्त काल में आर्यभट्ट, वाराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त जैसे वैज्ञानिकों ने सूर्य एवं चन्द्रग्रहण सम्बन्धी सत्य जानते हुए भी पौराणिक अवधारणा के विरुद्ध बोलने का साहस नहीं किया। ब्रह्मगुप्त ने तो आर्यभट्ट तथा वाराहमिहिर की नवीन सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए आलोचना भी की, यद्यपि वह जानता था कि इनमें सत्य का अंश विद्यमान है। प्राचीन चिकित्सा पद्धति में दीर्घकाल तक जो विच्छेदन (Dissection) की क्रिया का अस्तित्व नहीं रहा उसके पीछे धार्मिक विश्वास ही उत्तरदायी रहा। इसी प्रकार ब्राह्मणों, बौद्धों तथा जैनों द्वारा कृषि–कार्य त्यागने के पीछे भी धार्मिक रूढ़ियां ही उत्तरदायी थीं। खगोल विद्या के क्षेत्र में हुई अवनति इसका सबलतम प्रमाण है।

(4) शिक्षा का उद्देश्य प्राचीन संस्कृति का संरक्षण करना तथा उसे समृद्धशाली बनाना था। पांचवीं शताब्दी तक दर्शन, भाषाविज्ञान, व्याकरण, तर्कशास्त्र, खगोल, गणित, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति हुई। परन्तु कालान्तर में भारतीय विद्वानों की रचनात्मक प्रतिभा जाती रही तथा उनकी समस्त शक्ति प्राचीन ज्ञान–विज्ञान को सुरक्षित रखने में ही लग गई। भारतीय शिक्षा प्रणाली ऐसे विद्वानों को तैयार करने में असफल रही जो प्राचीन ज्ञान–विज्ञान की आलोचनात्मक समीक्षा करके नए मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकते।

(5) शिक्षा पद्धति में प्राचीन ज्ञान–विज्ञान पर अधिक बल दिए जाने का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतीय विद्वानों में कूपमण्डूकता आ गई तथा वे विदेशी ज्ञान–विज्ञान की प्रगति से उदासीन हो गए। आर्यभट्ट, वाराहमिहिर व अन्य कुछ प्रारम्भिक वैज्ञानिकों ने स्वयं को बाह्य जगत की वैज्ञानिक प्रगति से परिचित रखा किन्तु कालान्तर के भारतीय विद्वान् संकीर्ण, हठधर्मी तथा दम्भी हो गए। अलबरूनी ने भारतीय विद्वानों की इस प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। अल्बरूनी ने लिखा कि वे जिद्दी, मूर्ख और आत्म–प्रवंचक हैं। उसने पाया कि उस युग के हिन्दू विद्वान् यह मानने के लिए तैयार ही नहीं होते थे कि किसी और देश के व्यक्ति भी ज्ञानी और विद्वान् हो सकते हैं। यह प्रवृत्ति निश्चित रूप से भारतीय शिक्षा प्रणाली में उत्पन्न गतिरोध का परिणाम थी।

(6) शिक्षा का प्राचीन दृष्टिकोण व्यापक था तथा प्रत्येक वर्ग के लोगों को इसे ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ। किन्तु कालान्तर में यह उच्चवर्ग तक ही सीमित हो गई तथा सामान्य–जन इससे वंचित हो गए। शिक्षा का माध्यम संस्कृत थी तथा इसमें लोकभाषाओं की उपेक्षा की गई। संस्कृत भाषा जन–सामान्य की समझ से बाहर थी। हिन्दू विचारकों ने प्राकृत तथा अन्य जन–भाषाओं को विकसित करना उपयुक्त नहीं

समझा। समाज में संस्कृत के ज्ञाता विद्वान् को ही सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

(7) भारतीय शिक्षा पद्धति में विभिन्न शाखाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास नहीं किया गया। प्रत्येक शाखा के विद्वान् अपनी ही समस्याओं के विषय में सोचते थे। प्राचीन काल के शिक्षाविदों ने व्याकरण, साहित्य, तर्कविद्या, दर्शन, गणित, ललित कलायें आदि अध्ययन के विविध विषयों की सापेक्षिक उपयोगिता को नहीं समझा था।

टिप्पणी

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के जिन दोषों का उल्लेख किया गया है उनमें से अधिकतर कालान्तर में उत्पन्न हो गए। भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष काल में शिक्षा व्यवस्था का दृष्टिकोण व्यापक था और इसमें संकीर्णता नहीं थी। शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर सभी वर्गों को मिला हुआ था। भारतीय शिक्षा ने विभिन्न विषयों के प्रकाण्ड विद्व ानों को उत्पन्न किया जिन्होंने अपने ज्ञान से स्वदेश तथा विदेश को आलोकित किया। विदेशों से अनेक लोग भारतीय विद्वानों की ख्याति से प्रभावित होकर यहां अध्ययन करने के लिए आया करते थे। प्राचीन शिक्षा केंद्रों में भारत के अतिरिक्त अनेक विदेशी विद्यार्थी भी शिक्षा ग्रहण करते थे। प्राचीन शिक्षा ने ही भारतीय संस्कृति की विरासत को सुरक्षित रखा तथा उसे समृद्धशाली भी बनाया। प्राचीन शिक्षा के बहुत–से तत्व आधुनिक शिक्षा प्रणाली के लिए भी समान रूप से आदर्श एवं अनुकरणीय बने हुए हैं।

प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा

प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा का विशेष स्थान था। अधिकांश स्त्रियां समाज की सभ्य, शिक्षित और सम्मानित अंग रही हैं । पुरुषों के समान स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता थी तथा उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। वे पुरुषों के साथ यज्ञ करती थीं, यहां तक कि वह यज्ञ पूर्ण नहीं माना जाता था जो स्त्रियों की अनुपस्थिति में सम्पादित किया जाता था। अथर्ववेद में कन्या के द्वारा ब्रह्मचर्य की व्यवस्था का पालन करने का वर्णन मिलता है। मनु के कथन से स्पष्ट होता है कि पूर्व काल में कन्याओं का भी उपनयन संस्कार सम्पन्न होता था। कुछ कन्याएं विवाह की आयु हो जाने पर भी अध्ययन समाप्त नहीं करती थीं । उन्हें ब्रह्मवादिनी कहते थे। अध्ययन का कार्य करने वाली स्त्रियों को उपाध्यानी कहते थे । परन्तु जो स्त्रियां स्वयं अध्यापिकाएं होती थीं उन्हें उपाध्याय कहते थे। सूत्र ग्रन्थों, रामायण तथा महाभारत से ज्ञात होता है कि स्त्रियां वैदिक कलाओं के साथ धार्मिक कृत्य भी करती थीं। ऋग्वेद के कई मन्त्रों की रचना स्त्रियों ने की थी। दर्शन के क्षेत्र में भी स्त्रियां अध्ययन और चिन्तन में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं।

बालिकाओं की शिक्षा के लिए परिवार का विशेष योगदान था । ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलते हैं कि लड़कियाँ छात्रावासों, स्कूलों अथवा महाविद्यालयों में शिक्षा पाती थीं। 'मालतीमाधव' नाटक में कामन्दकी की शिक्षा महाविद्यालयों में भूरिवासु तथा देववर्ता के संग होने के उदाहरण मिलते हैं। धर्म–सूत्रों के अनुसार बालिकाओं की शिक्षा घर पर होनी चाहिए। घर के अभिभावक जैसे पिता, भाई अथवा चाचा के द्वारा उन्हें शिक्षित होना चाहिए। यह व्यवस्था वस्तुतः उच्च परिवारों में ही संभव थी। कन्याओं को घरेलू विज्ञान की शिक्षा के लिए घर प्रमुख शिक्षा केंद्र थे । संगीत तथा नृत्य की शिक्षा कन्याओं को दी जाती थी। इन कलाओं में सिद्धहस्त स्त्रियों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की अनुमति देकर उनके लिए शिक्षा की सुविधाओं को बढ़ा दिया । डॉ. अल्तेकर ने लिखा है कि बुद्ध ने

स्त्रियों को संघ में सम्मिलित करने की अनुमति देकर शिक्षा तथा दर्शन के प्रसार में विशेष योगदान दिया। राजकीय परिवार की कन्याएं सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करती थीं।

टिप्पणी

परिवार के लिए शिक्षा भी प्रथम पाठशाला थी। अधिकांश स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही थी और ज्ञान के क्षेत्र में योगदान दे रही थी। अतः यह अनुमान करना भी स्वाभाविक–सा है कि स्त्रियां अध्यापन व्यवस्था में भी थीं। बारहवीं शताब्दी तक पर्दा प्रथा की कठोरता न होने के कारण स्त्रियों को अध्यापन का व्यवसाय ग्रहण करने में विशेष असुविधा नहीं होती थी। सम्भव है कि अध्यापिकाओं ने लड़कों को भी शिक्षित किया होगा। पाणिनि के विवरण से पता चलता है कि कन्याओं के रहने के लिए आवास होते थे जिसे छात्रिशाला कहते थे जो महिला निरीक्षकों की देख–रेख में चलते थे। परन्तु डॉ० अल्तेकर के कथनानुसार स्त्रियों के छात्रिशाला की व्यवस्था तथा अध्यापिकाओं के कार्य–क्रमों के विषय में स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

प्राचीन काल में सह–शिक्षा के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक–सा है किंतु उपलब्ध स्रोतों से इस व्यवस्था पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता है। आठवीं शताब्दी की रचना 'मालतीमाधव' से सहशिक्षा का संकेत मिलता है । 'भवभूति' की रचना 'मालतीमाधव' एवं 'उत्तररामचरित' में सह–शिक्षा का उल्लेख मिलता है। डॉ. अल्तेकर के अनुसार पुराणों में वर्णित सुजाता, प्रमदवश की कथाओं से ज्ञात होता है कि कन्याओं का विवाह युवावस्था प्राप्त करने पर होता था और पाठशाला में वह बालकों के साथ ही पढ़ती थीं। बंगाल में भी स्त्रियों के सह–शिक्षा का उल्लेख मिलता है । वहां की प्राचीन लोककथाओं से ज्ञात होता है कि बालक–बालिकाएं एक साथ ही पाठशाला में अध्ययन करते थे। परन्तु सह–शिक्षा की इस व्यवस्था से कितने प्रतिशत स्त्रियां लाभ उठाती थीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

वैदिक काल में स्त्रियां पुरुषों की भांति परा एवं अपरा विद्याओं का अध्ययन करती थीं। 'कल्हण' की 'राजतरंगिणी' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 12वीं शताब्दी तक संगीत स्त्रियों का प्रिय विषय बना रहा । ललित कलाओं के अतिरिक्त स्त्रियां धार्मिक ग्रन्थों एवं शास्त्रों का भी अध्ययन करती थीं। रामायण और महाभारत अध्ययन के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ थे।

स्त्रियों की शिल्प शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है। आसाम के राजा कालिन्द वर्मा की पत्नी कल्प सुन्दरी सब तरह के कार्यों में चतुर एवं तरह–तरह के कला–कौशल तथा शिल्प में कुशल थी। स्त्रियों को भाषा का भी ज्ञान कराया जाता था जिससे वे संस्कृत विशेषतया, प्राकृत भाषा बिना किसी अवरोध के बोलती थीं। कभी–कभी स्त्रियों के गृह–नक्षत्रादि और तंत्र–मंत्र के ज्ञान का भी उल्लेख मिलता है। रानी विलासवती ने अनेक मंत्रों को सिद्ध किया था। इसके अतिरिक्त गणित जैसे विषयों का अध्ययन भी उच्चकोटि की स्त्रियां करती थीं। परन्तु धीरे–धीरे स्त्रियों की शिक्षा की स्वतंत्रता का अन्त हो गया। इसका कारण स्त्रियों की धार्मिक स्थिति का पतन था। कन्याओं का उपनयन संस्कार भी अब दिखावा मात्र ही रह गया। याज्ञवल्क्य तथा उनका अनुकरण करके बाद के स्मृतिकारों ने स्त्रियों के लिए उपनयन संस्कार को पूर्णतः वर्जित कर दिया। इस प्रतिबन्ध के कारण स्त्रियां वेदाध्ययन से वंचित कर दी गईं। वे वैदिक यज्ञ नहीं कर सकती थीं और न ही वैदिक मंत्रों का उच्चारण कर सकती थीं। अतः स्त्रियों के शिक्षा प्राप्त करने के अवसर कम हो गए । फिर भी सभ्य और

समृद्ध परिवारों की स्त्रियां ललित कलायें और गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित विद्यायें सीखने के साथ ही साहित्यिक शिक्षा भी ग्रहण करती थीं। परन्तु साधारण परिवारों की स्त्रियों में शिक्षा का प्रतिशत बहुत ही कम रहा होगा। साधारण परिवार की स्त्रियां जीवन–निर्वाह के निमित्त कताई और बुनाई का आश्रय लेती थीं।

टिप्पणी

प्राचीन विश्वविद्यालय

बौद्ध धर्म की उन्नति के साथ–साथ विहार भी शिक्षा के केंद्र बन गए तथा कुछ ख्याति प्राप्त महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित हो गए। प्राचीन भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयों का विवरण इस प्रकार है–

(क) नालन्दा विश्वविद्यालय : भारत के प्राचीन शिक्षा केंद्रों में नालन्दा विश्वविद्यालय का नाम सबसे उल्लेखनीय है। यह विश्वविद्यालय पटना से 40 मील दक्षिण–पश्चिम तथा राजगृह से सात मील उत्तर में बड़गांव नामक ग्राम के निकट स्थित था। यह विश्वविद्यालय कम से कम एक मील लम्बा और आधा मील चौड़ा था। मध्य में स्थित विद्यालय में आठ बड़े कक्ष तथा व्याख्यान के लिए तीन सौ छोटे कमरे थे। विद्यार्थियों के आवास के लिए कम से कम दो मंजिल ऊंचे अनेक विहार थे। आज भी उस स्थल पर नालन्दा विश्वविद्यालय के ध्वन्यावशेष मिलते हैं। प्रारम्भ में यह एक छोटा–सा गांव था। परन्तु महात्मा बुद्ध के प्रिय शिष्य सारिपुत्त की जन्मभूमि होने के कारण इसका महत्व बढ़ा और यह एक विश्व–विख्यात विश्वविद्यालय के रूप में प्रसिद्ध हुआ। सम्राट अशोक ने नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना एक बौद्ध विहार के रूप में करायी थी।

नालन्दा को विश्वविद्यालय का रूप प्रदान करने में गुप्त सम्राटों का हाथ था। कुमारगुप्त प्रथम ने यहां सर्वप्रथम मठ का निर्माण कराया, इसके पश्चात् अन्य गुप्त वंशीय सम्राटों ने इसके विकास में योगदान दिया। मठों के निर्माण से नालन्दा का विस्तार अधिक बढ़ गया । यही मठ नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रमुख भवन में सम्मिलित थे। सम्पूर्ण क्षेत्र एक विशाल छड़ दीवार से घिरा था जिसमें एक ही प्रवेश द्वार था। द्वार पर द्वार–पण्डित का निवास स्थान था जो नए छात्रों की परीक्षा लेकर ही उन्हें विश्वविद्यालय के अन्दर प्रवेश करने की अनुमति देता था। विश्वविद्यालय का भवन बहुत ही उत्तम कोटि का था। मुख्य भवन की ऊँचाई के बारे में कहा जाता था कि ''विहारावली की शिखर श्रेणी अम्बुधरों (बादलों) को छूती थी।'' छात्रावासों का भी समुचित प्रबन्ध था।

नालन्दा विश्वविद्यालय में विद्याथियों के भोजन, वस्त्र व शिक्षा और चिकित्सा आदि की व्यवस्था निःशुल्क की जाती थी। आचार्यों तथा छात्रों के व्यय के लिए नालन्दा को 200 गाँव दान में मिले हुए थे जिनकी आय से आचार्यों तथा छात्रों को अनेकों सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं। इसके अतिरिक्त शासक वर्ग भी कुछ सहायता किया करते थे।

विश्वविद्यालय के भवनों का निर्माण योजनाबद्ध ढंग से किया गया था। विश्वविद्यालय के चारों ओर एक सुदृढ़ चहारदीवारी थी जिसके अन्दर मठ एवं 300 अध्ययन कक्ष थे। प्रवेश करने के लिए एक मुख्य द्वार था जो बहुत ही ऊंचा था। विश्वविद्यालय के प्रांगण में 8 बड़े–बड़े सभामण्डप थे जहां पर छात्रों को एकत्रित कर भाषण दिए जाते थे। अध्ययन कक्षों तथा सभा–मण्डपों के चारों ओर चार मंजिल

टिप्पणी

का आचार्यों तथा छात्रों के निवास के लिए छात्रावास निर्मित था जिसमें उनके आवश्यकतानुकूल समस्त वस्तुएं उपलब्ध थीं। विश्वविद्यालय में एक बहुत विशाल पुस्तकालय 'धर्मगंज' भी था जो नौ मंजिल यानी 300 फीट ऊंचा था। इस पुस्तकालय में तीन विभाग थे जो रत्नसागर, रत्नोदार्ध तथा रत्नरंजक के नाम से विख्यात थे। पुस्तकालय में पुस्तकों तथा छात्रों के लिए पढ़ने की पर्याप्त सुविधा थी।

विश्वविद्यालय में छात्रों को प्राकृतिक सौन्दर्य तथा मनोरम दृश्य बनाने के लिए विशाल सरोवरों का निर्माण कराया गया था जिनमें नील कमल आदि पुष्पों द्वारा और अधिक सौन्दर्य बढ़ता था। इत्सिंग ने लिखा है कि यहां 10 से अधिक सरोवर थे जहां विद्यार्थी जल–क्रीड़ा करते थे। आज नालन्दा के भग्नावशेषों को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय इंजीनियरिंग का कार्य बहुत उच्चकोटि का था।

विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर द्वार पण्डित बैठता था जो प्रवेश के लिए इच्छुक छात्रों की प्रवेश परीक्षा लेता था । जो छात्र उसके द्वारा दी गई परीक्षा में उत्तीर्ण होता था वही प्रवेश का अधिकारी होता था तथा अन्य को अपने निवास स्थान को वापस लौटना पड़ता था। प्रवेश परीक्षा बहुत क्लिष्ट होती थी। प्रवेश के लिए इच्छुक छात्रों में से केवल 10 प्रतिशत छात्रों का प्रवेश हो पाता था। प्रायः 16 वर्ष से अधिक आयु वाले छात्र प्रवेश पाते थे।

उस समय प्रचलित समस्त ज्ञान पाठ्य–विषय के अन्तर्गत सन्निविष्ट था। विश्वविद्यालय में वैदिक धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म आदि विषयों की शिक्षा प्रदान करने की सुविधा थी। बौद्धधर्म के अन्तर्गत हीनयान तथा महायान के विषयों का यहां विस्तार से अध्ययन होता था। इस प्रकार तीन वेदों, वेदान्त, सांख्य, दर्शन शास्त्र, पुराण व ज्योतिष के साथ–साथ भौतिक विद्याओं में व्यावहारिक ज्ञान भी सम्मिलित थे। विभिन्न विषयों के प्रकांड विद्वान प्रतिदिन सैंकड़ों व्याख्यान देते थे जिसमें प्रत्येक विद्यार्थी का उपस्थित होना आवश्यक था।

नालन्दा में मुख्यतः तीन प्रकार की अध्यापन पद्धति थी– प्रथम मौखिक एवं पुस्तक की व्याख्या द्वारा, दूसरी अध्यापन द्वारा तथा तीसरी वाद–विवाद या शास्त्रार्थ द्वारा । छात्रों की प्रत्येक प्रकार की शंकाओं का व्याख्यान एवं वाद–विवाद द्वारा समाधान किया जाता था। व्याख्यान पद्धति में विभिन्न विषयों पर भिन्न–भिन्न विद्वान् व्याख्यान दिया करते थे। छात्रों को शंका होने पर व्याख्यानदाता से प्रश्न पूछने का भी अन्त में अवसर दिया जाता था। कभी–कभी प्रातः से रात्रि तक विद्वान् शास्त्रार्थ में लगे रहते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी। अतः उच्च–कोटि के विद्वान् यहां रहते थे। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी ज्ञान–पिपासा यहां शान्त किया करते थे। ह्वेनसांग के काल में नालन्दा में शिक्षकों की संख्या लगभग 1500 तक थी। शिक्षकों को उनकी योग्यता के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा सामान्य तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया था। विश्वविद्यालय के कुलपति शीलभद्र थे। ह्वेनसांग ने एक स्थान पर लिखा है कि शीलभद्र की योग्यता के समान कोई अन्य व्यक्ति न था। वे सभी विषयों के प्रकांड पंडित थे। यहां के अन्य विद्वानों में धर्मपाल, चंद्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वास्तव में नालन्दा विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि का श्रेय वहां के विद्वान् अध्यापकों को ही है।

टिप्पणी

इस प्रकार नालंदा अपने ढंग का अद्‌भुत एवं निराला विश्वविद्यालय था। 7वीं शताब्दी का यह विश्वविद्यालय किसी भी अंश में आधुनिक विश्वविद्यालयों ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, पेरिस तथा हारवर्ड आदि से कम न था। 11 वीं शताब्दी से पाल शासकों ने नालंदा के स्थान पर विक्रमशिला विश्वविद्यालय को राजकीय संरक्षण देना प्रारम्भ किया जिससे नालंदा का महत्व घटने लगा। 12 वीं शताब्दी के अन्त में इस विश्वविद्यालय का अन्त मुस्लिम आक्रमणकारी बख्तियार खिलजी के समय हुआ जिसने नालन्दा पर आक्रमण कर ध्वस्त कर दिया। उसकी आज्ञा द्वारा पुस्तकालय में आग लगायी गई तथा विद्वान अध्यापकों को मौत के घाट उतार दिया गया।

(ख) वल्लभी विश्वविद्यालय : गुजरात के काठियावाड़ के पूर्व किनारे पर आधुनिक 'वल' नामक स्थान पर स्थित वल्लभी पश्चिम भारत में शिक्षा तथा संस्कृति का प्रसिद्ध केंद्र था जहां नालन्दा के स्तर का एक विश्वविद्यालय था। इस नगर की स्थापना मैत्रक वंश के शासक भट्टार्क ने की थी। यहां मैत्रक राजवंश की राजधानी थी। सातवीं शताब्दी में वल्लभी एक प्रसिद्ध व्यापारिक एवं शैक्षणिक केंद्र बन गया। ह्वेनसांग इस नगर की समृद्धि का वर्णन करता है। उसके अनुसार यहां 100 बौद्ध विहार थे जिनमें लगभग 6000 हीनयानी भिक्षु निवास करते थे। नगर की परिधि 6 मील के घेरे में थी।

वल्लभी हीनयान बौद्धधर्म की शिक्षा का प्रमुख केंद्र था। भारत के विभिन्न भागों से विद्यार्थी यहां शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। यह उच्च शिक्षा का केंद्र था। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार यहां सभी देशों के विद्वान् एकत्रित होते थे तथा विविध सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ करके उनकी सत्यता निर्धारित किया करते थे। यहां के अध्यापक दो या तीन वर्ष तक विद्यार्थियों को पढ़ाते थे तथा इसी अवधि में विद्यार्थी प्रकाण्ड विद्वान् बन जाते थे। सोमदेव की कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि अन्तर्वेदी (गंगा का प्रदेश) के ब्राह्मण तक अपने बच्चों को उच्च शिक्षा के लिए वल्लभी भेजते थे। यह भी पता चलता है कि बंगाल जैसे दूरवर्ती प्रदेश से भी कुछ विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए वल्लभी पहुंचते थे।

वल्लभी विश्वविद्यालय अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता तथा सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध था। बौद्ध धर्म के साथ–साथ यहां न्याय, विधि, वार्ता, साहित्य आदि विषयों की उच्च शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। इत्सिंग के अनुसार यहां के स्नातकों को प्रशासनिक पदों पर नियुक्त किया जाता था। यह तभी सम्भव था जब पाठ्यक्रम में धर्म के अलावा लौकिक विषय भी सम्मिलित रहे हों। 7वीं शताब्दी के मध्य विश्वविद्यालय के प्रमुख आचार्य स्थिरमति तथा गुणमति थे। धरसेन प्रथम के लेख से ज्ञात होता है कि उसने इनके आवास के लिए दो सुन्दर विहारों का निर्माण कराया था। यहीं रहते हुए इन दोनों विद्वानों ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की थी तथा इसी स्थान से बाद में वे नालन्दा विश्वविद्यालय में गए। नालन्दा की भांति वल्लभी के विद्वानों का नाम भी श्वेताक्षरों में विश्वविद्यालय के तोरणों पर अंकित किया जाता था।

इस प्रकार वल्लभी भी शिक्षा का एक प्रसिद्ध केंद्र था तथा यहां भी शिक्षण का स्तर अत्यन्त उच्चकोटि का था। इत्सिंग के विवरण से पता चलता है कि इस विश्वविद्यालय के आचार्यों द्वारा परीक्षित होने के पश्चात् ही विद्वानों को अपने सिद्धान्तों की सत्यपरता तथा अपनी बौद्धिकता का वास्तविक ज्ञान हो पाता था। सातवीं शताब्दी में तो वल्लभी विश्वविद्यालय नालन्दा की प्रतिस्पर्धा करने लगा था। मैत्रक शासकों ने

टिप्पणी

इसे उदारतापूर्वक दान दिए तथा उनके काल (480–775 ई.) में इसकी अत्यधिक उन्नति हुई। राजकीय संरक्षण के अतिरिक्त विश्वविद्यालय को नगर के प्रसिद्ध व्यापारियों तथा व्यवसायियों से भी पर्याप्त दान मिला। यहां से शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र शिक्षा की समाप्ति पर या तो राजकीय पदों पर नियुक्ति पाते थे या उन्हें अपना जीवनयापन करने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी। आठवीं शताब्दी के अरब आक्रमण के कारण विश्वविद्यालय की प्रगति कुछ समय के लिए बाधित हो गई। किन्तु पुनः जब शान्ति की स्थापना हुई तो मैत्रकों के उत्तराधिकारियों ने विश्वविद्यालय को संरक्षण एवं सहायता प्रदान की। 12वीं शताब्दी के अन्त तक शिक्षा केंद्र के रूप में वल्लभी की ख्याति बनी रही तथा देश के विभिन्न भागों से विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए यहां आते रहे। यहां धार्मिक शिक्षा, व्याकरण आदि के साथ लौकिक शिक्षा, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मुनीमी आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।

(ग) विक्रमशिला विश्वविद्यालय : यह विश्वविद्यालय बिहार प्रान्त के भागलपुर से 24 मील पूर्व की ओर पथरघाट नामक पहाड़ी जिले में स्थित था जहां से प्राचीन काल के विस्तृत खण्डहर प्राप्त होते हैं। विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना पाल शासक धर्मपाल (775–800 ई.) ने करायी थी। इस विश्वविद्यालय ने भी शीघ्र ही अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली। धर्मपाल ने यहां मन्दिर तथा मठ बनवाए और उन्हें उदारतापूर्वक अनुदान दिया। यहां 160 विहार तथा व्याख्यान के लिए अनेक कक्ष बने हुए थे। धर्मपाल के उत्तराधिकारी तेरहवीं शताब्दी तक इसे राजकीय संरक्षण प्रदान करते रहे। परिणामस्वरूप विक्रमशिला लगभग चार शताब्दियों से भी अधिक समय तक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बना रहा। विक्रमशिला विश्वविद्यालय में 6 महाविद्यालय थे। प्रत्येक में एक केंद्रीय कक्ष तथा 108 अध्यापक थे। केंद्रीय कक्ष को 'विज्ञान भवन' कहा जाता था। प्रत्येक महाविद्यालय में एक प्रवेश द्वार होता था तथा प्रत्येक प्रवेश द्वार पर एक–एक द्वारपण्डित बैठता था। द्वारपण्डित द्वारा परीक्षण किए जाने के बाद ही किसी विद्यार्थी का महाविद्यालय में प्रवेश सम्भव था। हमें कनक के शासनकाल में निम्नलिखित द्वारपण्डितों के नाम मिलते हैं–

1. पूर्व द्वार – आचार्य रत्नाकर शान्ति
2. पश्चिम द्वार – वागीश्वर कीर्ति (वाराणसेय)
3. उत्तर द्वार – नरोप
4. दक्षिण द्वार – प्रज्ञाकरमति
5. प्रथम केंद्रीय द्वार – रत्नवज (कश्मीरी)
6. द्वितीय केंद्रीय द्वार – ज्ञानश्रीमित्र (गौडीय)

व्याकरण, तर्कशास्त्र, मीमांसा, तन्त्र, विधिवाद आदि विश्वविद्यालय में अध्ययन के विशेष विषय थे। यहां का पाठ्यक्रम नालन्दा के समान विस्तृत नहीं था। आचार्यों में दीपंकर श्रीज्ञान का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है जो इस विश्वविद्यालय के कुलपति थे। वे हीनयान, महायान, वैशेषिक तथा तर्कशास्त्र के विद्वान् और तिब्बती बौद्ध धर्म के महान् लेखक थे। 11 वीं शताब्दी में तिब्बती नरेश चनचुव के निमंत्रण पर वे तिब्बत गए जहां उन्होंने बौद्धधर्म के सुधार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। तिब्बती स्रोतों में उन्हें 200 ग्रन्थों की रचना का श्रेय प्रदान किया गया है। 12 वीं शताब्दी में अभयांकर

टिप्पणी

गुप्त यहां के आचार्य थे। वे तंत्रवाद के महापण्डित थे। उन्होंने तिब्बती तथा संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे। अन्य विद्वानों में ज्ञानपाद, वैरोचन, रक्षित, जेतारी, मित्र, रलवज, तथागत, रत्नाकर, शान्ति, ज्ञानश्री, रक्षित के नाम प्रसिद्ध है। 12 वीं शताब्दी में लगभग 3000 विद्यार्थी यहां शिक्षा ग्रहण करते थे जिनमें अधिकांशतः तिब्बत के थे। तिब्बती छात्रों के आवास के लिए विश्वविद्यालय में एक विशिष्ट अतिथि गृह का निर्माण किया गया था। यहां एक सम्पन्न तथा विशालकाय पुस्तकालय भी था। विश्वविद्यालय का प्रशासन सुचारू रूप से चलाने के लिए मुख्य संघाध्यक्ष की देख–रेख में एक परिषद् थी जिसके सदस्य विभिन्न प्रशासनिक कार्यों जैसे नवागन्तुकों को दीक्षित करने, नौकरों की व्यवस्था तथा उनकी देखभाल, खाद्य सामग्री तथा ईंधन की आपूर्ति, मठ के कार्यों का आवंटन आदि को सम्पन्न किया करते थे। शैक्षणिक व्यवस्था 6 द्वारपण्डितों की समिति द्वारा ही संचालित होती थी। इस समिति का भी एक अध्यक्ष होता था। कालान्तर में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की प्रशासनिक परिषद् ही नालन्दा विश्वविद्यालय का भी कार्य देखने लगी। तारानाथ के विवरण से ज्ञात होता है कि पाल शासक नालन्दा विश्वविद्यालय के कार्यों की देख–रेख करने के लिए विक्रमशिला के आचार्यों को नियुक्त किया करते थे। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम की अवधि के बारे में हमें ज्ञात नहीं है। केवल यह पता चलता है कि यहां के स्नातकों को शिक्षा संपन्न होने के पश्चात पाल शासकों द्वारा उपाधियां प्रदान की जाती थीं। संभव है वहां आजकल की भांति दीक्षान्त समारोहों का आयोजन भी किया जाता रहा हो जिसमें समकालीन पाल शासक कुलाधिपति की हैसियत से उपस्थित होते हों। तिब्बती स्रोतों से ज्ञात होता है कि जेतारी तथा रत्नवज ने पाल राजाओं–महीपाल तथा कनक के हाथों से उपाधियां प्राप्त प्राप्त कीं। स्नातकों को 'पण्डित' की उपाधि दी जाती थी। महापण्डित, उपाध्याय, तथा आचार्य क्रमशः उच्चतर उपाधियाँ थीं।

इस प्रकार विक्रमशिला ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी में भारत का सर्वाधिक सम्पन्न, सुसंगठित तथा प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय था। तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में इनका योगदान बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है। यहां के आचार्यों ने भारतीय ज्ञान–विज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यह विश्वविद्यालय भी मुस्लिम आक्रांतताओं द्वारा नष्ट–भ्रष्ट कर दिया गया। 1203 ई. में बख्तियार खिलजी ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय को दुर्ग के भ्रम में ध्वस्त कर दिया था। अनेक भिक्षुओं को मौत के घाट उतार दिया गया तथा पुस्तकालय की पुस्तकों को जला दिया गया। शाक्यश्रीभद्र इस समय विश्वविद्यालय के कुलपति थे। वे अपने कुछ अनुयायियों के साथ किसी प्रकार बचकर तिब्बत भाग गए। इस प्रकार यह महान विश्वविद्यालय, जो उस समय एशिया भर में विख्यात था, खण्डहरों के रूप में परिणत हो गया।

विक्रमशिला के अतिरिक्त उदयनतपुर (ओदन्तपुरी) तथा जगदल्ल में भी शिक्षण केंद्र स्थापित कराए गए थे। उदयनतपुर विश्वविद्यालय की स्थापना प्रथम पाल नरेश गोपाल द्वारा की गई। जगदल्ल विश्वविद्यालय तंत्रपान शिक्षा का प्रसिद्ध केंद्र था जहां अनेक विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें विभूतिचन्द्र, दानशील, मोक्षाकर गुप्त आदि प्रसिद्ध तांत्रिक बौद्ध विद्वान थे। उन्होंने कई ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया तथा इस प्रकार तिब्बती बौद्ध धर्म के विकास में उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

टिप्पणी

(घ) तक्षशिला विश्वविद्यालय : प्राचीन काल में तक्षशिला प्रमुख एवं प्रसिद्ध शिक्षा केंद्र था। इसे विश्व का सबसे पहला विश्वविद्यालय माना जाता है। माना जाता है कि यह विश्वविद्यालय छठी–7वीं शताब्दी ईसा पूर्व में तैयार हुआ था। इसके बाद से यहां भारत समेत एशियाभर से विद्वान पढ़ने के लिए आने लगे। तक्षशिला से संलग्न कोई कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय आधुनिक अर्थ में नहीं था। यह केवल शिक्षा का एक केंद्र था। तक्षशिला में प्रख्यात विद्वान् (शिक्षक) थे जिनके पास उत्तरी भारत के विभिन्न क्षेत्रों के सैकड़ों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आते थे। परन्तु वे शिक्षक किसी विद्यालय में प्रोफेसर की भांति न थे, न वे किसी विशेष केंद्रीय विभाग के पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाया करते थे। शिक्षक जितने विद्यार्थियों को चाहते थे उतने ही विद्यार्थियों को प्रवेश देते थे। शिक्षक वही विषय पढ़ाते थे जो उनके विद्यार्थी पढ़ना चाहते थे। तक्षशिला गान्धार प्रान्त की राजधानी थी। इस नगर का उल्लेख रामायण में मिलता है जिसके अनुसार इसे श्रीराम के भाई भरत ने अपने पुत्र 'तक्ष' के नाम पर बसाया था । हूणों के बर्बर आक्रमणों ने इस विद्या के केंद्र को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया था।

अपनी प्रगति जांचिए

10. भारत के प्राचीन शिक्षा केंद्रों में किस विश्वविद्यालय का नाम सबसे प्रसिद्ध है?

    (क) वल्लभी विश्वविद्यालय (ख) विक्रमशिला विश्वविद्यालय

    (ग) नालन्दा विश्वविद्यालय (घ) इलाहाबाद विश्वविद्यालय

11. विश्व का सबसे पहला विश्वविद्यालय कौन–सा माना जाता है?

    (क) विक्रमशिला (ख) उदयनतपुर

    (ग) वल्लभी (घ) तक्षशिला

2.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (क)
4. (ग)
5. (ख)
6. (क)
7. (ख)
8. (घ)
9. (क)
10. (ग)
11. (घ)

2.8 सारांश

टिप्पणी

प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने वर्ण–व्यवस्था की स्थापना समाज की विभिन्न श्रेणियों के लोगों में कार्यों का उचित बंटवारा करके सामाजिक संगठन बनाए रखने के लिए की थी। इसके द्वारा समाज में एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होता था तथा वर्ग–संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा की संभावना समाप्त हो जाती थी। वर्ण–व्यवस्था भारतीय समाज का मेरुदंड है। ऋग्वेद में चार वर्णों का सामूहिक उल्लेख केवल दसवें मण्डल पुरुषसूक्त में मिलता है जिसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र क्रमशः ब्रह्म के मुख, बाजुओं, जंघाओं एवं पैरों से उत्पन्न हुए हैं। ऋग्वैदिक काल में विभिन्न वर्गों के व्यवसाय, खान–पान, विवाह आदि पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था तथा एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की वृत्ति अपना सकता था। इस समय तक वर्णों में कठोरता नहीं आई थी। वर्ण–व्यवस्था जन्म या वंश पर आधारित न होकर व्यक्ति के गुण और कर्म पर ही आधारित थी। उत्तर–वैदिक काल तक आते–आते समाज में चारों वर्णों की स्पष्टतः स्थापना हुई। इस काल के समाज में पहली बार हमें विभिन्न वर्गों के मध्य भेदभाव देखने को मिलता है। सूत्रों के काल में वर्ण व्यवस्था को सुनिश्चित आधार प्रदान किया गया और प्रत्येक वर्ण के कर्तव्यों का निर्धारण हुआ। राजा को यह परामर्श दिया गया कि वह वर्णधर्म की रक्षा करे। वर्ण का आधार कर्म न मानकर जन्म माना गया तथा ऊँच–नीच की भावना विकसित हुई। महाकाव्य काल में वर्ण–व्यवस्था का जो स्वरूप मिलता है वह उत्तर–वैदिक काल से मिलता–जुलता है। महाभारत के 'शांतिपर्व' में वर्ण–व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। धर्मशास्त्रों के काल में वर्ण–व्यवस्था का जो स्वरूप निर्धारित हुआ वह कालांतर के समाजों के लिए आदर्श बना रहा। वर्ण को पूर्ण रूप से जन्मना माना गया। छठी शताब्दी ई. में गुप्त साम्राज्य के पतन तथा हूणों के आक्रमण के कारण भारतीय समाज अव्यवस्थित हो गया था जिससे वर्ण–व्यवस्था को ठोस आधार पर प्रतिष्ठित करने के प्रयास हुए। जाति शब्द की उत्पत्ति 'जन्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है–जन्म लेना। ऋग्वैदिक काल में जातियों का कोई अस्तित्व नहीं था और सम्पूर्ण समाज को कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नामक केवल चार वर्णों में विभाजित किया गया था। धीरे–धीरे उत्तर–वैदिक काल से वर्ण का विभाजन जन्म के आधार किया जाने लगा। सूत्र, महाकाव्य एवं स्मृति काल तक आते–आते प्राचीन वर्ण–व्यवस्था धीरे–धीरे जाति–व्यवस्था में परिवर्तित होने लगी। इस काल में कर्म के भेद के आधार पर अनेक जातियों का जन्म हुआ और अलग–अलग जातियों के संयोग से उत्पन्न सन्तान को वर्ण–संकर कहा गया। छठी शताब्दी ई.पू. में गौतम बुद्ध एवं महावीर ने जातिगत भेदभावों का घोर विरोध किया, किन्तु हिन्दू समाज इस बुराई से स्वयं को फिर कभी मुक्त नहीं कर सका। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने अपने ग्रन्थ 'इण्डिका' में भारत की सात जातियों का उल्लेख किया है–दार्शनिक, योद्धा, शिल्पी, कृषक, गोपालक, निरीक्षक और करग्राहक। गुप्तोत्तर काल या पूर्व–मध्य काल में हिन्दू धर्म का रूढिवादी स्वरूप पूर्ण रूप से दृढ़ता के साथ स्थापित हो चुका था। हर्षवर्धन के काल में हिन्दू समाज चार जातियों–ब्राहाण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में विभाजित था। इस काल में जातिगत भेदभाव की भावना अपने चर्मोत्कर्ष पर थी। सामाजिक स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्तियों के समूहों को उनकी प्रतिष्ठा, संपत्ति और शक्ति की मात्रा के अनुसार पदानुक्रम में विभिन्न श्रेणियों में उच्च से निम्न

टिप्पणी

रूप में स्तरीकृत किया जाता है। मुख्यतः सामाजिक स्तरीकरण दो प्रकार का होता है– जातिगत और वर्गगत। सामाजिक स्तरीकरण के अनेक आधार होते हैं, जैसे– जाति, आयु, आर्थिक स्थिति, पद, लिंग, व्यवसाय, अधिकार एवं उत्तरदायित्व, योग्यता, कुशलता और शिक्षा। कुछ समाज ऐसे हैं जिनमें व्यक्ति या समूह की सामाजिक स्थिति उनकी जाति अर्थात् जन्म के आधार पर निश्चित की जाती है। प्राचीन भारत में सम्पूर्ण समाज चार वर्गों में बंटा था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रथम शताब्दी ई. से ही होने वाला आर्थिक विकास, जिससे सामाजिक स्तरीकरण प्रभावित हुआ, कृषि उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। कृषि के विकास और कृषि योग्य भूमि की वृद्धि से और अधिक संख्या में कृषकों की आवश्यकता पड़ी होगी। इन्हीं परिस्थितियों में शूद्र भी कृषक होने लगे। कृषि के विकास के साथ ही साथ औद्योगिक विकास की प्रक्रिया भी प्रथम शताब्दी ई. से प्रारम्भ हो गई थी। तीसरी–चौथी शताब्दी ई. तक आते–आते उद्योग और औद्योगिक श्रेणियां पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। सामाजिक–आर्थिक विकास के कारण सामाजिक स्तर के निर्धारण में अर्थ के महत्व में पहले से ही वृद्धि हो रही थी और गुप्तकाल में यह प्रवृत्ति विकसित रूप में दिखाई देती है। मनु के काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए सामाजिक श्रेष्ठता के निर्धारक तत्वों में आरोही क्रम से वित्त, बन्धु, वय, कर्म और विद्या को महत्व दिया गया है। पांचवीं शताब्दी ई. के ज्योतिष–ग्रन्थों में भी सामाजिक स्तर के निर्धारण में अर्थ को ही महत्व दिया गया है। भारत में दास–प्रथा की प्राचीनता सिन्धु सभ्यता के काल तक की जाती है। ऋग्वेद में 'दास' शब्द अनेक स्थानों पर आया है। उसमें दासों के खरीदने–बेचने, भेंट करने, उपहार अथवा दान में देने, यहां तक कि दान लेने के भी, अनेकानेक प्रसंग हैं। ऋग्वेद में दास, दस्यु तथा असुरों का उल्लेख आर्यों से भिन्न वर्ण के रूप में किया गया है। उत्तर–वैदिक साहित्य में भी हमें दासों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। स्मृतिकाल तक दास–प्रथा एक संस्था के रूप में स्थापित हो चुकी थी। दास–दासियों से सम्बंधित कानून बनाए जाने लगे थे। मनुस्मृति में सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया गया है। नारद तथा कात्यायन स्मृतियों में दासों की 15 कोटियों का उल्लेख प्राप्त होता है। मौर्य युग में हमें दास–प्रथा के प्रचलन के प्रमाण मिलते हैं। अर्थशास्त्र में दास प्रथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। अशोक के लेखों में भी दास–प्रथा का उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत मौर्यकाल का यूनानी राजदूत मेगस्थनीज तत्कालीन समाज में दास प्रथा प्रचलित होने का कोई उल्लेख नहीं करता। किन्तु भारत के प्राचीन व्यवस्थाकारों ने दास–प्रथा की निन्दा की है तथा दासता से मुक्ति का विधान भी प्रस्तुत किया है। यद्यपि प्राचीन व्यवस्थाकारों ने दास प्रथा की जगह–जगह आलोचना की है तथा उससे मुक्त होने के लिए व्यापक उपायों का निर्देश किया है तथापि यह स्पष्ट है कि समाज में घरेलू दासों को रखने की प्रथा बनी रही। गुप्तोत्तरकाल या पूर्वमध्यकाल (600 से 1200 ई.) के साक्ष्यों–स्कन्दपुराण, इत्सिंग, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, देवण्णभट्ट, अपरार्क, हेमचन्द्र, कल्हण, हरिश्चन्द्र, क्षेमेन्द्र आदि से उस काल की दास–प्रथा पर प्रकाश पड़ता है।

स्त्रियों की स्थिति किसी देश की संस्कृति का मानदण्ड मानी जाती है। प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति सदैव एक समान नहीं रही। इसमें युगानुरूप परिवर्तन होते रहे हैं। हड़प्पा सभ्यता में स्त्री की शक्ति के रूप में पूजा की जाती थी। किन्तु इस काल के ठोस साक्ष्यों के अभाव में समाज में नारी का स्थान सुनिश्चित करना

टिप्पणी

संभव नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि हड़प्पा समाज में नारी का आदरपूर्ण स्थान था। ऋग्वैदिक काल में समाज में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। कोई भी धार्मिक कार्य या यज्ञ पत्नी के बिना संपन्न नहीं होता था। उस काल में पर्दा प्रथा प्रचलित नहीं थी। कन्याओं की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था जिसके परिणामस्वरूप घोषा, विश्वारा अपाला, लोपमुद्रा आदि विदुषियां हुईं जिन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना की तथा विद्वानों से शास्त्रार्थ किया। ऋग्वैदिक काल की तुलना में उत्तर वैदिक काल में समाज में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आ गई। पुत्री के जन्म पर शोक प्रकट किया जाता था। हालांकि पुत्री का जन्म प्रसन्नता का द्योतक नहीं था, परन्तु उनके पालन–पोषण तथा शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जाती थी। महाकाव्य काल में भारतीय समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्व दिया जाता था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इस महाकाव्य कालीन युग में पुत्री का जन्म आपत्ति का कारण माना जाता था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पुत्री के लालन–पालन की उपेक्षा की जाती थी। एक स्त्री को अपने लिए वीर एवं योग्य वर चुनने का अधिकार था। मौर्यकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। उनकी शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। उन्हें घर से बाहर जाने की स्वतंत्रता नहीं थी और पति की इच्छा के विरुद्ध वे कोई कार्य नहीं कर सकती थीं। इस काल में वेश्यावृत्ति एवं पर्दा प्रथा भी प्रचलित थी। शुंग काल में स्त्रियों के लिए अनेक कठोर नियम बना दिए गए। मनु रचित मनुस्मृति में भी स्त्रियों के लिए निंदनीय वक्तव्य देखने को मिला। परन्तु सातवाहन समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। सातवाहन राजाओं के नाम का मातृप्रधान होना स्त्रियों की सम्मानपूर्ण सामाजिक स्थिति का सूचक माना जा सकता है। कुषाण काल में स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं थी। कन्या का जन्म अशुभ माना जाता था। सामान्यतः उनकी शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। उन्हें घर की चारदीवारी के अंदर ही रहना पड़ता था। गुप्त काल में, वैसे तो स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी थी, परन्तु वैदिक काल की अपेक्षा उनकी स्थिति में बहुत अधिक गिरावट आ चुकी थी। इस काल में बाल–विवाह एवं पर्दा प्रथा प्रचलित थी। उस समय सती प्रथा भी प्रचलित थी। 510 ई. के एरण अभिलेख में सती प्रथा का वर्णन मिलता है। गुप्तोत्तर काल में भी स्त्रियों की स्थिति में गिरावट देखी गई । समाज में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह, अंतर्जातीय विवाह, बहु–विवाह, सती प्रथा तथा बाल विवाह आदि का प्रचलन था। केवल कुलीन परिवार की कन्याएं ही शिक्षित होती थीं। इस काल में सती प्रथा का अत्यधिक विकास हुआ। भारत के कुछ क्षेत्रों में 'देवदासी' प्रथा प्रचलित थी जिसके अन्तर्गत कुमारी कन्यायें नृत्य, गान के लिए मन्दिरों को समर्पित की जाती थीं।

प्राचीन भारत में शिक्षा का बहुत महत्व था। मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत निर्वाह के लिए शिक्षा की आवश्यकता को हमेशा स्वीकार किया गया। प्राचीन काल में भारत में शिक्षा के उद्देश्य चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान, सामाजिक सुख तथा कुशलता की उन्नति, संस्कृति का संरक्षण एवं विस्तार, निष्ठा तथा धार्मिकता का संचार करना आदि थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के उद्देश्य अत्यन्त उच्च कोटि के थे। शिक्षा–सम्बन्धी प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण मात्र आदर्शवादी ही नहीं, अपितु अधिकांश अंशों में व्यावहारिक भी था। यह व्यक्ति को

टिप्पणी

सांसारिक जीवन की कठिनाइयों एवं समस्याओं के समाधान के लिए सर्वथा उपयुक्त बनाती थी। ऋग्वैदिक काल में शिक्षा का मुख्य पाठ्यक्रम वैदिक साहित्य का अध्ययन ही था। इसके अतिरिक्त इतिहास, पुराण तथा नाराशंसी गाथायें एवं खगोल–विद्या, ज्यामिति, छन्दशास्त्र आदि भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण ग्रंथ शिक्षा के विषय बन गए। उपनिषद् तथा सूत्रों के काल में वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया गया। वैदिक युग के प्रारम्भ में मौखिक शिक्षा होती थी तथा पवित्र मन्त्रों को कण्ठस्थ करने पर बल दिया जाता था। सूत्र युग में दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, खगोलविद्या, मूर्तिकला, वैद्यक आदि की शिक्षा का प्रबंध किया गया। इस युग के स्नातक वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण होते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र से 64 विधाओं का उल्लेख मिलता है जिनका अध्ययन सुसंस्कृत महिला के लिए अनिवार्य बताया गया है। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का एक प्रमुख तत्व गुरुकुल व्यवस्था है। इसमें विद्यार्थी अपने से दूर गुरु के घर में रहकर शिक्षा अर्जित करता था। गुरुकुल सदैव वनों में ही स्थित नहीं होते थे। अधिकांशतः गुरुकुल ग्रामों तथा नगरों में स्थित थे। प्राचीन भारतीय समाज में गुरु को अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान दिया गया था। शिष्य गुरु को ईश्वर तुल्य मानते थे। गुरु–शिष्य सम्बन्ध अत्यन्त पुण्य, पुनीत, मधुर एवं सौहार्दपूर्ण थे। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में शुल्क देने का कोई निश्चित नियम नहीं था। प्रायः शिक्षा निःशुल्क होती थी। धनी व्यक्ति अपने बालकों के प्रवेश के समय ही गुरु को सम्पूर्ण धनराशि प्रदान कर देते थे। शिक्षा प्रदान करना आचार्यों का पुनीत कर्तव्य माना गया था। भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में आधुनिक काल की भांति परीक्षा लेने तथा उपाधि प्रदान करने की प्रथा नहीं थी। शिक्षा पूर्ण होने पर समावर्तन नामक संस्कार का आयोजन किया जाता था तथा तत्पश्चात् छात्र एक विद्वत्मण्डली के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। वहां उससे उसके अध्ययन से सम्बन्धित कुछ प्रश्न पूछे जाते थे और इसके उपरांत वह स्नातक बन जाता था। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति अनेक दृष्टि से उत्तम थी परन्तु इसके बावजूद इसमें कुछ दोष भी थे। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति पर धर्म का व्यापक प्रभाव था जिससे भारतीय जीवन में धार्मिक और लौकिक पक्षों का सन्तुलन बिगड़ गया। पाठ्य–क्रम में धार्मिक अथवा अर्ध–धार्मिक विषय प्रमुख बन गए और लौकिक विषय गौण हो गए। तर्क को शास्त्र वचन से गौण माना जाने लगा। इस प्रकार की व्यवस्था में मौलिक चिन्तन तथा स्वतंत्र गवेषाणाओं के लिए कोई भी स्थान नहीं रहा। भारतीय शिक्षा प्रणाली ऐसे विद्वानों को तैयार करने में असफल रही जो प्राचीन ज्ञान–विज्ञान की आलोचनात्मक समीक्षा करके नए मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकते। शिक्षा पद्धति में प्राचीन ज्ञान–विज्ञान पर अधिक बल दिए जाने का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतीय विद्वानों में कूपमण्डूकता आ गई तथा वे विदेशी ज्ञान–विज्ञान की प्रगति से उदासीन हो गए। भारतीय शिक्षा पद्धति में विभिन्न शाखाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास नहीं किया गया। प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा का विशेष स्थान था। अधिकांश स्त्रियां समाज की सभ्य, शिक्षित और सम्मानित अंग रही हैं । पुरुषों के समान स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता थी तथा उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। प्राचीन काल में भारत में नालंदा, वल्लभी, विक्रमशिला तथा तक्षशिला आदि प्रमुख विश्वविद्यालय थे। नालन्दा विश्वविद्यालय का नाम सबसे उल्लेखनीय है। इन विश्वविद्यालयों में देश–विदेश से विद्यार्थी शिक्षा अर्जित करने के लिए आते थे।

2.9 मुख्य शब्दावली

टिप्पणी

- **यज्ञोपवीत** : यज्ञ द्वारा संस्कार किया हुआ जनेऊ उपनयन यज्ञ सूत्र।
- **दस्यु** : अनार्य या म्लेच्छ जो पहले प्रायः यज्ञों में लूट मार करके निर्वाह करते थे।
- **राजसूय यज्ञ** : यह वैदिक काल का विख्यात यज्ञ है। इसे कोई भी राजा चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिए किया करते थे।
- **चांडाल** : भारत में व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग है, जिसे सामान्यतः जाति से बाहर तथा अछूत माना जाता है। यह एक प्राचीन और सबसे अधिक शोषित जाति है।
- **धर्मसूत्र** : इनमें वर्णाश्रम–धर्म, व्यक्तिगत आचरण, राजा एवं प्रजा के कर्तव्य आदि का विधान है।
- **अर्थवाद** : किसी उपदेश या बात की व्याख्या।
- **वसीयत** : अपनी मृत्यु के बाद अपनी संपत्ति के भावी विभाजन और प्रबंध आदि के संबंध में की हुई कानूनी व्यवस्था वारिस संबंधी लिखित आदेश।
- **गणिकाएं** : वे स्त्रियां जो पारिवारिक एवं वैवाहिक संबंधों से मुक्त रह कर अपने कला–कौशल के द्वारा समाज के सभी लोगों का मनोरंजन का कार्य करती थीं, गणिकाएं कहलाती थीं।
- **सार्थवाह** : व्यापारियों का काफिला।
- **अर्धांगिनी** : किसी की पत्नी।
- **सती प्रथा** : यह एक ऐसी धार्मिक प्रथा थी, जिसमें किसी पुरुष की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी उसके अंतिम संस्कार के दौरान उसकी चिता में स्वयमेव प्रविष्ट होकर आत्मत्याग कर लेती थी।
- **मातृसत्तात्मक परिवार** : जिस परिवार में माता प्रधान होती है।
- **नियोग** : मनुस्मृति में पति द्वारा संतान उत्पन्न न होने पर या पति की अकाल मृत्यु की अवस्था में ऐसा उपाय है जिसके अनुसार स्त्री अपने देवर अथवा सम्गोत्री से गर्भाधान करा सकती है।
- **टीकाकार** : किसी गूढ़ ग्रंथ का अर्थ या आशय बताने के लिए उसकी टीका लिखने वाला।
- **मनुस्मृति** : आदि मनु का बनाया धर्म शास्त्र।
- **ब्रह्मचर्य** : उपनयन के पश्चात् वेदाध्ययन करने का समय, वेदाध्ययन काल।
- **ज्यामिति या रेखागणित** : यह गणित की तीन विशाल शाखाओं में से एक है। इसमें बिन्दुओं, रेखाओं, तलों और ठोस चीजों के गुणस्वभाव, मापन और उनके अन्तरिक्ष में सापेक्षिक स्थिति का अध्ययन किया जाता है।
- **श्राद्ध** : पितरों के लिए श्रद्धा से किए गए मुक्ति कर्म को श्राद्ध कहते हैं।

टिप्पणी

- **समावर्तन संस्कार** : प्राचीन काल में गुरुकुल में शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात जब जातक की गुरुकुल से विदाई की जाती है तो आगामी जीवन के लिए उसे गुरु द्वारा उपदेश देकर विदाई दी जाती है। इसी को समावर्तन संस्कार कहते हैं।
- **कूपमंडूकता** : बाहर की दुनिया की जानकारी की कमी।

2.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. वर्ण–व्यवस्था से आपका क्या अभिप्राय है? प्राचीन भारत के विभिन्न कालों में वर्ण–व्यवस्था का विकास किस प्रकार हुआ?
2. वैदिककालीन वर्ण–व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
3. महाकाव्य काल में वर्ण–व्यवस्था पर संक्षिप्त नोट लिखिए।
4. जाति प्रथा से क्या तात्पर्य है? प्राचीन भारत में जाति प्रथा के विकास–क्रम का उल्लेख कीजिए।
5. भारत में गुप्तोत्तर काल में जाति प्रथा की मुख्य विशेषताओं का विवरण दीजिए।
6. सामाजिक स्तरीकरण से आपका क्या अभिप्राय है? यह कितने प्रकार का होता है और इसका क्या आधार है?
7. प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण का भौतिक आधार क्या था? स्पष्ट कीजिए।
8. प्राचीन भारत में दासों की स्थिति की विवेचना कीजिए।
9. भारत में वैदिककाल में दास प्रथा पर टिप्पणी लिखिए।
10. मौर्यकाल में दासों की स्थिति की विवेचना कीजिए।
11. आश्रम व्यवस्था से आपका क्या अभिप्राय है? विभिन्न आश्रमों का वर्णन करें।
12. आश्रम व्यवस्था जीवन की एक सुन्दर योजना है। स्पष्ट कीजिये।
13. पुरुषार्थ के रूप में धर्म की महिमा का विवेचन कीजिए।
14. अर्थ क्यों एक सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ नहीं है? समझाइए।
15. चारों पुरुषार्थों में से कौन–सा पुरुषार्थ सर्वश्रेष्ठ है और क्यों?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कारों से आपका क्या अभिप्राय है? संस्कारों के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–

   (क) वानप्रस्थ आश्रम

   (ख) बाल्यावस्था के संस्कार
3. प्राचीन काल में भारत में स्त्रियों की स्थिति का विस्तार से वर्णन करें।

टिप्पणी

4. हड़प्पा सभ्यता के काल में स्त्रियों की स्थिति का विस्तारपूर्वक उल्लेख करें।
5. वैदिक युग में स्त्रियों की दशा पर प्रकाश डालिए।
6. महाकाव्य काल में स्त्रियों की स्थिति कैसी थी?
7. मौर्यकालीन समाज में नारी की दशा का अवलोकन कीजिए।
8. मौर्योत्तर काल में स्त्रियों की स्थिति का उल्लेख कीजिए।
9. गुप्त काल में स्त्रियों की दशा पर प्रकाश डालिए।
10. गुप्तोत्तर काल में स्त्रियों की दशा को विवेचित कीजिए।
11. प्राचीन काल में शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
12. प्राचीन भारत में शिक्षा के पाठ्यक्रम पर प्रकाश डालिए।
13. प्राचीन काल में गुरुकुल पद्धति का विस्तृत विवरण दीजिए।
14. प्राचीन काल में गुरु–शिष्य संबंधों पर प्रकाश डालिए।
15. प्राचीन काल में शिक्षण शुल्क के बारे में आप क्या जानते हैं?
16. प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली में परीक्षा तथा उपाधियों का वर्णन कीजिए।
17. प्राचीन भारतीय शिक्षा–व्यवस्था के दोषों का उल्लेख कीजिए।
18. प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा का विवरण दीजिए।
19. प्राचीन भारत के विश्वविद्यालयों पर निबंध विस्तार से लिखें।
20. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें:–
    (क) नालंदा विश्वविद्यालय
    (ख) वल्लभी विश्वविद्यालय
    (ग) विक्रमशिला विश्वविद्यालय
    (घ) तक्षशिला विश्वविद्यालय

2.11 सहायक पाठ्य सामग्री

1. ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव, 2016, "प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास", राजकमल प्रकाशन।
2. के.सी श्रीवास्तव, 2019, "प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति", यूनाइटेड बुक डिपो।
3. रोमिला थापर, 2001, "प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास"(अनुवादक : आदित्यनारायण सिंह), ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड।
4. डॉ. जयशंकर मिश्र, 2013, "प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास", बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना।
5. रामशरण शर्मा, 2015, "प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास", हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

टिप्पणी

6. रश्मि पाठक, 2017, "प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास", अर्जुन पब्लिशिंग हाउस।
7. सर्वपल्ली राधाकृष्णनन्, 1967, "प्राच्य धर्म एवं पाश्चात्य विचार", राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।
8. के.सी श्रीवास्तव, 2018, "प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति" यूनाइटेड बुक डिपो।
9. सत्यनारायण दुबे, 2010, "प्राचीन भारतीय धर्म और दर्शन", अनुभव पब्लिशिंग हाउस।
10. डॉ. शशि शर्मा, 2018, "भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन" विद्यानिधि प्रकाशन।
11. हरिदत्त वेदालंकार, 2009, "भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास", ए. आर. एस पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स।
12. शिवस्वरूप सहाय, 2014, "प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन", मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस।
13. रवि प्रकाश शर्मा, 2018, "भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति", अंकित पब्लिकेशन्स।
14. सुप्रिया लक्ष्मी मिश्रा, 2019, "भारतीय नारी : प्राचीन भारत तथा स्मृति ग्रन्थों के सन्दर्भ में", सिद्धार्थ पब्लिकेशन्स।
15. उर्मिला प्रकाश मिश्रा, 2012, "प्राचीन भारत में नारी", मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।
16. राम शरण शर्मा, 2018, "भारत का प्राचीन इतिहास", ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।
17. ओम प्रकाश, 2016, "प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास", न्यू एज इंटरनेशनल प्राइवेट लिमिटेड।
18. डॉ. अशोक कुमार शर्मा, 2018, "प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था", लिटररी सिर्कल, जयपुर।
19. डॉ. कृष्ण कुमार, 2017, ''प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति", श्री सरस्वती सदन।
20. डॉ. महेन्द्रनाथ सिंह, सुशील कुमार सिंह, 2017, "प्राचीन भारत में शिक्षा", हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली।
21. शंकर विजयवर्गीय, 2005, "भारतीय शिक्षा का इतिहास", राजपाल एंड सन्स।
22. प्रो.आर.पी पाठक, 2014, "प्राचीन भारत में उच्च शिक्षा", कनिष्क पब्लिशर्स।
23. डॉक्टर मीरा कुमारी, 2019, ''प्राचीन भारत में नारी शिक्षा'', स्पेस पब्लिशिंग हाउस।

इकाई 3 वैदिक युग का धर्म और दर्शन

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 इकाई के उद्देश्य
3.2 प्रारम्भिक एवं मध्य वैदिक धर्म तथा दर्शन
3.3 उपनिषद् तथा उत्तरवैदिक कालीन धर्म एवं दर्शन
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म की खोज अपने परिवेश में ही करता है। ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन धर्ममय था। जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं था जिस पर धर्म की गहरी छाप न हो। ऋग्वैदिककालीन धार्मिक जीवन तथा मान्यताएं भौतिक जीवन से प्रभावित थी। इस क्षेत्र में भी कबीलाई प्रभाव दिखाई देते हैं। ऋग्वैदिक आर्यों के लिए वर्षा होना, सूर्य और चन्द्रमा की उपस्थिति तथा नदियों, पहाड़ों जैसी चीजों के अस्तित्व को समझना कठिन था। इसलिए उन्होंने प्रकृति की अलौकिक एवं असीमित शक्तियों को आदर्श माना और उन्हें उन प्राणियों के रूप में देखा जिनमें वे मानव या पशु गुणों से समानता पाते थे। ऋग्वेद में मौलिक रूप से देवताओं की संख्या 33 बताई गई है, परन्तु कई स्थानों पर तैंतीस से अधिक देवताओं का वर्णन मिलता है। संभवतः आर्यों में प्रकृति पूजन से ही प्रकृति को देवता मानने का विकास हुआ। प्राकृतिक शक्तियों को आर्यों ने सृष्टि संचालन के प्रति उत्तरदायी माना तथा देवों को प्रकृति का अधिष्ठाता स्वीकारते हुए भौतिक जगत् की उत्पत्ति के लिए उनकी कामना की। ऐसा विदित होता है कि प्रारंभ में धर्म की प्रकृति बहुदेववादी थी। ब्लूमफील्ड का विचार है कि संभवतः बहुदेववाद में पूर्ण सार्थक न होने पर अवसरवादी ऋग्वैदिक आर्य एकेश्वरवाद में विश्वास करने लगा। मैक्समूलर एकेश्वरवाद का विकास ऋग्वेद में एकाधिदेववाद से मानते हैं। इसके अनुसार जब एक समय में किसी एक वैदिक देवता की अर्चना होती थी तो उस विशेष स्थिति में अन्य बचे सारे देवताओं के गुण उस विशेष देवता में समाहित हो जाते थे।

वैदिक काल के अन्त में पुरोहितों के वर्चस्व, पन्थों और अनुष्ठानों के प्रभाव का पुरजोर विरोध हुआ, विशेष रूप से पांचाल और विदेह की धरती पर, जहां 600 ई.पू. के आस–पास उपनिषदों का संकलन हुआ। इन दार्शनिक ग्रन्थों ने अनुष्ठानों की आलोचना की तथा उचित मत एवं ज्ञान के मूल्यों को महत्व दिया। उन्होंने जोर दिया कि आत्मा या स्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध को सही प्रकार समझा जाना चाहिए।

टिप्पणी

उत्तरवैदिक काल में धर्म और जटिल हो गया। इस काल में बहुत–से नए देवताओं ने ऋग्वैदिक काल की प्राकृतिक शक्तियों का स्थान ले लिया। पुरोहित वर्ग द्वारा अधिकृत बलि का पहलू महत्वपूर्ण हो गया। लेकिन उत्तर वैदिक काल के अन्तिम चरण में उपनिषदों ने बलि की सत्ता को चुनौती देना आरम्भ कर दिया। भारतीय दर्शन का आरंभ वेदों से होता है। अधिकांश भारतीय दर्शन वेदों को अपना आदिस्रोत मानते हैं।

इस इकाई में प्रारम्भिक एवं मध्य वैदिक धर्म और दर्शन, उपनिषद् तथा उत्तरवैदिक कालीन धर्म एवं दर्शन का विस्तार से विवेचन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्रारम्भिक (ऋग्वैदिक) एवं मध्य वैदिक देवताओं के बारे में परिचित हो पाएंगे;
- ऋग्वैदिक काल में प्रचलित कर्मकांडों का अध्ययन कर पाएंगे;
- ऋग्वैदिक काल में दर्शन के विकास को समझ पाएंगे;
- उपनिषदों के बारे में विस्तार से जान पाएंगे;
- उत्तरवैदिक कालीन धर्म एवं दर्शन का अवलोकन कर पाएंगे।

3.2 प्रारम्भिक एवं मध्य वैदिक धर्म तथा दर्शन

ऋग्वैदिक आर्यों का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन जितना सरल था, धार्मिक जीवन उतना ही अधिक विशद तथा जटिल था। यहां हमें प्रारम्भ में 'बहुदेववाद' के दर्शन मिलते हैं। ऋग्वैदिक दैवमंडल का प्राचीनतम वर्गीकरण यास्क के द्वारा निरुक्त में किया गया है। सायण ने इसे परिमार्जित ढंग से प्रस्तुत किया है।

ऋग्वैदिक देवों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है–पृथ्वी में अग्नि, अन्तरिक्ष में इन्द्र या वायु तथा आकाश में सूर्य। ये तीनों देवता तीन लोकों के स्वामी थे। ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर प्रत्येक लोक में ग्यारह देवताओं का निवास मानकर उनकी संख्या तैतीस कही गई है। ऋग्वैदिक दैवमंडल में पुरुष देवताओं की संख्या अधिक है।

पृथ्वी के देवता

पृथ्वी के देवता पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, नदियां व अन्य माने गए हैं। इनका वर्णन निम्न प्रकार है–

(1) पृथ्वी– ऋग्वेद के एक सूक्त में पृथ्वी का उल्लेख है। पृथ्वी को द्यौ से संबंधित माना गया है। अथर्ववेद में भी पृथ्वी का वर्णन है। उसे पर्वतों, वृक्षों, नदियों आदि के भार को वहन करने वाला माना गया है। उसे माही (महानद्ध), दल्ह (कठोर) एवं अर्जुनी (चमकीली) के नाम से सम्बोधित किया गया है। उसे माता कहते हैं। संभवतः पृथ्वी अनार्य परंपरा का अंग थी जिसे आर्यों ने स्वीकार किया था।

टिप्पणी

(2) अग्नि– पृथ्वी के देवताओं में अग्नि का महत्व सबसे अधिक था। इसके दो कारण माने जाते हैं। एक तो वह सभी घरों का स्वामी है तथा उसका सम्बन्ध विवाह एवं दाह संस्कार से था। दूसरा, उसके बिना कोई यज्ञ पूरा नहीं हो सकता था और यही आहुतियों को देवताओं तक पहुंचाता है। कुछ स्थानों पर अग्नि को द्यौस तथा पृथ्वी का पुत्र कहा गया है। ऋग्वेद में 200 सूक्तों में अग्नि का वर्णन है। अग्नि की तुलना बैल से की गई है। अग्नि के तीन रूप हैं। उन्हें तीन मुखों वाला, तीन जीभों वाला, तीन शरीर वाला माना गया है। अग्नि की उपाधि त्रिसाधष्ठ (तीन स्थानों पर रहने वाला), त्रिपस्तय (तीन निवास वाला) आदि है। यज्ञ में अग्नि को ऋत्विज, विप्र, होत्र, पुरोहित, अर्यु तथा ब्राह्मण के नाम से जाना गया है। अग्नि भी हिंद–यूरोपीय देवता है। लैटिन में अग्नि को 'इगनिस', लिथुआनियन भाषा में 'उगनिस', स्लावोक में अग्नि आदि नाम से जाना जाता है।

अग्नि का संबंध विभिन्न देवताओं से जोड़ा गया है। अग्नि को सूर्य का ही रूप कहा गया है। वह चर–अचर का ज्ञाता है, इसीलिए इसे 'जातवेदस्' कहा गया। सूर्य के समान सर्वद्रष्टा होने के कारण उसका नाम 'भुवनचक्षु' है। वह राक्षसों, पिशाचों, आदि का विनाशक तथा मनुष्यों का मित्र एवं रक्षक था जिसके कारण उसे पिता, बन्धु, मित्र भी कहा गया है। शीत, रोग, अंधकार, हिंसक पशु आदि सभी उसके भय से दूर भागते थे। इस प्रकार अग्नि का महत्व विविध प्रकार का था।

(3) सोम– अग्नि के बाद पृथ्वीवासी देवताओं में सोम महत्वपूर्ण थे। यह देवताओं का प्रमुख पेय भी था जिसमें देवत्व का आरोपण किया गया। वह आनन्द तथा प्रफुल्लता के देवता कहलाए। यज्ञ से संबंधित होने के कारण सोम देवता ऋग्वेद के सबसे प्रमुख देवताओं में से एक हैं। ऋग्वेद के नौवें मंडल के संपूर्ण 114 सूक्त तथा 6 अन्य सूक्तों में इनका वर्णन है। अन्य सूक्तों में इन्हें इंद्र, अग्नि, पूषन्, रुद्र व अन्य के साथ वर्णित किया गया है। यह एक पौधे का प्रतिरूप हैं। यह बिना पत्तियों का गहरे बादामी रंग का पौधा है यदि इसको उबाल कर इसका पानी पिया जाए तो इससे थोड़ा नशा भी होता है। यह पौरुष वर्धक औषधि के रूप में भी प्रयुक्त होता है। सोमरस को मधुमत (शहद की भांति) कहा गया है। इसको अमृत के समान माना गया है। सोम को धाराओं के देव तथा जल को उनकी बहन माना गया है। उन्हें समुद्रीय कहा गया है। वृत्त के साथ युद्ध में सोम ने इंद्र की सहायता की थी। उन्होंने इंद्र के सारथी की भूमिका निभाई थी। सोम का प्राप्ति स्थान मूजवंत पर्वत माना जाता है जिसे जिमर दक्षिण कश्मीर की पर्वत श्रेणी मानते हैं। पर्वत पर रहने एवं उगने के कारण उन्हें क्रमशः गिरिधि एवं पर्वतवृद्ध कहा जाता है। सोम को वनस्पतियों का आश्रय कहा गया है। जेंद अवेस्ता में सोम को हओम कहा गया है।

(4) बृहस्पति– इनको देवताओं का गुरु माना गया है। ऋग्वेद के 11 सूक्तों में बृहस्पति का वर्णन है तथा दो सूक्तों में इंद्र के साथ वर्णित हैं। अन्य स्थानों पर ये लगभग 170 बार वर्णित हैं। बृहस्पति को 7 मुखी, 7 किरणों वाला माना

टिप्पणी

गया है। बृहस्पति सोम के पुरोहित हैं। बृहस्पति इंद्र के मित्र हैं। ओल्डेन बर्ग के अनुसार यह यज्ञ में पुरोहित के कार्य का प्रतिरूप हैं।

(5) नदियां– ऋग्वेद में नदियों को दैवीय स्वरूप प्राप्त है। दसवें मंडल के एक सूक्त में सिंधु नदी की प्रशंसा की गई है। एक अन्य सूक्त में सिंधु के साथ विपाशा तथा शुतुद्रि की प्रशंसा है। परन्तु सर्वाधिक महत्व सरस्वती नदी का है। यह ऋग्वेद के तीन सूक्तों में वर्णित है। कुल मिलाकर 21 नदियों को पवित्र माना गया है। सरस्वती की सात बहनों का वर्णन है। सरस्वती को पूषन्, इंद्र तथा मरुतों के साथ संबंधित किया गया है। वह वाक् की देवी भी है।

अंतरिक्ष के देवता

अंतरिक्ष के देवताओं में इंद्र, त्रित आपात्य, आपम् नापत्, मातरिश्वन्, अज एकपाद, रुद्र, मरुत, वायु–वात, पर्जन्य तथा आप या अपह सम्मिलित हैं।

(1) इंद्र– इंद्र ऋग्वेद के सबसे प्रमुख देवता हैं जिनकी स्तुति को 250 सूक्त समर्पित हैं। अन्य देवताओं के वर्णन के साथ इनका वर्णन लगभग 300 सूक्तों में है। इन्द्र को विश्व का स्वामी कहा गया है तथा उन्हें सर्वमान्य एवं सर्वशक्तिशाली देवता माना जाता था। इन्द्र युद्ध और वर्षा के देवता हैं। इन्द्र को अपनी इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ माना गया है। वह वज्र धारण करके रथ पर आसीन हो युद्ध करते हैं एवं वायु उसका सारथि है। आर्यों का विचार था कि इंद्र ने ही असुरों (अनार्यों) पर विजय दिलाई थी। क्योंकि उन्होनें शत्रु के अभेद्य किलों को नष्ट कर दिया था इसलिए उन्हें 'पुरन्दर' की संज्ञा दी गई। वृत्रासुर के अतिरिक्त इंद्र ने 99 भुजाओं वाले 3 वर्ण, तीन मुखों एवं 6 आंखों वाले विश्वरूप तथा अर्बुद नामक असुरों का भी वध किया। ऋग्वेद में यज्ञ द्वारा इन्द्र से धन के लिए प्रार्थना करने का उल्लेख है। इंद्र को वज्रव्रत, वज्रभ्रत तथा वज्रदक्षिण कहा गया है। वज्र के अतिरिक्त इंद्र धनुष एवं बाण तथा अंकुश भी धारण करते हैं। इंद्र स्वर्णिम रंग के रथ पर चलते हैं तथा रथ दौड़ विजेता हैं। रथेष्ट उनकी उपाधि है। इंद्र को सोम पान करने वाला (सोमपा या सोमपयी) तथा वृत्र नामक असुर को मारने के कारण वृत्रहन् भी कहा गया है। इंद्र न केवल शत्रुओं को पराजित करते हैं अपितु अपने भक्तों की सहायता भी करते हैं। कुशिक ऋषियों की सहायता करने के कारण उन्हें कौशिक की उपाधि प्राप्त हुई। वह अपनी कुतिया 'सरमा' की सहायता से पणियों की गायों का पता लगाते हैं तथा उन्हें छीन लेते हैं। लेकिन इंद्र का ऋग्वेद में सूर्य से विवाद भी प्राप्त होता है। उत्तर वैदिक काल में कृष्ण द्वारा इंद्र के मान का मर्दन किया गया। अग्नि एवं पूषन् को इंद्र का भाई माना गया है। इंद्र की पत्नी इंद्राणी है। शचि भी इंद्र की पत्नी के रूप में वर्णित है। वायु इंद्र का सारथि है। इंद्र अपने अभियानों में मरुतों का सहयोग लेते हैं तथा मरुतवत् (मरुतों का सहयोगी) की उपाधि धारण करते हैं।

(2) त्रित आपात्य– त्रित आपात्य ऋग्वेद में किसी भी सूक्त में पूर्ण रूप से वर्णित नहीं है परंतु इंद्र के साथ कहीं–कहीं सहयोगी के रूप में दिखाई पड़ते हैं। मरुत् एवं त्रित ने वृत्रासुर के वध में इंद्र की सहायता की थी। विश्वस्य की

पराजय में भी त्रित की अहम भूमिका रही। त्रित का संबंध बिजली चमकाने तथा आकाशीय अग्नि से भी लिया जाता है।

टिप्पणी

(3) आपम् नापत्– आपम् नापत् का वर्णन ऋग्वेद में स्वतंत्र रूप से केवल एक सूक्त में प्राप्त होता है तथा कुल 30 बार इनकी स्तुति है। आपम् को जल का पुत्र माना जाता है। यह जल के गर्भ, अग्नि के चमकते स्वरूप तथा बादलों में छिपने वाले देव के रूप में वर्णित है। ये एक इंडो–ईरानी देव हैं। ईरानियों की पुस्तक जेंद अवेस्ता में इनका वर्णन जल देवता की आत्मा के रूप में है।

(4) मातरिश्वन्– ऋग्वेद में मातरिश्वन् का वर्णन स्वतंत्र रूप से एक भी सूक्त में नहीं मिलता है परंतु अलग–अलग स्थानों पर इसका वर्णन 27 बार मिलता है। मातरिश्वन् या तो स्वयं अग्नि या अग्नि प्रज्वलित करने वाले देव के रूप में वर्णित है। ऋग्वेद के तीन वृत्तांतों में अग्नि को ही मातरिश्वन् की संज्ञा दी गई है। कभी–कभी इंद्र से भी इनकी तुलना की गई है।

(5) अर्हि बुधन्य– इनका वर्णन ऋग्वेद में 12 बार मिलता है। अर्हि बुधन्य गर्भ के सर्प माने गए हैं। इनका वर्णन पांच बार अज एकपाद के साथ, तीन बार अपम् नापत् के साथ, तीन बार समुद्र के साथ तथा दो बार सवित् के साथ मिलता है। अर्हि बुधन्य की स्तुति शुभ प्राप्ति के लिए है जिससे इनकी संहारक प्रकृति का ज्ञान होता है। उत्तर वैदिक काल में यह शिव से संबंधित हो गए तथा शिव की उपाधि 'अर्हिबुधन्य' स्वीकार कर ली गई। इस काल में इनका सम्बन्ध अग्नि गार्हपत्य से स्थापित किया गया।

(6) अज एकपाद– ऋग्वेद में अज एकपाद का वर्णन अर्हि बुधन्य के साथ मिलता है। यह एक पैर वाले बकरे के रूप में वर्णित हैं। उत्तर वैदिक काल में यह शिव के साथ स्थापित कर दिए गए।

(7) रुद्र– ये ऋग्वेद में वर्णन की मात्रात्मक दृष्टि से गौण देवता के रूप में ही वर्णित हैं। इनकी स्तुति केवल तीन सूक्तों में प्राप्त होती है तथा अन्य देवताओं के साथ ये 75 बार वर्णित हैं। ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति 'बलवानों में सबसे अधिक बलवान' कहकर की गई है। रुद्र का वर्णन संहारक एवं शुभेच्छु दोनों रूपों में है। वे अपने उपासकों के शत्रुओं का संहार करते हैं तथा श्रद्धालुओं पर उनकी असीम अनुकंपा है। मरुत को रुद्र का पुत्र माना जाता है। रुद्र पहाड़ियों, पशुओं एवं वनस्पतियों से संबंधित देवता हैं। कभी–कभी उनको अग्नि से भी संबंधित माना जाता है।

(8) मरुत्– ऋग्वेद में मरुत् ऊँचे स्थान पर हैं। इनका वर्णन 33 सूक्तों में प्राप्त होता है। वह इंद्र, अग्नि एवं पूषन् के साथ मिलकर संघ का निर्माण करते हैं। रुद्र के पुत्र होने के कारण उन्हें रुद्रीय भी कहा जाता है। ऋग्वेद में मरुतों की संख्या 36 या 37 बताई गई है। पृथ्वी उनकी माता है। अतः उनकी उपाधि गोयातराह है। उनके भाइयों में समरूपता है तथा कोई छोटा बड़ा नहीं है। मरुतों का संबंध इंद्राणी एवं सरस्वती से है। वह विद्युत के देवता हैं तथा आंधी लाते हैं एवं वर्षा कराते हैं।

टिप्पणी

(9) वायु–वात– वायु का वर्णन ऋग्वेद में एक सूक्त में है तथा इंद्र के साथ अन्य 12 स्थानों में है। वायु एवं वात धन–धान्य तथा सुख प्रदान करते हैं। मुख्य रूप से वायु शीतल पवन का स्वरूप है।

(10) पर्जन्य– पर्जन्य का स्थान भी ऋग्वेद के तीन सूक्तों में वर्णित है तथा अन्य देवों के साथ इनका वर्णन 30 स्थानों पर है। ये बादलों में निवास करते हैं। इनका बादलों पर नियंत्रण है। वर्षा के होने तथा किरणों के प्रभाव से मेघों का जल बरसता है। ये धरती के तापमान को शांत करते हैं और फिर से जीवन का संचार करते हैं। इनकी अनुपस्थिति में धरती पर जीवन संभव नहीं है। इनकी उपासना मुख्यतः वर्षा के लिए की जाती है। यह वात के सबसे अधिक निकट हैं। इनका वर्णन अग्नि के साथ भी मिलता है।

(11) आप या अपह– ऋग्वेद में अपह का अर्थ जल है तथा ऋग्वेद में इनका वर्णन चार सूक्तों में किया गया है। इंद्र ने अपह के मार्ग को प्रशस्त किया। वरुण इनके मध्य चलते हैं तथा अपह सावित्र से आदेश प्राप्त करते हैं। जल का संबंध शहद से भी है और इनका मिश्रण सोम के साथ देवताओं को अत्यंत प्रिय है।

आकाश के देवता (द्युस्थानीय)

वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, आदित्य, उषा, अश्विन, विवस्वत और द्यौ आकाश के देवता माने जाते हैं।

(1) वरुण– वरुण एक हिंद–यूरोपीय आर्य देवता हैं। इनको आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता कहा गया है। ऋग्वेद में यह वरुण, जेंद अवेस्ता में अहूर मज़्दा, ग्रीक में जियस तथा रोम में जुपिटर के नाम से विद्यमान है। मध्य एशिया के प्रसिद्ध बोगजकोई अभिलेख में वरुण का वर्णन इंद्र, मित्र एवं नासत्य के साथ है। वरुण एक राजा के रूप में वर्णित हैं लेकिन ऋग्वेद में इनके लिए वर्णित सूक्तों की संख्या अधिक नहीं है। ऋग्वेद में वरुण का वर्णन श्वेतवर्ण की पीली आँखों वाले, गंजे एवं वृद्ध व्यक्ति के रूप में हुआ जो चमकीला वस्त्र धारण करते हैं तथा स्वर्ग में हजार खंभों एवं दरवाजों वाले स्वर्ग महल में रहते हैं। वरुण का कार्य 'ऋत' या नैतिक नियमों को स्थापित करना है। वह विश्व में होने वाली प्रत्येक घटना को जानते हैं। सूर्य एवं चंद्रमा उनकी आँखें हैं और हर तरफ विद्यमान गुप्तचर उसे प्रत्येक घटना की सूचना प्रदान करते हैं। नियमों को तोड़ने पर वरुण पापियों को दंडित भी करते हैं तथा उन्हें अपने पाशों में बाँध लेते हैं। उनकी कृपा से व्यक्ति कृतार्थ भी हो जाता है। सर्वशक्तिमान होने के बावजूद वह अनियंत्रित और स्वेच्छाचारी नहीं हैं।

(2) मित्र– ऋग्वेद में मित्र एवं वरुण की घनिष्ठता इतनी दर्शाई गई है कि केवल एक ऋग्वैदिक मंत्र में ही मित्र का अकेले वर्णन है। जेंद अवेस्ता में ये मित्र रूप में वर्णित हैं जो सूर्य का प्रतीक स्वरूप है तथा विश्वास प्रकट करने वाले देव हैं।

(3) सूर्य– सौर देवों में सूर्य सर्वप्रथम देवता हैं। इनको अन्धकार दूर कर रोशनी फैलाने वाला माना गया है। ऋग्वेद के 10 सूक्तों में सूर्य की स्तुति की गई है

टिप्पणी

तथा इनको मित्र, वरुण और अग्नि का नेत्र माना गया है। वह सात घोड़ों पर सवार होकर आकाश के चक्कर लगाते हैं। ये द्यौ एवं अदिति के पुत्र हैं। सूर्य हमेशा दृष्टिमान रखने वाले देवता हैं। वरुण ने सूर्य के मार्ग को निर्धारित किया है। पूषन् उनका संदेशवाहक है। उषा सूर्य की प्रथम किरण है तथा पत्नी भी है।

(4) सवितृ– सवितृ भी सूर्य का ही प्रतिरूप हैं, परंतु इनकी स्थिति स्वतंत्र है। ऋग्वेद में सवितृ का वर्णन 11 सूक्तों में है तथा कुल मिलाकर यह ऋग्वेद में 170 बार वर्णित है। ये एक स्वर्णदेव हैं। इनकी आखें स्वर्ण वर्ण की हैं। इनकी भुजाएं बलशाली, आकर्षक एवं स्वर्ण रंग की हैं। परंतु ये मृदुभाषी हैं तथा इनका जबड़ा बहुत मजबूत है। सवितृ सूर्य का भारतीय स्वरूप माना जा सकता है जो वैदिक ऋषियों को दिव्यशक्ति प्रदान करते थे। ऋग्वेद का प्रसिद्ध गायत्री मंत्र सवितृ को ही समर्पित है।

(5) पूषन्– पूषन् का अभिकल्प भी सूर्य के प्रतीक के रूप में है। ऋग्वेद में 8 सूक्तों में ये स्वतंत्र रूपों में वर्णित हैं तथा अन्य देवताओं के साथ कुल 120 बार वर्णित हैं। ये दो स्थानों पर क्रमशः पूषन्, इंद्र एवं सोम के साथ युग्म देवता के रूप में वर्णित हैं। रुद्र की भांति उन्होंने भी बालों को जटाधारी कर लिया है तथा उनकी दाढ़ी भी है। उनके पास एक स्वर्ण भाला, अंकुश तथा सूंआ है। उनका रथ बकरों के द्वारा चलाया जाता है। पूषन् का मुख्य कार्य मार्गों के संरक्षक के रूप में है। वे भटके हुए पशुओं को भी मार्ग दिखाते हैं। वे मार्गों में आने वाले भेड़ियों आदि का दमन करते हैं। वे विवाह के भी प्रमुख देवता हैं। ऋग्वेद में विवाह सूक्त में उनकी प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद में पूषन् अधिनी, पुष्टिम्भर (संपन्नता लाने वाला), अनस्तपशु (पशु न खोने वाला), अनस्तवेद्स (अच्छाई वाला), पशुप (पशु रक्षा करने वाला), आदि अनेक उपाधियों से विभूषित हैं।

(6) विष्णु– ऋग्वेद में विष्णु का संबंध भी सूर्य के परिवार से ही है। विष्णु का स्वतंत्र रूप से वर्णन ऋग्वेद के केवल पांच सूक्तों में ही मिलता है। अन्य देवों के साथ इनकी स्तुति 100 बार से अधिक नहीं है। इन्हें सूर्य की गति से संबंधित माना गया है। ऋग्वेद में विष्णु त्रिविक्रम (तीन पद), उरुगाय (तेज गति वाला), उरुक्रम (बड़े पद मापने वाला) आदि उपाधियों से विभूषित हैं। विष्णु तीन पगों से समस्त सृष्टि को माप लेते हैं जो पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं आकाश की द्योतक है। उत्तर वैदिक काल में 12 सूर्य देवों में विष्णु असीमित एवं सर्वश्रेष्ठ शक्ति के देवता के रूप में स्थापित हुए।

(7) आदित्य– आदित्य एक सामूहिक देवता हैं। ऋग्वेद में इनका वर्णन स्वतंत्र रूप से 6 सूक्तों में है तथा अन्य देवताओं के साथ अन्य दो स्थानों पर है। प्रायः आदित्यों की संख्या छह स्वीकार की गई है, परन्तु ऋग्वेद के नवें मंडल में इनकी संख्या सात तथा दसवें मंडल में आठ है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार अदिति ने सबसे पहले सात आदित्य देवों को समर्पित किया, तत्पश्चात् आठवें आदित्य मार्तण्ड को। अथर्ववेद के अनुसार अदिति के आठ पुत्र मित्र, वरुण, आर्यमन, अंश, भग, धात्र, इंद्र एवं विवस्वत हैं। इनमें प्रथम पांच का विवरण ऋग्वेद में प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में भी मार्तण्ड को लेकर आदित्यों की

संख्या आठ मानी गई है। अन्य स्थानों पर यह 12 है तथा वर्ष के 12 महीने से संबंधित है। स्वर्णिम, हिरण्यक (चमकीला), उस्वपनज (न सोने वाला), ऋत्वन (पवित्र) आदि आदित्यों की प्रमुख उपाधियां हैं।

टिप्पणी

(8) उषा– उषा प्रातःकालीन बेला का मानवीकरण प्रतीत होती है। वह 'प्रभात की देवी' कहलाती थीं। इनका चित्रण सौंदर्य बाला के रूप में मिलता है। उषा को सूर्य की प्रथम किरण एवं उसकी पत्नी के रूप में माना जाता है। ऋग्वेद में उषा का वर्णन स्वतंत्र रूप से 30 सूक्तों में तथा अन्य स्थानों पर कम से कम 300 बार किया गया है। उषा सौंदर्यवान, आशायुक्त तथा सुंदर रथ पर चलने वाली है। इनका कार्य मनुष्य का आलस्य दूर करके काम के लिए प्रेरित करना है।

(9) अश्विन या नासत्य– इनका देवताओं के युग्म रूप में चित्रण मिलता है। बोगजकोई अभिलेख में इन्हें नासत्य कहा गया है। ऋग्वेद में अश्विन का स्थान इंद्र, अग्नि तथा सोम के बाद आता है। ये 50 सूक्तों में अकेले वर्णित हैं। ऋग्वेद के अन्य स्थानों पर ये लगभग 400 बार वर्णित हैं। अश्विन का स्थान भी सूर्य के रूप में है। वे सर्वदा युगल रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अश्विन का युग्म कभी टूट नहीं सकता तथा शरीर के दोनों हाथों, पैरों, आँखों आदि की तरह पूर्णता प्रदान करने वाला है। ये दुर्घटनाग्रस्त नाव के यात्रियों की रक्षा करते थे। अपंग व्यक्ति को कृत्रिम पैर प्रदान करते थे। अश्विन का संबंध मधु से है तथा इनका वाहन मधुवर्ण या मधुवाहन कहलाता है। ये प्रभात के समय घोड़ों या पक्षियों से जुते हुए सोने के रथ पर चढ़कर आकाश में निकलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार सोम एवं सूर्या के विवाह के समय अश्विन गधों से जुते रथ पर सवार थे। अश्विन देवों का ऋग्वैदिक काल में मुख्य कार्य वैद्य का है। अश्विन ने घोषा तथा ऋषि च्यवन को वृद्धावस्था से बचाया था।

(10) विवस्वत– ऋग्वेद में विवस्वत का किसी भी सूक्त में पूर्ण रूप से वर्णन नहीं है लेकिन अन्य देवताओं के साथ ये लगभग 30 बार वर्णित हैं। विवस्वत को अश्विन एवं यम का पिता माना गया है। उत्तर वैदिक साहित्य में ये वैवस्वत नाम से पहचाने गए तथा मनु के पिता माने गए। अग्नि का उदय विवस्वत तथा मातरिश्वन के द्वारा ही माना जाता है।

(11) द्यौ– ऋग्वेद में द्यौ दैयु कहे जाते हैं तथा इनका संबंध आकाश से है। ऋग्वेद में इनका वर्णन 500 स्थानों पर है। कहीं–कहीं इनका तात्पर्य दिन से भी है। द्यौ हमेशा पृथ्वी के साथ स्थापित किए जाते हैं। इस कारण इन दोनों को 'द्यौपृथ्वी' की भी संज्ञा दी जाती है। उषा को द्यौ की पुत्री माना गया है तथा अश्विन, पर्जन्य, सूर्य, आदित्य, मरुत् एवं अग्नि की संज्ञा इनके पुत्रों के रूप में है।

अन्य देवी–देवता

ऊपर वर्णित देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वैदिक काल में कुछ अन्य देवी–देवताओं की भी उपासना की जाती थी। धात्र नामक देवता का मुख्य कार्य यज्ञ संपादन में सहायता करना तथा पूर्ण करना था। इनको शुद्ध प्रकाश देने वाला भी कहा गया है। उत्तर

टिप्पणी

वैदिक काल में इनका सबंध प्रजापति से हो गया तथा ये सृजन से संबंधित हो गए। ऋग्वेद में 65 बार त्वाष्ट्र का वर्णन हुआ है। वे सुंदर भुजाओं वाले देव माने गए हैं तथा कुल्हाडी धारण करते हैं। वे एक निपुण कारीगर हैं। उनका कार्य गर्भ में बीज आरोपण है। उन्हें विश्वरूप कहा गया है। उन्हें मानव जाति का पूर्वज कहा गया है। त्वाष्ट्र की पुत्री सरन्यू जो विवस्वत की पत्नी थी, ने ही प्रथम बार यम एवं यमी को जन्म दिया था। त्वाष्ट्र को इंद्र का पिता भी माना गया है। उनके एक पुत्र को विश्वस्य कहा गया है। उन्हें गायों का संरक्षक कहा गया है।

ऋग्वेद में विश्वकर्मा प्रजापति पांच बार वर्णित हैं तथा दो पूर्ण सूक्त इनको समर्पित हैं। विश्वकर्मा उत्तर वैदिक काल के ब्रह्मा के प्रतिरूप हैं तथा चार मुखवाले एवं चतुर्भुजी हैं। ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ का संदर्भ भी प्रजापति से है। ऋग्वेद में मन्यू का वर्णन दो सूक्तों में है। उन्हें इंद्र का क्रोध माना गया है। वे अग्नि की भांति ज्वलनशील हैं तथा इंद्र, वरुण, जातवेदस आदि के समकक्ष हैं। ऋग्वेद में श्रद्धा को केवल एक सूक्त अर्पित है। श्रद्धा की प्रार्थना प्रातःकाल, दोपहर तथा रात्रि में की जाती है। श्रद्धा प्रेम और विश्वास का संस्मरण है। ऋग्वेद में अदिति का वर्णन दो बार है। ये प्यार एवं विश्वास प्रदान करती हैं। देवियों में सबसे अधिक महत्व अदिति को प्रदान किया गया, जिसे सम्पूर्ण देव जगत में महान, आदित्यों एवं सब देवों की माता की संज्ञा प्रदान की गई है। ये ऋग्वेद में लगभग 80 बार वर्णित हैं तथा अपने पुत्रों आदित्यों के साथ पूजी जाती हैं। अदिति को प्रकृति की किसी शक्ति से सम्बद्ध नहीं किया गया। इतिहासकार कीथ अदिति के चित्रण में पाश्चात्य प्रभाव मानते हैं। कुछ विद्वान् अदिति की तुलना यूनान की ऐट्स, नार्वे की ईडा तथा एडोनिस से करते हैं। सम्भवतः ये आर्यों की प्राचीन देवी न होकर अन्य देवताओं के मानवीकरण के बाद की कल्पना थी। दीति का वर्णन ऋग्वेद में केवल तीन बार हुआ है। इसमें दो बार अदिति के साथ संयुक्त रूप से तथा एक बार अन्य देवताओं के साथ हुआ है। दीति के कार्य भी अदिति जैसे हैं।

ऋग्वैदिक कर्मकाण्ड

आर्यों ने सुख की प्राप्ति तथा हानिकारक शक्तियों से बचने के लिए कर्मकांडों का विकास किया। ऋग्वेद में अग्नि एवं सोम कर्मकांडों के दो प्रमुख अंग थे। ये कर्मकांड समाज, विवाह, जन्म, मृत्यु आदि से संबंधित थे। ऋग्वेद के दसवें मंडल में सूर्य एवं सोम का विवाह विश्व के प्राचीनतम विवाह मंत्रों का उदाहरण देता है। यजुर्वेद में कर्मकांडों का विकास हुआ तथा ऋग्वेद की साधारण यज्ञ पद्धति को त्याग दिया गया जिसमें परिवार का मुखिया स्वयं होत्र के रूप में कार्य करता था एवं उसे मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं थी। यज्ञ के लिए एक अग्निवेदी पर्याप्त थी लेकिन सोमयज्ञों, पाकयज्ञों आदि की शुरुआत से यज्ञ प्रक्रिया बहुत जटिल तथा खर्चीली हो गई और साधारण लोगों की पहुंच से बाहर हो गई। ऋग्वेद के अनुसार होत्र पुरोहित देवताओं का आह्वान मंत्र उच्चारण से करते थे। सोमयज्ञ के समय शास्त्र प्रशंसा मंत्र कहे जाते थे तथा उद्गातृ पुरोहित शमन (कर्णप्रियामत्र) गाता था, जो सामवेद में संकलित हैं। यजुर्वेद के मंत्र इसकी दो शाखाओं– कृष्ण तथा शुक्ल यजुर्वेद में विभक्त हैं। कृष्ण यजुर्वेद में मंत्र के साथ यज्ञ कर्मकांड भी हैं जबकि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मंत्र ही हैं।

टिप्पणी

शुक्ल यजुर्वेद के चालीस अध्यायों में श्रौत यज्ञों का उल्लेख है। श्रुति या वेद पर आधारित होने के कारण ही इन्हें श्रौत कहा गया। ये यज्ञ गृहयज्ञ से भिन्न होते थे तथा अत्यधिक खर्चीले थे। इसमें एक के स्थान पर तीन अग्नि कुण्डों का प्रयोग होता था तथा अग्नि ताखे (चिति) विशालकाय होते थे। इनमें पुरोहितों की संख्या अधिक होती थी तथा यजमान की दान दक्षिणा के अतिरिक्त अन्य कोई भागीदारी नहीं थी। इसमें संलग्न पुरोहित वर्ग चार वगों में विभाजित था– (1) होत्र का कार्य देवताओं का आह्वान करना था (2) उद्गाता देवताओं की प्रशंसा में मंत्रोच्चारण करता था (3) अध्वर्यु का प्रमुख कार्य यज्ञ आहुति संपन्न करना था (4) ब्रह्मा यज्ञ संपादन का प्रधान था तथा यज्ञ में त्रुटि न हो इसका कार्य देखता था। श्रौत यज्ञ दो प्रकार के थे– सोमयज्ञ तथा हविर्यज्ञ। सोमयज्ञ सात प्रकार के थे–अग्निष्टोम, अत्याग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोपाय। इनको संयुक्त रूप से ज्योतिष्टोम यज्ञ कहा जाता था। ये यज्ञ मुख्यतः प्रारंभिक आर्यों के क्षेत्र सरस्वती, दृष्टावती नदियों के आसपास विकसित हुए थे। इन यज्ञों को अन्य श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। इनमें बलि अनिवार्य थी तथा तीन अग्नि वेदिकाओं की आवश्यकता होती थी। अग्निष्टोम यज्ञों में–(1) बाजपेय यज्ञ जिसमें रथदौड़ तथा सामाजिक भोज आवश्यक अंग थे। इसे पुनर्जीवन यज्ञ भी कहते हैं। (2) राजसूय यज्ञ जो राज्याभिषेक यज्ञ था तथा इसमें राजा रानी के साथ भोजन करता था। (3) अग्निकाय यज्ञ जिसमें यज्ञ वेदियां बनाई जाती थीं तथा एक वर्ष से अधिक चलने वाले इस यज्ञ में 10800 ईंटों का प्रयोग होता था एवं इसका आकार पंख फैलाए पक्षी जैसा था। (4) सौत्रामणि यज्ञ अधिक सुरापान करने वाले व्यक्ति को उससे मुक्ति दिलाता था। इसमें इंद्र, सरस्वती तथा अश्विन को भोज के स्थान पर सुरा अर्पित की जाती थी। (5) अश्वमेध यज्ञ साम्राज्यवाद से संबंधित था। इसमें घोड़े की बलि दी जाती थी।

सोम यज्ञ मुख्यतः तीन प्रकार के माने गए हैं– एका, अहिन तथा सात्र। (1) एका में केवल एक सूत्य दिन होता है जिसमें सोम का रस निकाला जाता है तथा इसमें सारे कर्मकांड एक ही दिन संपन्न होते हैं (2) अहिन में दो से लेकर 12 सूत्य दिन लगते हैं (3) सात्र में 12 दिन से अधिक लगते हैं तथा कभी–कभी एक वर्ष भी लग जाता है। आर्य क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति के लिए भी यज्ञ का विकास हुआ जिसे व्रात्यष्टोम यज्ञ कहा गया।

हविर्यज्ञों में सात यज्ञ सम्मिलित हैं– (1) अग्न्याधेय के अंतर्गत तीन अग्नि वेदिकाएं जलती थी। इस अग्नि को प्रज्वलित करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य था। (2) अग्निहोत्र में तीन अग्नि वेदिकाओं में नित्य हवि का अर्पण करना पड़ता था। (3) दर्श–पूर्णमास यज्ञ क्रमशः अमावस्या तथा पूर्णिमा को किए जाते थे। दर्श यज्ञ पर अग्नि एवं इंद्र के लिए वेदिकाओं का निर्माण होता था तथा पूर्णमास यज्ञ में अग्नि एवं सोम के लिए वेदिकाएं बनाई जाती थीं। (4) अग्रयान यज्ञ में प्रथम फसल का कुछ भाग अर्पित किया जाता था। (5) चातुर्मास्य यज्ञ तीन ऋतुओं के प्रारंभ होने के समय संपादित किया जाता था। (6) निरुद्ध पशुबंध पशुबलि विधान था जो स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित था। (7) पिंडपित्र यज्ञ पूर्वजों के प्रति श्राद्ध अर्पण था।

टिप्पणी

अन्य प्रमुख यज्ञों में पुरुषमेध, सर्वमेध आदि विख्यात थे। पुरुषमेध यज्ञ में मनुष्य की बलि दी जाती थी। सर्वमेध यज्ञ के अंतर्गत यजमान अपनी संपूर्ण संपत्ति दान करके वन में जाकर संन्यासी का जीवन बिताता है। पित्रमेध यज्ञ पितरों से संबंधित था। इस यज्ञ में दूध को गर्म करके अश्विन को चढ़ाया जाता था तथा दुग्ध का पात्र मानव संरचना जैसा दिखता था।

गृह यज्ञों में केवल एक अग्नि वेदिका की आवश्यकता थी। कुछ यज्ञ जैसे प्रातः एवं सांध्य काल में अग्नि प्रज्वलन, अमावस्या एवं पूर्णिमा आदि दोनों यज्ञ विधियों में प्रचलित थे। गृहयज्ञों में यज्ञ पूर्ण रूप से परिवार से संबंधित होते थे। प्रातः एवं संध्या यज्ञ सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय होते थे। यज्ञों में क्रमशः सूर्य एवं प्रजापति तथा अग्नि एवं प्रजापति को पका हुआ या कच्चा जौ अर्पित किया जाता है। गृहयज्ञों में पंचमहायज्ञ प्रमुख थे– (1) दैव यज्ञ में प्रातः तथा संध्या में निर्मित भोजन दूध, दही या घृत के साथ देवताओं को अर्पित किया जाता है। (2) भूत यज्ञ में बलि को भूमि पर, अग्नि स्थान पर, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, प्रजापति, कामदेवता तथा भूतप्रेतों को अर्पित किया जाता है। (3) पितृ यज्ञ में पितरों को दक्षिण दिशा में बलि अर्पित की जाती थी। श्राद्ध एवं तर्पण इसके दो प्रमुख विधान थे। (4) ब्रह्मयज्ञ में प्रतिदिन वेद अध्ययन या स्वाध्याय करने को कहा जाता था। (5) नृयज्ञ या मनुष्य यज्ञ अतिथि को भोजन कराना था।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य गृह यज्ञ भी थे– (1) श्रावण यज्ञ श्रावण मास में पूर्णिमा के दिन होता था तथा सांप को अर्पित था। इसमें वर्षा के चार महीनों में ऊंचे बिस्तर पर लेटा जाता था तथा विष्णु को जौ या पका हुआ भोजन अर्पित किया जाता था। (2) प्रत्यारोहण अथवा अग्रहायणी भी श्रावण यज्ञ की भांति ही था परन्तु इसमें ऊंचे बिस्तर पर लेटना आवश्यक नहीं था। संभवतः यह नव वर्ष के प्रारंभ में होता था। (3) चैत्री चैत्र मास में पूर्णिमा के दिन होता था। (4) अश्वयुत्रि अश्विन में पूर्णिमा के दिन किया जाता था। (5) प्रवण अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन होने वाले यज्ञ थे। (6) श्राद्ध पितरों के प्रति अर्पण था। (7) अष्टक में तीन यज्ञ महत्वपूर्ण हैं जो पौष, माघ तथा फाल्गुन मास में पूर्णिमा के आठवें दिन किए जाते थे। इन यज्ञों में अपूप आदि अग्नि को समर्पित किए जाते थे।

इन यज्ञों के अलावा पशुधन बढ़ाने संबंधित यज्ञ भी प्रचलित थे जिनमें प्रमुख हैं–(1) सुलगव यज्ञ में रुद्र को बैल की बलि दी जाती थी। कभी–कभी बैल के स्थान पर चावल का पिंड अर्पित किया जाता था। यह यज्ञ वर्षा या शरद ऋतु में मध्य रात्रि को ग्राम से बाहर किया जाता था। यह सर्व, मिधुषी तथा जयंत नामक देवों को भी समर्पित था। (2) बौध्यविहार यज्ञ रुद्र को समर्पित है। इसमें पके चावल के पिंड को पलाश वृक्ष में पत्तियों से बनी टोकरी में बांधकर लटका दिया जाता था। (3) स्थलपाक यज्ञ क्षेत्रपति देव को समर्पित था तथा बैल की आकृति बनाकर गायों के मार्ग में स्थापित किया जाता था। (4) वृषोत्सर्ग में अच्छे बैल को कार्तिक मास की पूर्णिमा के दिन खुला छोड़ दिया जाता था जिससे वह अच्छी संतान उत्पन्न कर सके।

टिप्पणी

ऋग्वैदिक दर्शन

ऋग्वैदिक आर्यों के दर्शन सम्बन्धी विचार अधिक स्पष्ट नहीं हैं। एक स्थान पर मृतात्मा को यम द्वारा शासित लोक में शांतिपूर्वक सुख के साथ निवास करने वाला कहा गया है। स्वर्ग एवं नरक के विचार स्पष्ट हो गए थे। अच्छे कर्म स्वर्ग प्राप्ति के साधन थे तथा बुरे कर्म नरक के सहभागी। स्वर्ग की अत्यंत सुन्दर एवं मनोरम कल्पना प्राप्त होती है। ऐसा वर्णन किया गया है कि वहां दिन एवं रात आनन्ददायक होते हैं। वहां मनुष्य बलिष्ठ तथा सुन्दर शरीर को प्राप्त करता है और उसका शरीर सभी प्रकार की दुर्बलताओं, आधि–व्याधि आदि से मुक्त हो जाता है। पुण्यकर्मी प्राणी अपने यज्ञादि कर्मों का फल वहां प्राप्त करते हैं। वहां अश्वत्थ वृक्ष है जिसके नीचे यम, देवताओं के साथ पान करते हैं।' नरक की कल्पना दुष्कर्मियों के लिए दण्ड स्थान के रूप में की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि लोग पापकर्म के दुष्परिणामों से डरते थे। पाप, ऋत् (नैतिक नियम) के उल्लंघन से उत्पन्न होता था। 'ऋत्' के मार्ग को श्रेष्ठ कहा गया है (सुगाऋतस्य पन्थाः)। देवताओं की उपासना, यज्ञीय विधि–विधानों का अनुष्ठान तथा ईश्वर की इच्छा के अनुकूल आचरण करना–ये ही नैतिक जीवन के आदर्श थे। ऋग्वैदिक ऋषियों के विचार पूर्णतया आशावादी थे। जीवन चाहे सत्य रहा हो या झूठ, वे उसका पूर्ण उपभोग करना चाहते थे। उनका मुख्य उद्देश्य भौतिक सुखों की प्राप्ति था जिसे वे यज्ञ के माध्यम से प्राप्त करना चाहते थे। ऋग्वेद दीर्घ आयु, वीर–सन्तति, रोगों से मुक्ति, धन, शक्ति, खानपान की अधिकता, शत्रुओं पर विजय आदि की प्रार्थनाओं से भरा हुआ है। ऋग्वैदिक ऋषि– मुनियों ने जीवन को बन्धन मानकर उसके सुखों की उपेक्षा करने का कभी प्रयास नहीं किया और न ही कायाक्लेश आदि में ही विश्वास किया। ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ संस्करण से सृष्टि की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। 'माया' का भी उल्लेख है परंतु आर्य दर्शन की ओर उन्मुख नहीं था। ऋग्वेद में इस प्रश्न पर विचार हुआ है कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई। प्रथम जन्मा कौन था, संभवतः 'सत्' प्रथम था जिसे इंद्र मित्र, वरुण, मातरिश्वन् आदि नामों से जाना गया। अद्वैतवाद के विकास के साथ ऋत् प्रधान हो गया। ऋग्वेद के अनुसार उषा, सूर्य आदि की स्थिति ऋत् के कारण ही है। ऋत् के विचार से यह भी स्पष्ट है कि अऋत् (पाप) का भी विचार आ गया था। परन्तु पुनर्जन्म का विचार स्पष्ट नहीं था। ब्रह्मांड की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद के अनुसार आकाश एवं पृथ्वी के मिलन से द्यावापृथ्वी का विकास हुआ। प्रजापति ने सृष्टि को निर्मित किया। तपस् (ऊष्मा) से ऋत् का जन्म हुआ, तत्पश्चात् सत्य, रात्रि, महासागर, संवत्सर, वर्ष आदि विकसित हुए।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. पृथ्वी स्थानीय देवता कौन–सा है?
   (क) अग्नि (ख) इंद्र
   (ग) रुद्र (घ) वरुण
2. देवताओं का गुरु किसको माना गया है?
   (क) रुद्र देवता को (ख) इंद्र देवता को
   (ग) बृहस्पति देवता को (घ) अग्नि देवता को
3. आकाश स्थानीय देवता कौन–सा है?
   (क) मरुत् (ख) सूर्य
   (ग) रुद्र (घ) अग्नि

3.3 उपनिषद् तथा उत्तरवैदिक कालीन धर्म एवं दर्शन

यहां उपनिषद् तथा उत्तरवैदिक कालीन धर्म व दर्शन का विस्तार से विवेचन किया जा रहा है–

उपनिषद्

'उपनिषद्' शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्ग तथा 'सद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। सद् के तीन अर्थ हैं–बैठना, नाश करना, शिथिल करना। अतः इस पूरे शब्द का अर्थ है शिष्य का गुरु के समीप परमतत्व के विषय में निष्ठापूर्वक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बैठना जो सभी संशयों को शिथिल करता है तथा अज्ञानता का नाश करता है। उपनिषद् हिन्दू धर्म के महत्वपूर्ण श्रुति ग्रंथ हैं। उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम एवं अभिन्न भाग हैं जिनमें हमें वैदिक चिन्तन का चरमोत्कर्ष मिलता है। इसी कारण उपनिषदों को 'वेदान्त' की संज्ञा दी जाती है। इनमें ब्रह्मविद्या एवं आत्मज्ञान वर्णित है। उपनिषदों की भाषा संस्कृत है तथा ये गद्य एवं पद्य दोनों में हैं।

उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त प्रत्ययवादी अद्वैतवाद अथवा अद्वैतवादी प्रत्ययवाद है। ये संहिता ग्रन्थों में बिखरे हुए अद्वैतवादी विचारों को विकसित करते हैं। ये कर्मकाण्डों तथा यज्ञों की आलोचना करते हैं। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं–पराविद्या एवं अपरा विद्या। पराविद्या के विषय कर्मकाण्ड हैं तथा अपरा विद्या का विषय शाश्वत ब्रह्म है। 'नेह नानास्ति किञ्चन्', सर्वं खलु इदम् ब्रह्म' (यहां कोई विभिन्नता नहीं है, यह सब कुछ ब्रह्म ही है)। परमतत्व के लिए यहां 'ब्रह्म' तथा 'आत्मा' दो शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा इनकी व्याख्या करने के पश्चात् दोनों का तादात्म्य स्थापित कर दिया गया है (अयम् आत्मा ब्रह्म, आत्मा एव ब्रह्म.....)। यही उपनिषदों का मुख्य उद्देश्य है।

आत्मा

आत्मा शब्द का मूल अर्थ 'श्वास' था तथा बाद में इसके अर्थ भावना, मन, प्राण आदि हो गए। आदि शंकराचार्य के अनुसार 'आत्मा वह तत्व है, जो सभी में व्याप्त है, जो

कर्ता है, जो विषयों को जानता है, उनका अनुभव करता है, उन्हें प्रकाशित करता है और जो शाश्वत तथा सदा एक समान रहता है'।

टिप्पणी

उपनिषदों में वर्णित है कि वैयक्तिक आत्मा और परम आत्मा, अंधकार और प्रकाश की भांति एक ही शरीर की हृदय गुहा में वास करते हैं। पहला जीव है और दूसरी आत्मा। जीव अपने कर्मों को अवश्य भोगता है। वह सुख और दुःख का अनुभव करता है। आत्मा कूटस्थ है। वह सुख दुःख से रहित है। आत्मा शरीर, मन, बुद्धि एवं इंद्रियों से भिन्न और परे है। वह जन्म और मरण से भी परे है। न तो उसका कभी जन्म होता है और न वह कभी मरता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। जीव की 4 अवस्थाएं हैं–जाग्रत् जीव, स्वप्न जीव, सुषुप्त जीव एवं तुरीय जीव। जीव को 5 कोषों या सूक्ष्म शरीरों में बांटा जा सकता है–अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष एवं आनंदमय कोष। उपनिषद् आत्मा और परमात्मा को एक ही मानते हैं। जब कुम्हार घड़ा निर्मित करता है तब आकाश का एक खंड उस घड़े में व्याप्त हो जाता है और जब घड़ा टूट जाता है तो उसी समय उसमें बंधा हुआ आकाश पुनः आकाश में विलीन हो जाता है। यही स्थिति शरीर और आत्मा की भी है। शरीर घड़ा है और घड़े के अंदर व्याप्त आकाश ही आत्मा है।

ब्रह्म

मूलतः ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति 'ब्रह्' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है– फूटना या विकसित होना। प्रारम्भ में इसका अर्थ यज्ञ, फिर प्रार्थना तथा अंत में वह परम तत्व हो गया जो स्वयं को सृष्टि के रूप में विकसित करता है। जिस प्रकार आत्मा व्यक्ति का सारभूत तत्व है उसी प्रकार ब्रह्म बाहरी जगत् का सारतत्व है। उपनिषदों में ब्रह्म को अज्ञेय कहा जाता है। ब्रह्म को सत् (सभी सत्ताओं का मूल), चित् (चैतन्यों का आधार) तथा आनन्द (सभी सुखों का मूल स्रोत) स्वीकार किया गया है। ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्द रूप है। उसे 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं' अर्थात् सत्य,ज्ञान तथा अनन्त कहा गया है। उपनिषदों में ब्रह्म से सम्बंधित दो रूप प्राप्त होते हैं–

(1) **सप्रपञ्च ब्रह्म**– इसके अंतर्गत ब्रह्म को सर्वव्यापी बताया गया है जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है। छान्दोग्य उपनिषद् उसका वर्णन 'तज्जलीन्' कहकर करता है। इसका अर्थ है तत् अर्थात् वह, ज अर्थात् संसार को उत्पन्न करता है, 'लि' अर्थात् पुनः अपने में लीन करता है तथा अन् अर्थात् उसका पोषण करता है। इसी प्रकार के विचार तैत्तिरीय उपनिषद् में भी मिलते हैं।

(2) **निष्प्रपञ्च ब्रह्म**– इसका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी के संवाद में प्राप्त होता है। यहां याज्ञवल्क्य मुनि ब्रह्म की सत्ता का निषेधात्मक वर्णन करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि परम–तत्व मनुष्य की बुद्धि से परे है। यहां परमतत्व की कल्पना ज्ञानातीत सत्ता के रूप में की गई है।

सांसारिक या लौकिक दृष्टि से विचार करने पर ब्रह्म सप्रपञ्च है किन्तु अलौकिक या आध्यात्मिक दृष्टि से वह निष्प्रपञ्च है। दोनों विचार एक ही ब्रह्म के अन्तर्यामी तथा बहिर्यामी स्वरूप के द्योतक हैं।

टिप्पणी

ब्रह्म और आत्मा सम्पूर्ण भारतीय दर्शन के दो आधार स्तम्भ हैं। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इनके ऊपर विचार–विमर्श एवं शोध किया है तथा इन्हें भिन्न–भिन्न ढंग से वर्णित करने का प्रयास किया है।

ब्रह्म तथा आत्मा का तादात्म्य

अपने चिन्तन के चरमोत्कर्ष पर औपनिषदिक ऋषियों ने ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते हुए कहा–'तत् त्वम् असि, अयम् आत्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि'। इस प्रकार व्यक्ति के सारभूत तत्व का समीकरण बाहरी जगत् के सारभूत तत्व के साथ स्थापित किया गया। हिरियन्ना के शब्दों में यह बाह्य जगत् को व्यक्ति के रूप में व्यक्त करने का प्रयास था।

ब्रह्म और आत्मा के तादात्म्य का सुन्दर वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक तथा उसके पुत्र श्वेतकेतु के संवाद में मिलता है। उद्दालक अपने पुत्र से 'सत्' का वर्णन इस प्रकार करते हैं–'आदि में केवल सत् ही था। उसका संकल्प हुआ 'मैं अनेक होऊं। उससे सर्वप्रथम तीन तत्व–अग्नि, जल तथा पृथ्वी उत्पन्न हुए, फिर दूसरे तत्व तथा अन्ततोगत्वा मनुष्य समेत विभिन्न जीव उत्पन्न हुए।' इस वर्णन के पश्चात् उद्दालक अपने पुत्र से कहते हैं कि 'हे श्वेतकेतु वह (सत्) तुम्ही हो' (तत् त्वमसि श्वेतकेतु)। इस प्रकार यहां आत्मा का तादात्म्य ब्रह्म के साथ किया जाता है। यही आत्मसाक्षात्कार मोक्ष है।

जगत् तथा माया

'माया'(या भ्रम) के बीज भी हमें उपनिषदों में ही मिलते हैं। इसे कहीं–कहीं अविद्या भी कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर को 'मायिन्' कहा गया है जो अपनी शक्ति के द्वारा इस संसार की रचना करता है। उपनिषद् के कुछ वाक्यों से ज्ञात होता है कि उपनिषदों में संसार को विवर्त (आभास) मानने का विचार विकसित हो चुका था। उपनिषदों के अनुसार सृष्टि में आत्मा या ब्रह्म के अलावा जो कुछ भी है वह नाम रूपात्मक है। यहां कोई नानात्व या विभिन्नता नहीं है। नानात्व माया या अविद्या का प्रपञ्च है। नानात्व देखने वाले पुनः–पुनः जन्म–मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं। संसार बन्धन स्वरूप है।

मोक्ष

उपनिषदों में आनन्द की स्थिति को ही मोक्ष की स्थिति कहा गया है, क्योंकि आनन्द में सारे द्वंद्वों का विलय हो जाता है। उपनिषदों के अनुसार आत्म साक्षात्कार या ज्ञान ही मोक्ष है जिसमें भव–बंधन से मुक्ति मिल जाती है। आत्म–ज्ञान को 'अपराविद्या' कहा गया है। यही मोक्ष का एकमात्र साधन है। आत्मज्ञान के उपाय श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन हैं। सच्चे ज्ञान की पहली अवस्था वैराग्य है जिसके उत्पन्न हुए बिना इसकी प्राप्ति संभव नहीं हो सकती। स्वयं को शान्त, संयमित तथा नियंत्रित कर लेने के बाद व्यक्ति को आत्म–निरीक्षण करना चाहिए। इसके पश्चात् उसे किसी योग्य गुरु के पास जाकर उपनिषदों का अध्ययन (श्रवण) करना चाहिए। गुरु उसे आत्मज्ञान कराता है। इसके पश्चात् पुनः पुनः उसका मनन तथा ध्यान करते हुए व्यक्ति अन्ततोगत्वा अपनी आत्मा का साक्षात्कार करके 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' की अनुभूति कर लेता है। यही उपनिषदों का मोक्ष है।

टिप्पणी

उपनिषद् मोक्ष प्राप्ति के लिए यज्ञों तथा कर्मकाण्डों में विश्वास नहीं करते और स्पष्ट शब्दों में उनकी निन्दा भी करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है– "यज्ञ टूटी नौकाओं के सदृश है तथा उनके कर्म तुच्छ हैं। जो मूढ़ इन्हें श्रेयस्कर मानकर इनका अनुसरण करते हैं वे पुनः–पुनः जन्म–मरण के चक्र में फंसते जाते हैं।" आत्म–ज्ञान (ब्रह्म–ज्ञान) हो जाने पर शोक–मोह नहीं रह जाता। संसार के सारे बंधन, संदेह तथा कर्म नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में जीव अमरत्व, आनन्द, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति कर लेता है। मोक्ष प्राप्त करने पर व्यक्ति आप्तकाम तथा कृतकृत्य हो जाता है। यह परमानन्द की अवस्था है। संसार में जो कुछ भी सुख दिखाई पड़ता है वह इसी परमानन्द का अल्पांश है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखित है कि आत्म–ज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है तथा कुछ भी ज्ञेय नहीं रह जाता है। आत्मज्ञानी उसी प्रकार संसार से अलिप्त रहता है जैसे सर्प अपनी केंचुल से। ऐसे जीवन्मुक्त व्यक्ति दूसरों के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का प्रचार करते हैं। जीवन्मुक्ति में भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है तथा उसका पुनः जन्म नहीं होता।

उपनिषदों का महत्व

उपनिषद् मानव बुद्धि के उत्पाद नहीं हैं। उपनिषद् प्रामाणिक और आधिकारिक हैं, क्योंकि वे वेदों की महिमा को साझा करते हैं। उपनिषदों में ऋषि–मुनियों ने अपने जीवन में अर्जित ज्ञान और अनुभव का सार दिया है। साहित्य के क्षेत्र में उपनिषदों का महत्व सर्वोपरि है। जीवन के सभी आध्यात्मिक, दार्शनिक विचार और चिन्तन उपनिषदों में निहित हैं। उपनिषदों से प्राप्त ज्ञान सदैव शाश्वत और सनातन है। यह जीवन के लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग है। जनसाधारण के लिए उपनिषद् अज्ञानता को दूर करने के लिए ऋषियों द्वारा रचित किया गया ग्रन्थ है। इसीलिए उपनिषदों का महत्व, जन–कल्याण का प्रतीक है।

मानव चिन्तन के इतिहास में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मैक्समूलर के अनुसार इनमें चिन्तन का चरमोत्कर्ष है। जर्मन दार्शनिक शोपेनहार के शब्दों में 'समस्त संसार में अन्य किसी ग्रन्थ का अध्ययन इतना कल्याणकारी एवं शान्तिदायक नहीं है जितना कि उपनिषदों का। यही मेरे जीवन की शान्ति रही है, यही मेरी मृत्यु की भी शान्ति होगी।'

उपनिषदों में वर्णित दार्शनिक विचारों की व्याख्या तथा उनका विकास कालान्तर में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा किया गया। उपनिषद् तो भारतीय दर्शन के मूल ही हैं। ब्लूमफील्ड के अनुसार, "हिन्दू विचारधारा की कोई भी ऐसी पद्धति नहीं है, (नास्तिक बौद्ध दर्शन को लेकर भी) जिसकी जड़ उपनिषदों में न हो। डॉ. आर रानाडे के शब्दों में "उपनिषद् ऐसे उत्कृष्ट दर्शन का निर्माण करते हैं जो विभिन्न दिशाओं से भिन्न–भिन्न विचारों को जन्म देते हैं। जैसे–जैसे ये विचार जीवन के समुद्र की ओर बढ़ते हैं, अनेक कल्पनाएं इनमें मिलती जाती हैं और जीवन समुद्र तक पहुंचकर ये विचारों के अगाध सागर का निर्माण कर देते है।"

कालान्तर में हम पाते हैं कि बादरायण द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद् दर्शन का ही विकास करते हैं। वेदान्त के भिन्न–भिन्न सम्प्रदाय इसी की व्याख्या करते हैं। जैन संप्रदाय का कर्म–सिद्धान्त, बौद्धों का क्षणिकवाद, अद्वैत का अज्ञान, कर्म आदि सिद्धान्त, सांख्य की प्रकृति, पुरुष तथा गुणों का सिद्धान्त, योग का ध्यान

एवं धारणा सिद्धान्त तथा मीमांसा का कर्म सिद्धान्त आदि सभी उपनिषदों से ही ग्रहण किए गए हैं।

उत्तरवैदिक कालीन धर्म एवं दर्शन

टिप्पणी

उत्तरवैदिक काल में दैव मंडल के अंतर्गत विद्यमान देवों में एकीकरण के प्रयास जारी रहे। एकरूपता खोजने के साथ ही देवों के उत्थान एवं पतन का युग भी प्रारंभ हुआ। ऋग्वेद के प्रमुख देवता उत्तरवैदिक काल में गौण स्तर के देवता बन गए। अब धर्म संस्कारों और अनुष्ठानों के जाल में फंस गया। प्रकृति की पूजा में कमी के कारण नए देवी–देवताओं का उदय हुआ। पहले के युग की विलक्षण सादगी हमेशा के लिए खो गई थी। ब्राह्मण अभिन्न और अपरिहार्य थे। ब्राह्मणों की इस काल में उत्पादन व्यवस्था में कोई भूमिका नहीं थी, इसलिए समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उन्होनें बड़े–बड़े यज्ञ करने आरम्भ कर दिए। उत्तर–वैदिक युग में एक नए बौद्धिक विचार का उदय हुआ। लोगों ने सृजन, जीवन और मृत्यु की समस्याओं के बारे में गहराई से सोचा और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ब्रह्मांड से परे एक ब्रह्म '(एक अपरिवर्तनीय सिद्धांत) पूरे क्रम का निर्माता और नियंत्रक है।

नए देवताओं का उदय

ऋग्वैदिक देवताओं, वरुण, इंद्र, अग्नि, सूर्य, उषा आदि ने अपना आकर्षण खो दिया था। लोग कम जोश के साथ उनकी पूजा करते थे। नए देवता जैसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव इस काल में प्रकट हुए। ऋग्वैदिक देवताओं की भव्यता गुमनामी में बदल गई, हालांकि हम अथर्ववेद में वरुण की सर्वज्ञता या पृथ्वी देवी के लाभ को पाते हैं।

ऋग्वैदिक काल के कुछ कम महत्वपूर्ण देवता अब आम लोगों में लोकप्रिय हो गए। उनमें से एक रुद्र थे जिन्हें पहले ही शिव का गुण–सूचक नाम दिया गया था। शीघ्र ही रुद्र को 'महादेव' (महान देवता) और चेतन प्राणियों के स्वामी (पशुपति) के रूप में पूजा जाने लगा। इस अवधि के दौरान विष्णु प्रमुख बने। उन्होंने वरुण के स्थान पर कब्जा कर लिया, जो खगोलीय घटनाओं में सबसे उदात्त थे। अपने 'परमपद' (सर्वोच्च पद) को प्राप्त करना ऋषियों का लक्ष्य बन गया। वासुदेव की पूजा भी शुरू हो गई थी। उन्हें विष्णु के अवतार, कृष्ण वासुदेव के रूप में माना जाता था। अर्ध परमात्मा जैसे– अप्सरा, नाग, गंधर्व, विद्याधर आदि भी अस्तित्व में आए। इस युग में दुर्गा और गणेश की भी पूजा की शुरुआत देखी गई।

पुरोहितवाद

उत्तरवैदिक ग्रंथ अनुष्ठानों के सुसम्पादन को स्पष्ट करते हैं तथा जो जटिल थे उनको सम्पन्न करने के लिए ऐसे व्यावसायिक लोगों की आवश्यकता थी जो उनके आयोजनों की कला में निपुण हों। बलि यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए विधि या नियमों को रचा गया। वैदिक बलि यज्ञों का यह तात्पर्य नहीं था कि खाद्य सामग्री को अग्नि की भेंट चढ़ाकर साधारण तरीके से उनको सम्पन्न किया जा सके। भेंट चढ़ाने एवं बलि आदि देने के तरीकों में संरक्षक या यजमान की आवश्यकता के अनुसार अन्तर किया जाता। अब बलि यज्ञों को अदृश्य प्रतीक से सम्पन्न किया जाता और प्रत्येक अनुष्ठान को किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा सम्पन्न किया जाने लगा। पुरोहितवाद की एक नई पद्धति का उदय हुआ क्योंकि इन यज्ञों के सम्पादन में बहुत सी जटिलताएं आ गई थी

फिर चाहे वह सार्वजनिक यज्ञ हो या व्यक्तिगत। इस प्रकार यज्ञोपासना करने के लिए पुजारियों का एक वर्ग विशेषज्ञ हो गया। यहां तक कि एक ही यज्ञ के दौरान उसके विभिन्न चरण पूरे करने के लिए अलग–अलग पुरोहितों की आवश्यकता होती थी।

टिप्पणी

अनुष्ठान और बलि

इस अवधि के दौरान वैदिक धर्म के संस्कार और समारोह विस्तृत तथा जटिल हो गए थे। ऋग्वैदिक युग में यज्ञ एक साधारण कर्म था जो प्रत्येक गृहस्थ कर सकता था। लेकिन उत्तरवैदिक युग में बलिदान पूजा में एक आवश्यक अंग बन गया था। अब पुजारी वर्ग ने अपनी ऊर्जा को संस्कारों तथा समारोहों के छिपे और गूढ़ अर्थ का पता लगाने के लिए समर्पित किया।

लोगों का यह दृढ़ विश्वास था की यदि यज्ञ को विधिपूर्वक किया जाए तो देवता वांछित फल देते हैं। वैदिक मंत्रों को यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले आकर्षण के रूप में माना जाता था। यज्ञों द्वारा देवताओं को संतुष्ट किए जाने के विश्वास के कारण इनकी संख्या में वृद्धि हुई। प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनेक यज्ञ एवं बलिदान निर्धारित किए गए। वास्तव में प्रत्येक आर्य ने ब्राह्मण पुजारी की देखरेख में कई बलिदान किए।

नैतिकता और कर्तव्य

उत्तरवैदिक काल में धार्मिक आचरण की एक संहिता निर्धारित की गई। ब्राह्मणों ने यह विश्वास फैलाया था कि मनुष्य का जन्म कुछ ऋणों के साथ होता है जिसे उसे अपने जीवन में चुकाना होगा। उसे अपने देवताओं, ऋषियों–मुनियों, पुरुषों, पूर्वजों और निम्न प्राणियों का ऋण चुकाना है। यदि वह देवताओं की पूजा करता है, यज्ञ करता है, वेदों का अध्ययन करता है, अंतिम संस्कार, समारोह और श्राद्ध करता है तो वह इन ऋणों से स्वयं को मुक्त करता है। इन सभी कर्तव्यों को निस्वार्थ भाव से करना चाहिए। एक अच्छे जीवन की पहली आवश्यकता प्रार्थना और अच्छे कार्य थे। चोरी, व्यभिचार और हत्या जैसे पापों से खुद को बचाना चाहिए।

तपस्वी जीवन

उत्तरवैदिक काल के लोगों ने जीवन के संन्यासी आदर्श की अवधारणा विकसित की क्योंकि संस्कार और अनुष्ठान इस संसार में सफलता अर्जित करने या स्वर्ग में आनंद प्राप्त करने का एकमात्र साधन नहीं थे। इसलिए वहां तपस्या और ब्रह्मचर्य के विचारों को विकसित किया गया जिससे एक ही या उससे भी अधिक महत्वपूर्ण परिणाम सामने आएं। तप का अर्थ है, शारीरिक यातनाओं के साथ ध्यान लगाना।

एक तपस्वी व्यक्ति अपने सांसारिक जीवन को त्याग देता है और एकांत में सेवानिवृत्त हो जाता है। वह सभी तपस्वी प्रथाओं का प्रयोग केवल स्वर्ग की प्राप्ति के लिए नहीं करता बल्कि 'रहस्यवादी, असाधारण और अतिमानवीय संकाय' को विकसित करने के लिए भी करता है। महाकाव्य काल में ताप का प्रयोग व्यापक रूप से किया गया था।

धार्मिक दर्शन

उत्तरवैदिक काल में एक नई धार्मिक विचारधारा का उद्‌भव देखा गया। सृजन, जीवन और मृत्यु की समस्याओं के बारे में लोगों ने गहराई से सोचा और इस निष्कर्ष पर

पहुंचे कि ब्रह्मांड से परे एक 'ब्रह्म' है जो सृष्टि का निर्माता एवं संरक्षक है।

ब्रह्म एक सार्वभौमिक एवं अमर आत्मा है जो सबके भीतर वास करती है और दिशा–निर्देश देती है। एक व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी आत्मा दूसरे शरीर में और फिर से किसी दूसरे शरीर में चली जाती है। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि उसे उसकी सभी कमियों से मुक्त नहीं किया जाता। उसका सार्वभौमिक आत्मा में विलय कर दिया जाता है। यह आत्माओं के संचरण का सिद्धांत है।

टिप्पणी

आर्यों को भी कर्म के सिद्धांत में विश्वास था। ये कहते हैं कि सभी कार्य, अच्छे या बुरे, अपने उचित फल प्रदान करते हैं। आत्माओं को बार–बार जन्म लेना पड़ता है और अपने पिछले जन्मों के कर्मों (कर्म) का फल भोगना पड़ता है। ऐसे ही 'मोक्ष' का सिद्धांत भी है। यह, वह अजन्म और मृत्यु की अवस्था है जब एक आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाती है और सार्वभौमिक आत्मा में मिल जाती है। मनुष्य के लिए मोक्ष प्राप्त करना आवश्यक था। यह सभी उपनिषदों में सन्निहित है जो उत्तरवैदिक काल में रचे गए थे।

अपनी प्रगति जांचिए

4. ज्ञान के दो प्रकार परा और अपरा विद्या किस उपनिषद् में वर्णित हैं?
   (क) ईशावास्योपनिषद् (ख) ऐतरेयोपनिषद्
   (ग) मुण्डकोपनिषद् (घ) प्रश्नोपनिषद्
5. उपनिषदों में ब्रह्म के कौन–से दो रूप प्राप्त होते हैं?
   (क) नश्वर और अनश्वर (ख) सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च
   (ग) सत्य और असत्य (घ) जीवन और मृत्यु
6. उपनिषदों में आनन्द की स्थिति को क्या कहा गया है?
   (क) जीवन (ख) मृत्यु
   (ग) प्रसन्नता (घ) मोक्ष

3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (ख)
4. (ग)
5. (ख)
6. (घ)

टिप्पणी

3.5 सारांश

ऋग्वैदिक आर्यों का जीवन धर्ममय था। जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं था जिस पर धर्म की गहरी छाप न हो। ऋग्वेद में मौलिक रूप से देवताओं की संख्या 33 बताई गई है, परन्तु कई स्थानों पर तैंतीस से अधिक देवताओं का वर्णन मिलता है। संभवतः आर्यों में प्रकृति पूजन से ही प्रकृति को देवता मानने का विकास हुआ। ऋग्वैदिक आर्यों का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन जितना सरल था, धार्मिक जीवन उतना ही अधिक विशद तथा जटिल। ऋग्वैदिक देवों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है–पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश। पृथ्वी के देवता पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, नदियां व अन्य माने गए हैं। अंतरिक्ष के देवताओं में इंद्र, त्रित आपात्य, आपम् नापत्, मातरिश्वन्, अज एकपाद, रुद्र, मरुत्, वायु–वात, पर्जन्य तथा आप या अपह सम्मिलित हैं। वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, आदित्य, उषा, अश्विन, विवस्वत और द्यौ आकाश के देवता माने जाते हैं। पृथ्वी के देवताओं में अग्नि का महत्व सबसे अधिक था। अग्नि को सूर्य का ही रूप कहा गया है। अग्नि के बाद सोम महत्वपूर्ण थे। यह देवताओं का प्रमुख पेय भी था जिसमें देवत्व का आरोपण किया गया। वह आनन्द तथा प्रफुल्लता के देवता कहलाए। बृहस्पति को देवताओं का गुरु माना गया है। इन्द्र युद्ध और वर्षा के देवता हैं। ये ऋग्वेद के सबसे प्रमुख देवता हैं जिनकी स्तुति को 250 सूक्त समर्पित हैं। ऋग्वेद में मरुत् ऊँचे स्थान पर हैं। रुद्र के पुत्र होने के कारण उन्हें रुद्रीय भी कहा जाता है। वरुण एक हिंद–यूरोपीय आर्य देवता हैं। इनको आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता कहा गया है। वरुण का कार्य 'ऋत्' या नैतिक नियमों को स्थापित करना है। वे विश्व में होने वाली प्रत्येक घटना को जानते हैं। सौर देवों में सूर्य सर्वप्रथम देवता हैं। इनको अन्धकार दूर कर रोशनी फैलाने वाला माना गया है। सवितृ भी सूर्य का ही प्रतिरूप हैं। ऋग्वेद का प्रसिद्ध गायत्री मंत्र सवितृ को ही समर्पित है। विष्णु का भी संबंध सूर्य के परिवार से ही है। उषा प्रातःकालीन बेला का मानवीकरण प्रतीत होती है। वह 'प्रभात की देवी' कहलाती थीं। अश्विन या नासत्य का देवताओं के युग्म रूप में चित्रण मिलता है। अश्विन देवों का ऋग्वैदिक काल में मुख्य कार्य वैद्य का है। इन देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वैदिक काल में धात्र, विश्वकर्मा, श्रद्धा, अदिति व अन्य देवी–देवताओं का वर्णन मिलता है। देवियों में सबसे अधिक महत्व अदिति को प्रदान किया गया, जिसे सम्पूर्ण देव जगत में महान, आदित्यों एवं सब देवों की माता की संज्ञा प्रदान की गई है। आर्यों ने सुख की प्राप्ति तथा हानिकारक शक्तियों से बचने के लिए कर्मकांडों का विकास किया। ऋग्वेद में अग्नि एवं सोम कर्मकांडों के दो प्रमुख अंग थे। ये कर्मकांड समाज, विवाह, जन्म, मृत्यु आदि से संबंधित थे। यजुर्वेद में कर्मकांडों का विकास हुआ तथा ऋग्वेद की साधारण यज्ञ पद्धति को त्याग दिया गया जिसमें परिवार का मुखिया स्वयं होत्र के रूप में कार्य करता था एवं उसे मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं थी। ऋग्वैदिक आर्यों के दर्शन सम्बन्धी विचार अधिक स्पष्ट नहीं हैं। वैदिक काल के अन्त में पुरोहितों के वर्चस्व, पन्थों और अनुष्ठानों के प्रभाव का पुरजोर विरोध हुआ, विशेष रूप से पांचाल और विदेह की धरती पर, जहां 600 ई.पू. के आस–पास उपनिषदों का संकलन हुआ। 'उपनिषद्' शब्द 'उप', और 'नि' उपसर्ग तथा 'सद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। सद् के तीन अर्थ हैं–बैठना, नाश करना, शिथिल करना। अतः इस पूरे शब्द का अर्थ है शिष्य का गुरु के समीप परमतत्व के

टिप्पणी

विषय में निष्ठापूर्वक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बैठना जो सभी संशयों को शिथिल करता है तथा अज्ञानता का नाश करता है। उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त प्रत्ययवादी अद्वैतवाद अथवा अद्वैतवादी प्रत्ययवाद है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार ज्ञान के दो प्रकार हैं–पराविद्या एवं अपरा विद्या। पराविद्या के विषय कर्मकाण्ड हैं तथा अपरा विद्या का विषय शाश्वत ब्रह्म है। आत्मा शब्द का मूल अर्थ 'श्वास' था तथा बाद में इसके अर्थ भावना, मन, प्राण आदि हो गए। उपनिषदों में वर्णित है कि वैयक्तिक आत्मा और परम आत्मा, अंधकार और प्रकाश की भांति एक ही शरीर की हृदय गुहा में वास करते हैं। पहला जीव है और दूसरी आत्मा। जीव अपने कर्मों को अवश्य भोगता है। वह सुख और दुःख का अनुभव करता है। आत्मा कूटस्थ है। वह सुख दुःख से रहित है। मूलतः ब्रह्म शब्द की उत्पत्ति 'ब्रह्' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है– फूटना या विकसित होना। ब्रह्म को सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप स्वीकार किया गया है। उपनिषदों में ब्रह्म से सम्बंधित दो रूप प्राप्त होते हैं– सप्रपञ्च ब्रह्म एवं निष्प्रपञ्च ब्रह्म। आत्मा का तादात्म्य ब्रह्म के साथ किया जाता है। सारभूत तत्व का समीकरण बाहरी जगत् के सारभूत तत्व के साथ स्थापित किया गया। 'माया' (या भ्रम) के बीज भी हमें उपनिषदों में ही मिलते हैं। इसे कहीं–कहीं अविद्या भी कहा गया है। उपनिषदों में आनन्द की स्थिति को ही मोक्ष की स्थिति कहा गया है, क्योंकि आनन्द में सारे द्वंद्वों का विलय हो जाता है। उपनिषद् मोक्ष प्राप्ति के लिए यज्ञों तथा कर्मकाण्डों में विश्वास नहीं करते तथा स्पष्ट शब्दों में उनकी निन्दा भी करते हैं। जनसाधारण के लिए उपनिषद् अज्ञानता को दूर करने के लिए ऋषियों द्वारा रचित ग्रंथ हैं। इसीलिए उपनिषदों का महत्व, जन–कल्याण का प्रतीक है। ऋग्वेद के प्रमुख देवता उत्तरवैदिक काल में गौण स्तर के देवता बन गए। नए देवता जैसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव इस काल में प्रकट हुए। अब धर्म संस्कारों और अनुष्ठानों के जाल में फंस गया। प्रकृति की पूजा में कमी के कारण नए देवी–देवताओं का उदय हुआ। इस काल में पुरोहितवाद की एक नई पद्धति का उदय हुआ। एक ही यज्ञ के दौरान उसके विभिन्न चरण पूरे करने के लिए अलग–अलग पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। उत्तरवैदिक युग में बलिदान पूजा में एक आवश्यक कार्य बन गया। प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनेक यज्ञ एवं बलिदान निर्धारित किए गए। उत्तरवैदिक काल में धार्मिक आचरण की एक संहिता निर्धारित की गई। इस काल के लोगों ने जीवन के संन्यासी आदर्श की अवधारणा विकसित की। तपस्या और ब्रह्मचर्य के विचारों को विकसित किया गया। उत्तरवैदिक काल में एक नई धार्मिक विचारधारा का उद्भव देखा गया। सृजन, जीवन और मृत्यु की समस्याओं के बारे में लोगों ने गहराई से सोचा और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ब्रह्मांड से परे एक 'ब्रह्म' है जो सृष्टि का निर्माता एवं संरक्षक है।

3.6 मुख्य शब्दावली

- **असुर** : एक दानव या दुष्ट।
- **आर्य** : कुलीन।
- **गायत्री मंत्र** : हिंदू धर्म में एक प्रतिष्ठित मंत्र, जो यजुर्वेद में पाया गया है।
- **सरस्वती** : विद्या की देवी और ब्रह्मा की पत्नि।
- **यज्ञ** : देवों या कभी–कभी सर्वोच्च आत्मा ब्राह्मण को प्रसन्न करने के लिए बलिदान का एक वैदिक अनुष्ठान।

टिप्पणी

- **यम** : हिंदू धर्म में मृत्यु का स्वामी।
- **अपरा विद्या** : लौकिक या पदार्थ विद्या को अपरा विद्या कहते हैं।
- **ब्रह्माण्ड** : सम्पूर्ण अंतरिक्ष और उसकी अंतर्वस्तु को ब्रह्माण्ड कहते हैं।
- **पराविद्या** : इससे तात्पर्य स्वयं को जानने (आत्मज्ञान) या परम सत्य को जानने से है।
- **प्रत्ययवाद** : एक दार्शनिक सिद्धांत जिसमें यह माना जाता है कि हमारा समस्त ज्ञान विचारों से उत्पन्न है, भौतिक जगत् के पदार्थों से नहीं।
- **ऋषि** : आध्यात्मिक दृष्टि से बुद्धिमान व्यक्ति। विशेष रूप से, सात द्रष्टाओं में से एक जिन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ था।

3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. प्रारंभिक अथवा ऋग्वैदिककालीन देवताओं का उल्लेख कीजिए।
2. ऋग्वैदिक काल के पृथ्वी के देवताओं पर प्रकाश डालिए।
3. ऋग्वैदिक काल के आकाश के देवताओं का वर्णन कीजिए।
4. ऋग्वैदिककालीन कर्मकांडों की व्याख्या कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. ऋग्वैदिक काल के दर्शन के विकास पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
2. उपनिषदों से आपका क्या अभिप्राय है? इनके मुख्य सिद्धांतों का उल्लेख कीजिए।
3. उपनिषदों में वर्णित आत्मा तथा ब्रह्म के विचारों की समीक्षा कीजिए।
4. उपनिषदों के महत्व को विस्तार से प्रतिपादित कीजिए।
5. उत्तरवैदिक कालीन धर्म एवं दर्शन की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

   (क) जगत् तथा माया

   (ख) मोक्ष

   (ग) धार्मिक दर्शन

3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. आर्थर लेवेलिन बाशम, 1989, "ऑरिजन्स एंड डेवलपमेन्ट ऑफ क्लासिकल हिंदुइज्म", ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. गैविन डी फ्लड, 1996, "एन इंट्रोडक्शन टु हिंदुइज्म", कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

3. एक्सल माइकल्स, 2004, "हिंदुइज्म : पास्ट एंड प्रेजेंट", न्यू जर्सी प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
4. हेनरिक जिमर, 1989, "इंडियन फिलोसोफीज", प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
5. मार्क विलियम मुसे, 2003, "हिंदुइज्म", ग्रेट वर्ल्ड रिलीजंस।
6. डॉ. एस.राधाकृष्णन, 1951, "प्रिंसिपल उपनिषदस" जॉर्ज एलन एंड कंपनी।
7. स्टीफन फिलिप्स, 2009, "योग, कर्म एंड रिबर्थ : ए ब्रीफ हिस्ट्री एंड फिलॉस्फी", कोलंबिया विश्वविद्यालय प्रेस।
8. पैट्रिक ओलिवेल, 2014, "द अर्ली उपनिषद्स", ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. कॉन्स्टेंस जोन्स, 2007, "इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दुइज्म" न्यूयॉर्क इन्फोबेस प्रकाशन।

टिप्पणी

इकाई 4 धार्मिक संप्रदाय एवं उनका दर्शन

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 वैष्णववाद की उत्पत्ति एवं विकास
4.3 शैववाद की उत्पत्ति एवं विकास
4.4 दक्षिण भारत के आलवार और नयनार
4.5 शाक्त धर्म एवं दर्शन तथा तंत्रवाद के सिद्धांत
4.6 सौर संप्रदाय
4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.8 सारांश
4.9 मुख्य शब्दावली
4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

4.0 परिचय

वैष्णववाद हिंदू धर्म का एक संप्रदाय है जिसके अंतर्गत भगवान विष्णु या उनके एक अवतार को सर्वोच्च भगवान के रूप में पूजा जाता है। वैष्णववाद के सदस्यों को वैष्णव कहा जाता है। यह सबसे बड़ा हिंदू संप्रदाय है तथा इसके अनेक उपखंड हैं। वेदों के अतिरिक्त, वैष्णव संप्रदाय के लोग विशेष रूप से भगवद्गीता, भागवत पुराण, विष्णु संहिता और गीत गोविंद का सम्मान करते हैं। ये ग्रंथ विशेष रूप से भगवान विष्णु या उनके अवतार भगवान कृष्ण और भगवान राम पर केंद्रित हैं। वैष्णववाद मुख्य रूप से अपने दर्शन में एकेश्वरवादी है, परन्तु अनन्य नहीं है। वैष्णववाद को भक्ति आंदोलन के एक भाग के रूप में भी देखा जाता है। वैष्णवों की मान्यताएं और प्रथाएं, विशेष रूप से भक्ति और भक्ति योग की अवधारणाएं, मुख्य रूप से उपनिषदों पर आधारित हैं और वेद तथा पुराण ग्रंथों से सम्बंधित हैं। भगवान विष्णु ने धर्म की रक्षा हेतु प्रत्येक काल में अवतार लिया। वैसे तो उनके अनेक अवतार हुए हैं लेकिन उनमें 10 अवतार ऐसे हैं, जो प्रमुख रूप से स्थान पाते हैं।

भगवान शिव तथा उनके अवतारों को मानने वालों को शैव और शिव से संबंधित धर्म को शैववाद या शैवधर्म कहा जाता है। शैव धर्म हिंदू धर्म के अंदर प्रमुख परंपराओं में से एक है जो भगवान शिव की पूजा करता है, जिसे रुद्र भी कहा जाता है। सर्वोच्च के रूप में यह दुनिया का सबसे पुराना जीवित धर्म माना जाता है। सबसे बड़े हिंदू संप्रदायों में से एक, इसमें भक्तिपरक द्वैतवाद आस्तिकता से लेकर शैव सिद्धान्त जैसे योग–उन्मुख अद्वैतवाद जैसे कि कश्मीरी शैववाद जैसी कई उप परंपराएं शामिल हैं। यह वेदों और आगम ग्रंथों दोनों को धर्मशास्त्र का महत्वपूर्ण स्रोत मानता है।

शैववाद आर्य धर्मों और परंपराओं के मिश्रण के रूप में विकसित हुआ, जिसे गैर–वैदिक शिव–परंपरा में आत्मसात किया गया था। पिछली शताब्दियों में आर्य परंपराओं के शुरू होने से हिंदू धर्म के संस्कृतीकरण और निर्माण की प्रक्रिया में,

वैदिक–देवता रुद्र और अन्य वैदिक देवताओं के साथ गठबंधन हो गया, जिसमें वैदिक–ब्राह्मणवाद में गैर–वैदिक शिव–परंपराओं का समावेश था।

टिप्पणी

शैव धर्मशास्त्र शिव के सृष्टिकर्ता, संरक्षक, और विध्वंसक होने के नाते स्वयं और प्रत्येक जीवित प्राणी के भीतर आत्मा के समान है। यह शक्तिवाद से निकटता से संबंधित है और कुछ शैव, शिव और शक्ति दोनों मंदिरों में पूजा करते हैं। यह हिंदू परंपरा है जो ज्यादातर तपस्वी जीवन को स्वीकार करती है और योग पर जोर देती है तथा अन्य हिंदू परंपराओं की तरह एक व्यक्ति को खोजने और शिव के साथ एक होने के लिए प्रोत्साहित करती है।

प्रारंभिक भक्ति आंदोलन (लगभग छठी शताब्दी) आलवारों और नयनारों के नेतृत्व में हुआ। वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए तमिल में अपने ईष्ट की स्तुति में भजन गाते थे। आलवार और नयनार संतों ने दक्षिण भारत में वैष्णव और शैव भक्ति को एक नया आयाम प्रदान किया। हमें दक्षिण भारत में भक्ति के कुछ प्रमाण संगम काव्य से प्राप्त होते हैं। वैष्णव संतों को आलवार तथा शैव संतों को नयनार के नाम से जाना गया। आलवार संतों की संख्या 12 तथा नयनार संतों की संख्या 63 थी। आलवार संत भक्ति आन्दोलन के जन्मदाता माने जाते हैं। दक्षिण में भक्ति की पताका को इन आलवारों ने बहुत ऊंचा फहराया। इनकी वाणी जन–जन की वाणी बन गई। इन संतों के गीतों को आज भी देवालयों में गाया जाता है और इनकी पूजा की जाती है। इस परंपरा की शुरुआत चोल काल में हो चुकी थी। दक्षिण भारत में जिस प्रकार वैष्णव भक्तों में अलवार भक्तों की शृंखला चली उसी तरह शैव भक्तों में उन्हीं दिनों नयनार भक्तों की शृंखला चली।

शाक्त संप्रदाय हिन्दू धर्म के तीन प्रमुख संप्रदायों में से एक है। देवी की सृष्टि निर्मात्री एवं शक्तिपुंज मानकर आराधना शाक्त पूजा कहलाती है। शक्ति का तात्पर्य देवी से है तथा किसी देव को .र्जा प्रदान करने वाली शक्ति से है। देवी पूजा का प्रारंभ पाषाणकालीन संस्कृति में विकसित हुआ। गार्डन चाइल्ड के अनुसार सांस्कृतिक विकास के प्रारंभ में कृषि, मृद्भांड, पशुपालन आदि का विकास स्त्रियों के द्वारा ही हुआ। इस कारण से उसे अभूतपूर्व शक्ति की स्वामिनी माना गया है। उसके योगदान के कारण ही प्रारंभिक समाज का स्वरूप मातृसत्तात्मक था तथा मातृदेवी सबसे प्रचलित पूजा थी। शक्ति की यह परंपरा सभी प्रारंभिक सभ्यताओं में प्राप्त होती है।

सौर अर्थात सूर्य की उपासना करने वाला संप्रदाय सौर कहलाता है तथा इस पंथ को सौर पंथ कहा जाता है। सौर संप्रदाय वैदिक काल से ही विद्यमान है। सनातन धर्म की वर्ण व्यवस्था में सूर्य की उपासना का वर्णन मिलता है। ब्राह्मणों में संध्या कर्म में सूर्य की उपासना का ही वर्णन है। सौर सूर्य को ही ब्रह्म (संसार के जनक) के रूप में स्वीकार करते हैं। वेदों में सूर्य की स्तुतियां है जिनमे मुख्य 'चक्षुषो उपनिषद' है।

इस इकाई में वैष्णववाद और शैववाद की उत्पत्ति एवं विकास, दक्षिण भारत के आलवार और नयनार संत, शाक्त धर्म एवं दर्शन तथा तंत्रवाद के सिद्धांत और सौर संप्रदाय का विस्तार से विवेचन किया गया है।

4.1 उद्देश्य

टिप्पणी

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- वैष्णववाद की उत्पत्ति और विकास से अवगत हो पाएंगे;
- वैष्णववाद के सिद्धांतों की व्याख्या कर पाएंगे;
- शैववाद की उत्पत्ति और विकास के बारे में जान पाएंगे;
- आलवार संतों नयनार संतों से परिचित हो पाएंगे;
- शाक्त साहित्य एवं अभिलेखों का विवेचन कर पाएंगे;
- शाक्त धर्म के उद्‌भव एवं विकास को समझ पाएंगे;
- शाक्त धर्म के अंतर्गत तंत्रवाद के सिद्धांतों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- प्रागैतिहासिक काल से लेकर मध्यकाल तक भारत में सौर संप्रदाय की स्थिति का आकलन कर पाएंगे।

4.2 वैष्णववाद की उत्पत्ति एवं विकास

भगवान विष्णु को अपना प्रधान इष्ट देव मानने वाले भक्त वैष्णव कहलाए तथा तत्सम्बन्धी धर्म वैष्णव धर्म। इन्हें भागवत, नारायण, हरि वैकुण्ठनाथ आदि नामों से वर्णित किया गया है। वैष्णव साधक की दृष्टि में यह विशाल संसार उस ऐश्वर्यशाली विष्णु की ही शक्तियों की अनेकानेक अभिव्यक्ति है। समस्त जगत उन्हीं की विलक्षण कृति है। उनमें (विष्णु अथवा हरि) और जगत में कोई भेद नहीं है। भागवत धर्म का उदय उपनिषदों की विचारधारा से ही हुआ। इस धर्म का प्रचार सात्वत लोगों में सर्वप्रथम हुआ। ये मथुरा के यादवों की एक शाखा थी। इस धर्म में प्रारम्भिक काल में परमात्मा की हरि नाम से भक्तिपूर्वक पूजा होती थी। इसमें यज्ञ और तप के स्थान पर भक्ति को ही प्रधानता दी गई थी। इस धर्म के उन्नायक वासुदेव कृष्ण हैं जिनको आगे चलकर विष्णु–भगवान का अवतार माना गया है। कृष्ण ने भगवद् गीता की शिक्षाओं के द्वारा भागवत धर्म की रूपरेखा स्थिर कर दी थी। इसमें वेदवाद, संन्यास और यज्ञ विधान को हेय ठहरा कर समर्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करते रहने की प्रवृत्ति को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है।

भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म का आरम्भ पुराणों के पहले हो चुका था। पौराणिक परम्परा में इस धर्म का विकास हुआ। एक धार्मिक सिद्धान्त के रूप में भक्ति का उदय कब हुआ, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। डॉ. भण्डारकर का मानना है कि भक्ति का मूल उपनिषदों के 'उपासना' सिद्धान्त में खोजा जा सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को धन और सम्पत्ति से भी अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है। यह विचार भक्ति सिद्धान्त से मिलता–जुलता है। अन्तर केवल इतना है कि उपनिषदों में उपास्य वस्तु आत्मा है और भक्ति संप्रदायों में शिव और विष्णु इत्यादि देवता।

डॉ. राम जी उपाध्याय लिखते हैं कि विष्णु धर्म की रूपरेखा विष्णु के चरित्र के आदर्शों के अनुरूप विकसित हुई। विष्णु वैदिक देवता हैं। ऐसी परिस्थिति में इस

धर्म का मूल विष्णु सम्बन्धी वैदिक सूक्तों और कथानकों में माना जा सकता है। इस धर्म में ऋग्वेद में वर्णित देवताओं की पराक्रमशीलता, उपनिषदों में प्रतिष्ठान ज्ञान और दर्शन का प्रधान अंग है।

टिप्पणी

वैष्णव धर्म का समय–समय पर प्रमुख उन्नायकों द्वारा अभ्युत्थान हुआ। आरम्भ में कृष्ण भगवान के द्वारा सात्वत जाति के लोगों में इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। उस युग में कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया गया था और उन्हीं की भगवान उपाधि के अनुरूप इसे भागवत धर्म कहा गया। सात्वत जाति में इसका प्रथम प्रचार होने के कारण इसे सात्वत धर्म कहते हैं।

एक भक्ति संप्रदाय के रूप में वैष्णव धर्म का जन्म पांचवीं शताब्दी ई. पू. तक अवश्य हो चुका था, क्योंकि महर्षि पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में वासुदेव का अर्थ वह व्यक्ति किया है, जिसके उपास्यदेव वासुदेव ही हैं। चौथी शताब्दी ई. पू. में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज शूरसेन (मथुरा) जनपद के लोगों को हेराक्लीज का उपासक बताता है जिससे तात्पर्य वासुदेव कृष्ण से है। ऐसा भासित होता है कि वैष्णव धर्म की उत्पत्ति उसी धार्मिक उथल–पुथल के कारण हुई जिसने बौद्ध और जैन मतों को जन्म दिया।

महाभारत और पुराणों में वासुदेव को कृष्ण कहा गया है। इन ग्रन्थों में उनके जीवन–कार्यों के बहुत–से वृत्तान्त सुरक्षित हैं। यह निश्चित है कि वासुदेव ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनका प्राचीनतम उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में देवकी–पुत्र के रूप में हुआ जिनसे उन्हें कर्मयोग की शिक्षा मिली थी। अतः वासुदेव कृष्ण का समय प्रारम्भिक उपनिषद् युग में रखा जा सकता है। बाद में उनके अनुयायियों ने उनको देवता का स्वरूप दे डाला और उनके उपदेशों के आधार पर गीता की रचना की। कृष्ण ने भगवद् गीता की शिक्षाओं द्वारा भागवत् धर्म की रूपरेखा स्थिर कर दी। इसमें देववाद, संन्यास और यज्ञ–विधान को हेय ठहरा कर भागवत् अर्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करते रहने को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। कृष्ण के उपदेश का सार यह है कि भक्ति से परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर भगवान के भक्त को परमेश्वर के समान जगत् के भरण–पोषण के लिए सदा यत्न करते रहना चाहिए।

वैष्णव धर्म में वासुदेव कृष्ण की उपासना प्रचलित थी और इसका नाम भागवत धर्म था। कालान्तर में वासुदेव कृष्ण का तादात्म्य वैदिक देवता विष्णु के साथ स्थापित किया गया और भागवत धर्म वैष्णव धर्म में परिवर्तित हो गया। पुनः वासुदेव कृष्ण–विष्णु का एकत्व नारायण के साथ हुआ। नारायण के उपासक पाञ्चरात्रिक कहे जाते थे। इस एकत्व के कारण वैष्णव धर्म को पाञ्चरात्र धर्म भी कहने लगे। जहां तक नारायण का प्रश्न है, हम सर्वप्रथम उनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में ही पाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में नारायण को परमपुरुष एवं सर्वव्यापी कहा गया है और महाभारत में नर–नारायण के सम्बन्ध में अनेक कथाएं हैं किन्तु नारायण कोई ऐतिहासिक चरित्र थे या नहीं यह कहना कठिन है।

वैदिक युग में विष्णु के व्यक्तित्व की विशेषताएं उनकी सहनशीलता और अद्वितीय पराक्रम–परायणता है। पौराणिक युग के विष्णु यथासम्भव सभी गुणों की खान हैं, जिनकी कल्पना मनुष्य कर सकता है। उपनिषदों में ब्रह्म या परमात्मा के जिन गुणों की कल्पना की गई है वे प्रायः अपने मूल रूप में गीता के माध्यम से पौराणिक विष्णु में प्रतिष्ठित हैं। विष्णु का व्यक्तित्व है–अतिशय शक्तिशाली, उपकार–परायण और

आनन्ददाता। विष्णु के व्यक्तित्व में अतिशय लोकप्रियता है। भागवत में स्वयं विष्णु के मुख से कहलवाया गया है, "मैं भक्त के अधीन हूँ। पूर्णतया पर तन्त्र है। साधु भक्तों के द्वारा मेरा हृदय स्वीकृत है। भक्त मेरे प्रिय हैं।"

टिप्पणी

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।

साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्तिजन प्रियः।।

डा. राम जी उपाध्याय के शब्दों में एक ओर विष्णु भगवान की अप्रतिम लोक हितकारिणी कार्यक्षमता है और दूसरी ओर उनकी अनुपम भक्ति–प्रियता है। ये विशेषताएं उनकी ओर लोगों को आकृष्ट करने में पर्याप्त समर्थ थीं। वैष्णव धर्म के अनुयायियों द्वारा वैष्णवों का व्यक्तित्व विष्णु के व्यक्तित्व के अनुरूप विकसित करने की योजना बनाई गई है। उनके लिए सभी प्राणियों के प्रति दया–भावना की प्रतिष्ठा इस आधार पर की गई कि भगवान सभी प्राणियों में आत्मा के रूप में विराजमान हैं। वैष्णव की लोकोपकार वृत्ति उसकी सर्वोच्च आराधना है

पाणिनि के समय तक यह वैष्णव संप्रदाय अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया था। मेगस्थनीज के समय वह मथुरा प्रदेश में लोकप्रिय था। दूसरी शताब्दी ई. पू. के अन्त में उत्तर–पश्चिम के यूनानियों में इसकी लोकप्रियता अधिक थी। इसका प्रमाण ग्वालियर के निकट विदिशा (बेसनगर) नामक स्थान से प्राप्त गरुड़ ध्वज (स्तम्भ) अभिलेख है। इससे ज्ञात होता है कि तक्षशिला के यवन राजदूत हेलियोडोरस ने भागवत धर्म ग्रहण किया तथा इस स्तम्भ की स्थापना कराकर इसकी पूजा भी की थी। इस पर उत्कीर्ण लेख में हेलियोडोरस को 'भागवत' तथा वासुदेव को 'देवदेवस' अर्थात 'देवताओं का देवता' कहा गया। अपोलोडोट्स के सिक्कों पर सबसे पहले भागवत धर्म के चिह्न मिलते हैं। उत्तर–पश्चिम से मध्य देश तक जहां–जहां यवन गए, यह संप्रदाय भी फैला। ईसा पूर्व दूसरी शती तक समाज में वासुदेव को सर्वोच्च देवता मानकर उनकी उपासना की जाने लगी थी। गीता में कृष्ण कहते हैं कि 'बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में ज्ञान प्राप्त व्यक्ति सब कुछ वासुदेव ही हैं जो इस प्रकार मेरे को भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।' बेसनगर से ही प्राप्त एक अन्य लेख में भागवत की उपासना में मन्दिर तथा गरुड़ध्वज बनवाए जाने का वर्णन मिलता है। राजस्थान के घोसुंडी से प्राप्त लेख में एक अनुयायी द्वारा भागवत की पूजा के निमित्त 'शिला प्राकार' बनवाए जाने का उल्लेख मिलता है। यह लेख ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का है। इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक राजस्थान में भागवत धर्म लोकप्रिय हो चुका था। गीता और महाभारत से यह स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों की रचना के समय इस संप्रदाय का बहुत विरोध हुआ परन्तु शीघ्र ही यह पश्चिमी भारत और उत्तरी दक्षिणावर्त में लोकप्रिय हो गया। इस धर्म को विदेशियों ने भी ग्रहण किया। तीसरी शताब्दी तक वैष्णव धर्म समस्त भारत में फैल गया। महाराष्ट्र के नानाघाट से एक लेख मिलता है जिसमें संकर्षण (बलराम) तथा वासुदेव की पूजा का उल्लेख है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि महाराष्ट्र में भी भागवत धर्म का प्रचार हो चुका था। लगता है पहले इसका प्रचार उत्तर, पश्चिम तथा दक्षिण की ओर हुआ और पूर्वी भारत में यह धर्म बहुत बाद में आया। अशोक के लेखों में इस धर्म का उल्लेख नहीं मिलता। मौर्यकाल के पश्चात् यह धर्म मध्य भारत में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। शुंगों के काल में इस धर्म का विकास हुआ तथा विदेशी भी इसे ग्रहण करने लगे। इसे लोकप्रिय बनाने में यवनों

का विशेष योगदान रहा। बहुत से कुषाण राजाओं ने भी इसे स्वीकार किया। हुविष्क तथा वासुदेव जैसे शासक वैष्णव मतानुयायी थे।

टिप्पणी

वैष्णववाद का चरमोत्कर्ष गुप्त राजाओं के शासन–काल (319–550 ई.) में हुआ। गुप्त शासक वैष्णव मतानुयायी थे तथा उन्होंने इसे राजधर्म के रूप में स्वीकार किया। अधिकांश शासक 'परम भागवत' की उपाधि ग्रहण करते थे। विष्णु का वाहन गरुड़ गुप्तों का राजचिह्न था। प्रयाग लेख से ज्ञात होता है कि गुप्त शासनपत्रों के ऊपर गरुड़ की मुद्रा लगी होती थी (गरुत्मदंक शासन)। विष्णु की उपासना में अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण कराया गया। मेहरौली लौह स्तम्भ लेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विष्णुपद पर्वत पर विष्णुध्वज की स्थापना कराई थी (प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः)। स्कन्दगुप्तकालीन भितरी (गाजीपुर) लेख में विष्णु की मूर्ति स्थापित किए जाने का वर्णन है। इस अभिलेख में यह भी वर्णित है की कृष्ण असुरों का संहार करके माता देवकी का आशीर्वाद लेने गए।

शक राजा रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख से भी ज्ञात होता है कि चक्रपालित ने सुदर्शन झील के तट पर विष्णु की मूर्ति स्थापित कराई थी। तिगवा (जबलपुर), देवगढ़ (झांसी), मथुरा आदि से इस काल के बने हुए मन्दिरों तथा मूर्तियों के अवशेष प्राप्त होते हैं। देवगढ़ की मूर्ति में विष्णु को शेषशय्या पर विश्राम करते हुए दिखाया गया है। गुप्तकाल में लिखे गए पुराणों में विष्णु के अवतारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। गुप्तकाल के कोशकार अमरसिंह ने अपने ग्रन्थ अमरकोश में विष्णु के 39 नाम गिनाते हुए उन्हें वसुदेव का पुत्र बताया है। गुप्तकाल में वैष्णव धर्म का विदेशों में विशेषतः जावा, अनाम, कम्बोडिया आदि द्वीपों में विस्तार हुआ।

गुप्तोत्तर काल में भी वैष्णव धर्म का उत्थान होता रहा। राजा हर्षवर्धन के समय में भी यह एक प्रमुख धर्म था। बाणभट्ट के हर्षचरित में पाञ्चरात्र तथा भागवत संप्रदायों का उल्लेख मिलता है। हालांकि इस काल के प्रमुख शासक जैसे तोरमाण, मिहिरगुप्त, यशोधर्मन शैव थे और हर्षवर्धन ने बाद में बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। प्रतिहार शासकों में केवल देवशक्ति और भोज–द्वितीय ही परम वैष्णव थे। राजपूत काल में तो वैष्णव धर्म का अत्यधिक उत्कर्ष हुआ। इस काल में तथा उसके बाद वैष्णव भक्ति में मुख्यतः गोपाल संस्कृति तथा रसक्रीड़ा की भक्ति को बढ़ावा मिला। इस काल में राधा कृष्ण संप्रदाय का विकास हुआ। विभिन्न लेखों में 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' कहकर विष्णु के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। अनेक शासकों ने विष्णु के सम्मान में मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण कराया था। चन्देल राजाओं ने खजुराहो में विष्णु के कई मन्दिर बनवाए थे। चेदि, परमार, पाल तथा सेन राजाओं के शासन में भी विष्णु के अनेक मन्दिर तथा मूर्तियों का निर्माण कराया गया था। इस काल की विष्णु मूर्तियां चतुर्भुजी हैं तथा उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म है। साथ ही साथ लक्ष्मी और गरुड़ की मूर्तियां भी बनवाई गई थीं। विष्णु के दस अवतारों की कथा का व्यापक प्रचलन हुआ तथा प्रत्येक की मूर्तियों का निर्माण हुआ। समाज में वैष्णव धर्म से सम्बन्धित अनेक व्रतों एवं अनुष्ठानों का भी प्रचलन हो गया।

उत्तरी भारत की भांति ही दक्षिणी भारत में भी वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। संगम साहित्य से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में यह तमिल प्रदेश का एक महत्वपूर्ण धर्म था। दक्षिणी भारत में विष्णु के बहुत–से मन्दिर तथा मूर्तियां मिलती हैं।

टिप्पणी

वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक वैष्णव मतानुयायी थे तथा उनका राजचिह्न गुप्तों के समान ही 'गरुड़' था। उनके लेखों में वराह की उपासना की जानकारी मिलती है। राष्ट्रकूट काल में भी दक्षिणापथ में वैष्णव धर्म का विकास हुआ, यद्यपि राष्ट्रकूट राजा जैन धर्म के पोषक थे। दन्तिदुर्ग ने एलोरा में दशावतार का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था जिसमें विष्णु के दस अवतारों की कथा मूर्तियों में अंकित है।

तमिल प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार आलवार संतों द्वारा किया गया। ये सच्चे विष्णु भक्त थे। इन्होंने भजन–कीर्तन, नामोच्चारण, मूर्ति दर्शन आदि के माध्यम से वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इनके उपदेशों में जटिलता नहीं थी। उन्होंने एकमात्र विष्णु को ही आराध्य देव बताया जो प्राणियों के कल्याण के निमित्त समय–समय पर अवतार लेते हैं। उनका मानना था कि मोक्ष के लिए ज्ञान नहीं बल्कि विष्णु की भक्ति आवश्यक है। वेदों को न जानने वाला व्यक्ति भी यदि विष्णु के नाम का कीर्तन करे तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। आलवार संतो तथा आचार्यों के प्रभाव में आकर अनेक पल्लव राजाओं ने वैष्णव धर्म को ग्रहण कर उसे राजधर्म बनाया तथा विष्णु के सम्मान में मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण कराया। सिंहविष्णु ने मामल्लपुरम् में आदिवारहा मन्दिर का निर्माण कराया था। नरसिंहवर्मा द्वितीय के समय में काञ्ची में वैकुंठ पेरूमाल मन्दिर का निर्माण कराया गया था। दन्तिवर्मा भी विष्णु का महान उपासक था। लेखों में उसे विष्णु का अवतार बताया गया है। बादामी के चालुक्य राजा भी वैष्णव मत के पोषक थे तथा कुछ ने 'परमभागवत' की उपाधि ग्रहण की थी। एहोल में विष्णु के कई मन्दिरों का निर्माण किया गया था।

चोल शासकों के काल में शैव धर्म के साथ–साथ वैष्णव धर्म की भी उन्नति हुई। इस काल में वैष्णव धर्म के प्रचार का कार्य आलवारों के स्थान पर आचार्यों ने किया। उन्होंने आलवरों की वैयक्तिक भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया तथा भक्ति का समन्वय कर्म और ज्ञान के साथ स्थापित करने का प्रयास किया। आचार्य तमिल तथा संस्कृत दोनों ही भाषाओं के विद्वान् थे। अतः उन्होंने दोनों ही भाषाओं में वैष्णव सिद्धान्तों का प्रचार किया। आचार्य परम्परा में सबसे पहला नाम नाथमुनि का लिया जाता है। उन्हें अन्तिम आलवार मधुरकवि का शिष्य बताया जाता है। उन्होंने आलवारों के भक्तिगीतों को व्यवस्थित किया। 'न्यायतत्व' की रचना का श्रेय उन्हें दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रेममार्ग के दार्शनिक औचित्य का प्रतिपादन किया। परम्परा के अनुसार नाथमुनि श्रीरंगम् मन्दिर की मूर्ति में प्रवेश कर ईश्वर में समाहित हो गए थे। दूसरे महान आचार्य आलवंदार हुए जिनका एक अन्य नाम यामुनाचार्य भी मिलता है। आगमों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने उन्हें वेदों के समकक्ष बताया। अपने गीतों के माध्यम से प्रपत्ति के सिद्धान्त को उन्होंने अत्यन्त सुन्दर ढंग से अपने शिष्यों के समक्ष प्रस्तुत किया।

आचार्य परम्परा में रामानुज का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उनका काल सामान्यतः 1016–1137 ई. माना जाता है। उनका जन्म काञ्ची के पास श्रीपेरुम्बुदूर नामक स्थान में हुआ था। काञ्ची में उन्होंने यादवप्रकाश से वेदान्त की शिक्षा ली थी। कुछ समय बाद उनका यादव प्रकाश से कुछ औपनिषदिक सूत्रों की व्याख्या के प्रश्न पर मतभेद हो गया तथा उन्होंने वैष्णव आचार्य यामुनाचार्य की शिष्यता ग्रहण कर ली। यामुनाचार्य की मृत्यु के पश्चात् रामानुज उनके संप्रदाय के आचार्य बने। उन्होंने

ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा जिसे 'श्रीभाष्य' कहा जाता है। उनका मत 'विशिष्टाद्वैतवाद' के नाम से विख्यात है।

टिप्पणी

रामानुज सगुण ईश्वर में विश्वास करते थे। श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली) के मठ में रहते हुए उन्होंने वैष्णव धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए महान् कार्य किए। उनके प्रयासों के फलस्वरूप यह धर्म समाज में व्यापक रूप से प्रचलित हो गया। संभव है इसका प्रभाव चोलों के कुल धर्म शैव पर पड़ा हो तथा इसी से क्षुब्ध होकर किसी कट्टर शैव चोल शासक ने उन्हें उत्पीड़ित किया हो। किन्तु इस चोल राजा की पहचान निश्चित नहीं है। सामान्यतः चोल काल शैवों तथा वैष्णवों के परस्पर सद्भाव एवं सम्मिलन का काल रहा तथा रामानुज की कथा अपवादस्वरूप थी। इस समय शिव के समान विष्णु के सम्मान में भी मन्दिर बनवाए गए तथा मठों की स्थापना की गई। मन्दिर तथा मठ चोलयुगीन धार्मिक जीवन के केंद्र बिन्दु थे। अनेक संत कवियों ने विष्णु की उपासना में तमिल भाषा में मन्त्रों की रचना की थी।

चतुर्व्यूह

भागवत अथवा पाञ्चरात्र धर्म में वासुदेव विष्णु (कृष्ण) की उपासना के साथ ही साथ तीन अन्य व्यक्तियों की भी उपासना की जाती थी। इनके नाम इस प्रकार है–

(1) संकर्षण (बलराम)–ये वसुदेव के रोहिणी से उत्पन पुत्र थे।

(2) प्रद्युम्न–ये कृष्ण के रुक्मिणी से उत्पन्न पुत्र थे।

(3) अनिरुद्ध–ये प्रद्युम्न के पुत्र थे।

उपर्युक्त चारों को चतुर्व्यूह कहा जाता है। वासुदेव के समान इनकी भी मूर्तियां बनाकर भागवत मतानुयायी पूजा किया करते थे। महाभारत के नारायणीय खण्ड में इनका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वायुपुराण में इन चारों के साथ साम्ब (कृष्ण के जाम्बवन्ती से उत्पन्न पुत्र) को मिलाकर इन्हें पञ्चवीर कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्व्यूह की कल्पना ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के पहले की है। इसका प्राचीनतम उल्लेख ब्रह्मसूत्रों में मिलता है। मथुरा के निकट गोरा से प्राप्त पहली शताब्दी के एक लेख से ज्ञात होता है कि तोषा नामक महिला ने वासुदेव के साथ–साथ उक्त चार व्यक्तियों की मूर्तियों को एक मन्दिर में स्थापित कराया था। सभी के नाम से पहले 'भागवत्' विशेषण का ही प्रयोग मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में पञ्चवीरों की प्रतिमायें बनाने के नियम दिए गए हैं। अर्थशास्त्र में भी संकर्षण के उपासकों का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के समान अन्य चारों ने भी नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तथा धर्माचार्य के रूप के प्रतिष्ठित हुए। बाद में उनमें देवत्व का आरोपण कर दिया गया। वासुदेव कृष्ण को परमतत्व मानकर अन्य चारों को उन्हीं का अंश स्वीकार किया गया। संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न को क्रमशः जीव, अहंकार तथा मन (बुद्धि) का प्रतिरूप स्वीकार किया गया है।

वैष्णववाद के सिद्धांत

वैष्णववाद में ईश्वरभक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर बल दिया गया है। भक्ति के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह भक्त को अपनी शरण में ले लेता है। वैष्णव सिद्धान्तों का गीता में सर्वोत्तम विवेचन मिलता है। इसमें ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का

समन्वय स्थापित करते हुए भक्ति के माध्यम से मुक्ति प्राप्त करने का प्रतिपादन मिलता है। स्वयं भगवान कृष्ण कहते हैं कि "सभी धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करुंगा।"

टिप्पणी

वैष्णव धर्म में अवतारवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अवतारवाद का प्रारम्भ नारायण का वासुदेव–कृष्ण के एकात्म से माना जा सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर समय–समय पर अपने भक्तों के उद्धार के लिए पृथ्वी पर अवतरित होता है। गीता में कृष्ण कहते हैं–जब–जब धर्म की हानि तथा अधर्म की वृद्धि होती है तब–तब मैं अवतरित होता हूँ। साधुओं की रक्षा तथा दुर्जनों के विनाश एवं धर्म की स्थापना के लिए युग–युग में मैं उत्पन्न होता हूँ। अन्यत्र वर्णित है कि मेरे में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे में लगे हुए जो भक्त जन अतिशय श्रद्धापूर्वक मुझे भजते हैं वे योगियों में अत्युत्तम योगी हैं। जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में अर्पण करके मुझे ही अनन्य भाव से भजते हैं उनका मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार सागर से उद्धार कर देता हूँ।

पुराणों में विष्णु के दस स्पष्ट अवतारों की व्याख्या हुई है–मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि। इनका वर्णन इस प्रकार है–

(1) **मत्स्य**– मत्स्य अवतार का प्रथम विवरण शतपथ ब्राह्मण में मिलता है जहां मनु को प्रलय के समय मछली के द्वारा रक्षित किया गया था। कथा के अनुसार जब पृथ्वी महान जल–प्लावन से भयभीत हो गई तब विष्णु ने मत्स्य के रूप में अवतार लेकर मनु, उनके परिवार तथा सात ऋषियों को एक जलपोत में बैठाकर, जिसकी रस्सी मत्स्य के सींग से बंधी हुई थी, रक्षा की। उन्होंने प्रलय से वेदों की भी रक्षा की थी। महाभारत में मछली को प्रजापति (ब्रह्मा) कहा गया है। इससे विदित होता है कि मछली को प्रथमतः प्रजापति का तत्पश्चात् विष्णु का अवतार माना गया।

(2) **कूर्म अथवा कच्छप**– कूर्म अवतार भी शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है तथा प्रजापति से सम्बंधित है। जल प्लावन के समय अमृत तथा रत्न आदि समस्त बहुमूल्य पदार्थ समुद्र में विलीन हो गए। अतः इन बहुमूल्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिए समुद्र मंथन हुआ। विष्णु ने स्वयं को एक बड़े कूर्म (कच्छप या कछुआ) के रूप में अवतरित किया तथा समुद्रतल में प्रवेश कर गए। देवताओं ने उनकी पीठ पर मन्दराचल पर्वत रखा तथा नागवासुकि को डोरी बनाकर समुद्र मन्थन किया। परिणामस्वरूप अमृत तथा लक्ष्मी समेत चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई। राम ने भी कूर्म को नारायण कहा है।

(3) **वराह**– वराह अवतार पूर्व आर्य संस्कृति के सूकर पूजन का आर्य धर्म में मिश्रण है। ऋग्वेद ने वराह का वर्णन किया है जो आर्यों का शत्रु था तथा इंद्र के द्वारा जिसका वध किया गया था। तैत्तिरीय संहिता में वराह अनार्यों की संपत्ति की पहाड़ियों पर रक्षा करता था। विष्णु ने उसे पहचान लिया इसी कारणवश वह विष्णु का शत्रु हो गया। शतपथ ब्राह्मण में एमुशा नामक सुअर का वर्णन है जिसने दैवीय जन्म से पृथ्वी को अपने दांतों से उठा लिया था। एमुशा को प्रजापति (ब्रह्मा) से संबंधित किया गया है। हिरण्याक्ष नामक राक्षस ने एक बार पृथ्वी को विश्व सिन्धु के तल में ले जाकर छिपा दिया। पृथ्वी की रक्षा के लिए विष्णु ने एक विशाल वराह (सूकर) का रूप धारण किया। उन्होंने राक्षस का

टिप्पणी

वध किया तथा पृथ्वी को उठाकर यथास्थान स्थापित कर दिया। वराह को कृषि संबंधी देव भी माना गया है। मध्य प्रदेश में उदयगिरि गुफा में वराह की मूर्ति का निर्माण गुप्तकाल में किया गया था। उत्तर प्रदेश में भीतरगांव से भी वराह का चित्रण प्राप्त होता है। रघुवंश तथा रावणवाहों में भी महावराह तथा आदि वराह का वर्णन है। वराह के रूप में विष्णु ने हिरण्याक्ष का वध कर पृथ्वी की रक्षा की थी।

(4) नरसिंह– तैत्तिरीय आरण्यक के अतिरिक्त किसी भी वैदिक साहित्य में नरसिंह का उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन काल में हिरण्यकश्यप नामक महान असुर हुआ। ब्रह्मा से उसने यह वरदान प्राप्त किया कि वह न तो दिन में मरे न रात में, न उसे देवता मार सकें न मनुष्य। अब उसने देवताओं तथा मनुष्यों पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। यहां तक कि उसने अपने पुत्र प्रहलाद को भी अनेक प्रकार से प्रताड़ित किया। प्रहलाद की पुकार पर विष्णु ने नरसिंह (आधा मनुष्य तथा आधा सिंह) अवतार लिया। इस अवतार में उन्होनें हिरण्यकश्यप को गोधूलि के समय मार डाला तथा प्रहलाद को राजा बनाया।

(5) वामन– वामन अवतार की कथा विष्णु के ऋग्वेद के तीन पदों में ईश्वर की अभिव्यक्ति में वर्णित है। बलि नामक दानव राजा हुआ जिसने अपनी तपस्या से समस्त विश्व को जीत लिया था। उसकी शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि देवता घबरा गए और उन्होंने विष्णु से प्रार्थना की। फलस्वरूप वे एक बौने का रूप धारण कर राक्षस के सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने दान में तीन पग भूमि मांगी। बलि ने यह स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् उनका आकार अत्यन्त विशाल हो गया और उन्होंने दो ही पग में पृथ्वी, आकाश तथा अन्तरिक्ष को नाप दिया। तीसरा पग नहीं उठाया तथा बलि के लिए पाताल छोड़ दिया। अतः वह पृथ्वी छोड़कर पाताल लोक चला गया। महाभारत में वामन विष्णु की गणना अदिति के पुत्रों आदित्यों में हुई है। स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख (455ई.) वामन की स्तुति से ही प्रारंभ होता है। गया में वामन के पदों का हाथ की छाप का अंकन स्वीकारा जाता है।

(6) परशुराम– परशुराम का अवतरण ब्राह्मण–क्षत्रिय संघर्ष की पौराणिकता पर आधारित है। यह कथा भृगु ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिपादित की गई तथा केवल उन्हीं में प्रचलित थी। यमदग्नि नामक ब्राह्मण के पुत्र के रूप में विष्णु ने परशुरामावतार लिया। यमदग्नि को कीर्तवीर्य नामक राजा ने प्रताड़ित किया जिससे कुपित होकर परशुराम ने समस्त क्षत्रियों के विनाश हेतु बीड़ा उठाया था। उन्होंने 21 बार संहार का प्रयास किया। अंततः परशुराम स्वयं राम के द्वारा पराजित किए गए। इन्हें विष्णु का अवशेषावतार माना जाता है।

(7) राम– विष्णु का राम के रूप में अवतार का वर्णन नारायणीय खंड, कालिदास के रघुवंश, दशरथ जातक तथा पुराणों में प्राप्त होता है। राम अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र थे। विष्णु का यह अवतार प्रख्यात ज्ञानी दानव रावण का वध करने के लिए हुआ था। ऋग्वेद में इक्ष्वाकु, राम, दशरथ आदि का वर्णन है परंतु देवता के रूप में राम का वर्णन नहीं प्राप्त होता है। सीता को भी इसी काल में राम से जोड़ा गया। उन्हें कृषि की देवी तथा सीरध्वज जनक की पुत्री

टिप्पणी

माना गया। सीता अयोनिज (जो गर्भ से नहीं जन्मी) थी तथा पति के द्वारा अपमानित होने पर पुनः पृथ्वी के गर्भ में वापस लौट गई थी। दशरथ जातक में राम को वाराणसी का शासक माना गया है तथा राम, लक्ष्मण एवं सीता को कौशल्या की संतान माना गया है। विष्णु का यह अवतार उत्तर भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय है।

(8) कृष्ण– मथुरा के राजा कंस के अत्याचारों से प्रजा की रक्षा करने के लिए वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में विष्णु का कृष्णावतार हुआ। कृष्ण भी राम की ही भांति लोकप्रिय हैं। उन्होंने अनेक अलौकिक चमत्कार दिखाए, लीलाएं कीं तथा कंस, जरासंध, शिशुपाल आदि का वध किया। कृष्ण ने महाभारत के युद्ध में पाण्डवों का साथ देकर दुर्योधन का वध कराया तथा पृथ्वी पर सत्य, न्याय एवं धर्म को प्रतिष्ठित किया। राम तथा कृष्ण आज भी करोड़ों हिन्दुओं के आराध्य देव हैं। विदेशों में भी उनकी पूजा की जाती है।

(9) बुद्ध– गुप्तकाल में गौतम बुद्ध को वैष्णव धर्म में सम्मिलित कर लिया गया। वैष्णव धर्म ने बुद्ध को विष्णु का अवतार मानकर उसे ब्राह्मण धर्म का अंग बना लिया। प्रारंभ में वैष्णव विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया। कुमारिल भट्ट ने बुद्ध को नारायण का अवतार स्वीकार नहीं किया। हारीत स्मृति में बुद्ध की पूजा को प्रतिबंधित एवं निन्दीत किया गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता में बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया है तथा उन्हें संततमान कहा गया है। जयदेव कृत गीतगोविन्द से सूचित होता है कि पशुओं के प्रति दया दिखाने तथा रक्तरंजित पशुबलि जैसी प्रथाओं को रोकने के उद्देश्य से विष्णु ने बुद्ध के रूप में अवतार ग्रहण किया। इन्हें विष्णु का अन्तिम अवतार माना गया है। कालान्तर में हिन्दुओं ने अपनी उपासना पद्धति में बुद्ध को देवता के रूप में मान्यता प्रदान कर दी।

(10) कल्कि– कल्कि विष्णु का भविष्य अवतार है। कल्कि अवतार का विवरण पौराणिक कथाओं में मिलता है। कल्कि म्लेच्छों के दमन के लिए कलियुग के अंत में अवतरित होंगे। श्वेत अश्व पर सवार होकर वे पृथ्वी पर अवतरित होंगे तथा दैवीय तलवार से सृष्टि की रक्षा करेंगे। पृथ्वी पर पुनः स्वर्ग युग स्थापित होगा। विष्णु का यह अवतार बुद्ध के मैत्रेय अवतार से प्रभावित दिखता है।

वैष्णव धर्म में मूर्ति पूजा एवं मन्दिरों आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। मूर्ति को ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप माना जाता है। भक्त मन्दिर में जाकर उसकी पूजा करते हैं। दशहरा, जन्माष्टमी जैसे पर्व वासुदेव–विष्णु के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के प्रतीक हैं। वैष्णव उपासक भगवान का कीर्तन करते हैं तथा पवित्र तीर्थ स्थानों पर एकत्रित होकर स्थान–ध्यान करते हैं। वैष्णव धर्म के प्रमुख आचार्यों में रामानुज, मध्व, वल्लभ, चैतन्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस धर्म का अधिकाधिक प्रचार किया। कालांतर में विष्णु का रामावतार सबसे अधिक व्यापक तथा लोकप्रिय हो गया। मध्यकाल में रामकथा का बहुत विकास हुआ। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना कर समाज में रामभक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठित कर दिया। आज भी करोड़ों हिन्दू राम की सगुणोपासना करते हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. भगवान विष्णु को अपना प्रधान इष्ट देव मानने वाले भक्त क्या कहलाए?
   (क) वैष्णव (ख) शैव
   (ग) शाक्त (घ) नास्तिक
2. पुराणों में भगवान विष्णु के कितने अवतारों का वर्णन मिलता है?
   (क) 9 (ख) 10
   (ग) 8 (घ) 7
3. भगवान विष्णु का कूर्म अवतार किस ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित है?
   (क) ऐतरेय ब्राह्मण (ख) तैत्तिरीय ब्राह्मण
   (ग) कौषीतकि ब्राह्मण (घ) शतपथ ब्राह्मण

4.3 शैववाद की उत्पत्ति एवं विकास

भगवान शिव से सम्बंधित धर्म को शैव धर्म या शैववाद कहा जाता है जिसमें शिव को इष्टदेव मानकर उनकी उपासना किए जाने का विधान है। शिव के उपासकों को शैव कहा जाता है। शिव तथा शैव धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। हड़प्पा सभ्यता के उत्खनन में मोहनजोदड़ो से एक ऐसी मुद्रा की प्राप्ति हुई है जिस पर पद्मासन में विराजमान एक योगी का चित्र मिलता है। इस योगी के तीन मुख हैं, सिर पर दो सींग हैं जो त्रिशूल के संकेतक हैं। इस मूर्ति के चतुर्दिश चार पशु हैं––बाघ, गैंडा, हाथी तथा भैंसा। सर जॉन मार्शल का अभिमत है कि यह पशुपति के रूप में भगवान शिव का प्राचीन रूप है। अनेक स्थलों से कई शिवलिंग भी प्राप्त हुए हैं जिनसे इसकी संपुष्टि होती है कि शिव की उपासना हड़प्पा सभ्यता में होती थी।

ऋग्वेद में रुद्र का वर्णन हुआ है जो अपनी उग्रता के लिए प्रख्यात है। क्रुद्ध होने पर वे मनुष्य तथा पशु जाति का संहार करते थे या महामारी फैला देते थे। अतः ऋग्वैदिक काल में रुद्र की पूजा उनके क्रोध से बचने के लिए की जाती थी। वस्तुतः रुद्र शुभेच्छु एवं संहारक दोनों ही गुण रखते हैं। माना जाता है कि न मानने वाले मनुष्यों को वे अपने बाणों से घायल कर देते हैं किन्तु अपने भक्तों के प्रति वे अत्यन्त उपकारी हैं जिससे उनकी संज्ञा शिव है। उनको भक्ति के माध्यम से सरलता से प्रसन्न किया जा सकता है। वे प्राणियों के रक्षक तथा संसार के स्वामी हैं। उनके पास अनेक औषधियां थीं जिनसे रोगों से छुटकारा मिलता था। ऋग्वेद कालीन देवताओं में रुद्र का स्थान अधिक महत्वपूर्ण नहीं था।

उत्तर वैदिक काल में रुद्र एक महान देवता के रूप में तथा प्रजापति एवं विष्णु के साथ त्रिदेव के रूप में स्थापित हुए। यजुर्वेद में प्रथम बार इन्हें वनस्पतियों, मानव तथा पशुओं का महान देवता स्वीकार किया गया। शुक्ल यजुर्वेद में रुद्र एक बलवान योद्धा के रूप में वर्णित हैं जो पिनाक नामक धनुष को धारण करते हैं। उनके वज्र का नाम सृक है। अथर्ववेद में इनके विभिन्न रूपों का वर्णन हुआ है। यहां इन्हें आठ नामों–पशुपति, महादेव, ईशान, भव, शर्व, रुद्र, उग्र, अशनि से जाना गया। इनमें शर्व,

रुद्र, उग्र तथा अशनि उनके विध्वंसक रूप हैं और पशुपति, महादेव, ईशान तथा भव उनके शुभेच्छु रूप हैं। रुद्र की सोम के साथ प्रार्थना पाप मुक्ति हेतु की जाती थी। अथर्ववेद में महादेव को एकव्रात्य के नाम से भी जाना गया।

टिप्पणी

शतपथ एवं कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार वे उषा के पुत्र हैं तथा प्रजापति ने उनके आठ नाम रखे हैं। वाजसनेयी संहिता के शतरुद्रीय मन्त्र में रुद्र को समस्त लोकों का स्वामी बताया गया है। पर्वत पर शयन करने के कारण रुद्र को गिरीश, गिरित्र तथा पशुपति भी कहा गया है।

उपनिषद्–काल में हमें रुद्र के सम्मान में और वृद्धि देखने को मिलती है। शिव भक्ति का प्रथम स्पष्ट वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में है। इसमें रुद्र की समता परमब्रह्म से स्थापित करते हुए कहा गया है कि जो अपनी शक्ति से संसार पर शासन करता है, जो प्रलय के समय प्रत्येक वस्तु के सामने विद्यमान रहता है तथा उत्पत्ति के समय जो सभी वस्तुओं का सृजन करता है वह रुद्र है। वह स्वयं अनादि एवं अजन्मा है। अथर्वशिरस् में भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उन्हें शिव के साथ–साथ महेश्वर भी कहा गया है तथा उन्हें ब्रह्म के समकक्ष माना गया है। इस उपनिषद् ने ही भक्ति परंपरा को स्थापित किया। गृह्यसूत्रों में रुद्र के लिए सुलगव नामक यज्ञ वर्णित है जिसमें बैल की बलि दी जाती थी।

महाकाव्यों के काल में आते–आते शैववाद को व्यापक लोकाधार प्राप्त हो गया। महाकाव्यों में रुद्र का शुभेच्छु स्वरूप अधिक विकसित हुआ। रामायण से ज्ञात होता है कि शिव न केवल उत्तरी अपितु दक्षिणी भारत के भी देवता बन गए थे। लंका तक में उनकी पूजा की जाती थी। उन्हें नीलकंठ, त्रयम्बक, आशुतोष, शंकर, महादेव, भूतनाथ, शम्भु आदि नामों से वर्णित किया गया है। उनके विध्वंसक स्वरूप का विवरण लगभग नगण्य है। रामायण में उनको योग, भक्ति आदि से भी संबंधित किया गया है तथा उनकी पत्नी उमा आदर की पात्र हैं। रामायण में शिव का समुद्र मंथन के समय विषपान, गंगावतरण, पार्वती से उनका विवाह, स्कन्द के जन्म आदि का भी विवरण है। किन्तु रामायण मूलतः एक वैष्णव ग्रन्थ है। अतः यहां विष्णु को शिव की अपेक्षा अधिक महान देवता बताया गया है।

महाभारत में शिव की प्रतिष्ठा का व्यापक विवेचन मिलता है। इसमें अर्जुन ने शिव को त्रिदेवों की शक्ति, दक्ष के यज्ञ को भंग करने वाला, त्रिनेत्र धारण करने वाला माना है। अर्जुन ने शिव से पाशुपत अस्त्र के लिए याचना की थी जिसे शिव ने प्रदान किया था। महाभारत में शिव की अनेक उपाधियों का वर्णन हुआ है। शिव को त्रयम्बक (तीन नेत्रों वाले), व्योमकेश (सूर्य एवं चंद्र की कांति वाले केश धारण करने वाले), वृषकपि (वृष को धर्म कहने वाले), हर (ब्रह्मा, इंद्र, वरुण एवं कुबेर को हरने वाले) आदि कहा गया है। महाभारत में शिव अपने भक्तों को मुक्त रूप से वरदान देते हुए वर्णित हैं। सौप्तिक पर्व में वर्णन है कि अश्वत्थामा ने शंकर की आराधना कर दिव्य खड्ग प्राप्त की। इसी खड्ग से अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न तथा पाण्डव पुत्रों का वध किया था। महाभारत में विभिन्न स्थलों पर शिव को सर्वदव, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आदि संज्ञा प्रदान की गई है तथा बताया गया है कि देवता ब्रह्मा से लेकर पिशाच तक उनकी आराधना करते हैं। अनुशासन पर्व में कहा गया है कि स्वयं कृष्ण ने पुत्र प्राप्त करने के निमित्त हिमालय पर्वत पर जाकर शिव की आराधना की थी तथा शिव

टिप्पणी

ने प्रसन्न होकर उन्हें मनोवांछित फल प्राप्त करने के लिए वरदान दिया था। एक स्थान पर कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं कि शिव सभी चल–अचल वस्तुओं के सृष्टा हैं तथा उनसे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है। इस विवरण से संकेत मिलता है कि शिव सर्वोच्च देवता के रूप में मान्य थे। परशुराम ने गंधमादन पर्वत पर तपस्या कर शिव से अस्त्र–शस्त्र प्राप्त किए थे।

शिव की पूजा अनेक साहित्यिक तथा पुरातात्विक स्रोतों से प्रमाणित होती है। भारत की प्राचीनतम आहत मुद्राओं, जिनमें से कुछ की तिथि ईसा पूर्व छठी–पांचवीं शताब्दी तक जाती है, के .पर भी शिव पूजा के प्रतीक वृषभ, नन्दीपद आदि चिह्न मिलते हैं। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने शिव को 'डाइनोसियस' कहा है तथा उन्हें पर्वत का देवता माना है। अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होता है कि मौर्य युग में शिव पूजा प्रचलित थी। कौटिल्य नगर के बीच में शिवसदन स्थापित करने का सुझाव देता है। पतंजलि ने महाभाष्य में शिव भागवतों का वर्णन किया है तथा रुद्र को बलि का देवता एवं औषधि प्रदान करने वाला माना है। इस ग्रन्थ में शिव के विभिन्न नामों–रुद्र, गिरीश, महादेव, त्रयम्बक, भव, सर्व आदि का उल्लेख मिलता है। प्राचीन भारतीय सिक्कों पर भी शिवोपासना का अंकन है। यहां शिव के लिंग, नंदी तथा मानवस्वरूप का अंकन है। प्रारंभिक उज्जैन सिक्कों पर त्रिमुखी शिव त्रिशूल एवं कमंडल के साथ वर्णित हैं। शिव रक्षित की एक मुद्रा पर शिव का अंकन त्रिशूल के साथ है। ऐसा ही अंकन शक शासक मेउस तथा पार्थियन शासक गोण्डफर्नीज के सिक्कों पर भी है। विम कैडफिसिस, कनिष्क, हुविष्क एवं वासुदेव के सिक्कों पर शिव नंदी, त्रिशूल एवं पार्वती की आकृति पाई गई है। गांधार स्थित पुष्कलावती के प्रधान देवता शिव को माना जाता है। शक, पह्लव, कुषाणव अन्य आदि के सिक्कों पर शिव, वृषभ, त्रिशूल की आकृतियां मिलती हैं, जिनसे स्पष्ट है कि विदेशियों में भी शिव उपासना प्रचलित थी।

गुप्त शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, किन्तु उनके शासनकाल में शैव धर्म के उत्तरोत्तर प्रसार के दृष्टान्त मिलते हैं। भव्य शिव मंदिरों तथा मूर्तियों का निर्माण भी इन शासकों के युग में होता रहा। उन मंदिरों के ध्वंसावशेष आज भी उपलब्ध हैं। उदयगिरि गुहालेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का प्रधानमन्त्री वीरसेन शैव था तथा उसने उदयगिरि पहाड़ी पर एक शैव गुफा का निर्माण कराया था (भक्त्या भगवतश्शम्भोः गुहामेकामकारयत्)। कुमारगुप्त प्रथम के काल में करमदंडा तथा खोह में शिवलिंगों की स्थापना करायी गई थी। गुप्तकाल में भूमरा में शिव तथा नचनाकुठार में पार्वती के मन्दिरों का निर्माण कराया गया था। गुप्तकालीन रचनाओं में अनेक स्थानों पर शिव उपासना का उल्लेख मिलता है। कालिदास शिव के अनन्य उपासक थे। महाकवि कालिदास का आश्रयदाता मालवेश विक्रमादित्य शैव मतावलम्बी था। कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुंतलम्, रघुवंशम् में मंगलाचरण में शिव की वन्दना की है। उज्जैन में स्थित महाकाल शिव का मन्दिर कालिदास के युग में ख्याति प्राप्त मन्दिरों में था। अपनी रचना मेघदूत में भी कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में शिव पूजा का कलात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है। अन्य ग्रन्थ कुमारसम्भव में उन्होनें शिव की महिमा का गुणगान किया है। इस काल के पुराण भी शिव के माहात्म्य का प्रतिपादन करते है। उन्हें देवों में श्रेष्ठ महादेव (देवेषु महान् देवो महादेव) कहा गया है। पुराणों में लिंग की उपासना का भी उल्लेख मिलता है। इन सभी विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पांचवीं शताब्दी तक समाज में शैव धर्म ने

व्यापक लोकाधार प्राप्त कर लिया था तथा शिव विभिन्न नामों और रूपों में पूजे जाते थे। संभवतः शिवलिंग की पूजा का प्रसार गुप्तकाल में ही हुआ था।

टिप्पणी

गुप्तोत्तर काल के पश्चात् भी शैववाद की उन्नति होती रही। वर्धनकाल में इसका समाज में काफी प्रचार था। बाणभट्ट तथा ह्वेनसांग दोनों ही इसका उल्लेख करते हैं। हर्षचरित में कहा गया है कि थानेश्वर नगर के हरेक घर में भगवान शिव की उपासना होती थी (गृहे–गृहे अपूज्यत भगवान खण्डपरशु)। ह्वेनसांग लिखता है कि वाराणसी शैव धर्म का प्रमुख केंद्र था जहां उनके 100 मन्दिर थे। यहां शिव के 10 हजार भक्त निवास करते थे। हर्षवर्धन के समकालीन शासक शशांक एव भास्करवर्मा भी शैवमतानुयायी थे। शशांक तो कट्टर शैव था।

राजपूतकाल (700–1200 ई.) में भी शैव धर्म समाज में अत्यंत लोकप्रिय था। इसकी पुष्टि साहित्य तथा अभिलेख, दोनों करते हैं। अनेक राजपूत शासक शिव के अनन्य भक्त थे तथा उन्होंने उनके विशाल एवं भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया था। चन्देल युग में खजुराहो का सुप्रसिद्ध कंदारिया महादेव मन्दिर का निर्माण हुआ। गुजरात, मध्यभारत, राजस्थान, बंगाल, असम, आदि सर्वत्र शिव मन्दिर तथा मूर्तियां निर्मित की गईं। गुजरात के काठियावाड़ में स्थित सोमनाथ का मन्दिर पूर्व मध्यकाल में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं समृद्ध था जो महमूद गजनवी द्वारा तोड़ डाला गया। अलबरूनी इसका विवरण देता है। मन्दिरों के अलावा शिव तथा पार्वती की अनेक मूर्तियों का भी निर्माण किया गया। शिवलिंगों की भी स्थापना हुई।

दक्षिणी भारत में भी शिव उपासना का व्यापक प्रचार–प्रसार था। दक्षिण के शासक जैसे चालुक्य, राष्ट्रकूट, पल्लव, चोल आदि राजवंशों के समय में शैववाद की उन्नति हुई तथा शिव के अनेक मंदिरों एवं मूर्तियों का निर्माण हुआ। राष्ट्रकूट शासकों के काल में एलोरा के विख्यात 'कैलाशनाथ मन्दिर' का निर्माण किया गया। पल्लव शासकों के समय में नयनारों ने शैव धर्म का प्रचार–प्रसार किया। नयनार संतों की संख्या 63 बताई गई है जिनमें अप्पार, तिरुज्ञान, सम्बन्दर, सुन्दर मूर्ति, मणिक्कवाचगर आदि के नाम उल्लेखीय हैं। इन सभी शैव संतों ने भजन–कीर्तन, शास्त्रार्थ एवं उपदेशों के माध्यम से तमिल समाज में शिव भक्ति का जोरदार प्रचार किया। उन्होंने भक्ति को ईश्वर–प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया। चोलों के काल में सुदूर दक्षिण में शैव धर्म का अत्यधिक उत्थान हुआ। चोल शासक राजराज प्रथम शिव का अनन्य भक्त था जिसने तंजोर में 'राजराजेश्वर' के सुप्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण कराया था। शिव की अनेक मूर्तियां भी स्थापित की गईं। राजराज का पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल भी शिव का भक्त था जिसने अपनी राजधानी तंजोर में 'बृहदीश्वर मन्दिर' का निर्माण कराया था। उसके समय में शैव धर्म दक्षिणी भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय बन गया। चोल शासक कुलोत्तुंग प्रथम का काल शैव धर्म की उन्नति के लिए उल्लेखनीय है। वह एक कट्टर शिव भक्त था जिसके बारे में कहा गया है कि शिव के प्रति अत्यधिक आस्था के कारण उसने चिदम्बरम् मन्दिर में स्थापित विष्णु की प्रतिमा को उखाड़ कर समुद्र में फेंकवा दिया था। इस घटना से क्षुब्ध होकर वैष्णव आचार्य रामानुज को कुछ काल के लिए चोल राज्य छोड़ना पड़ा था। यह भी बताया गया है कि उसने रामानुज तथा उनके शिष्यों को उत्पीड़ित किया था। इन कथानकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चोल कालीन तमिल समाज में शैव धर्म का ही बोल–बाला था। इस वंश के

अधिकांश राजाओं ने विशाल तथा भव्य शैव मंदिरों, शिवलिंगों तथा मूर्तियों के निर्माण में गहरी रुचि प्रदर्शित की थी।

टिप्पणी

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव की पूजा भारत में प्रागैतिहासिक काल से प्रारम्भ होकर प्राचीन काल के अन्त तक विकसित होती रही तथा शिव को हिन्दू धर्म में प्रमुख स्थान मिला। उनकी गणना त्रिदेवों–ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश में की गई। आज भी शैव धर्म भारतीय हिन्दू जनता का एक प्रमुख धर्म बना हुआ है। नैष्ठिक हिन्दू देश के विभिन्न भागों में स्थित द्वादश ज्योतिर्लिंगों–सोमनाथ, केदारनाथ, विश्वनाथ (काशी), वैद्यनाथ, मल्लिकार्जुन (आन्ध्रप्रदेश), नागेश्वर (द्वारिका के समीप), महाकालेश्वर (उज्जैन), रामेश्वरम, ओंकारेश्वर (अमलेश्वर–म.प्र.), भीमेश्वर (नासिक), त्रयम्बकेश्वर (नासिक) तथा घुश्मेश्वर (औरंगाबाद–महाराष्ट्र)–के दर्शन कर स्वयं को भाग्यशाली समझते हैं।

शिव के व्यक्तित्व में हमें आर्य तथा आर्येतर तत्वों का समन्वय देखने को मिलता है। विष्णु तथा शिव के साथ–साथ हिन्दुओं के तीसरे प्रमुख देवता ब्रह्मा हैं किन्तु उनके नाम से कोई संप्रदाय नहीं चला। ब्रह्मा का एकमात्र मन्दिर राजस्थान में अजमेर के निकट पुष्कर तीर्थ में स्थित है। इसके प्रवेश द्वार पर उनके वाहन हंस की मूर्ति बनी हुई है।

शैववाद के प्रमुख संप्रदाय

शिव भागवतों से ही शैव धर्म में संप्रदायवाद का प्रारंभ होता है। वामन पुराण में शैवों के चार मत बताए गए हैं। वैसे शैवों के अनेक संप्रदाय बन गए जिनके आधार एवं नियम अलग–अलग थे। इनका परिचय इस प्रकार है–

(1) शैव भागवत

शैव भागवतों का पहला वर्णन पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है। पाणिनी की अष्टाध्यायी की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने 'अयसशुलिका' तथा 'दंडजिन' नामक शब्दों का उल्लेख किया है। अयसशुलिक का उल्लेख ऐसे योगियों के लिए है जो धातु का दंड धारण करते थे। दंडजिन का वर्णन महाभाष्य में नहीं है परंतु इसका संबंध चर्म वस्त्र तथा दंड आदि से संबंधित प्रतीत होता है। पतंजलि ने 'राभस' शब्द का प्रयोग भी पाशुपतों के लिए किया है, जिसका अर्थ वीभत्स कर्मकांडों में लिप्त होना है। शिबि या सिबोई जनजाति चर्मवस्त्र एवं सींग के आभूषण धारण करती थी।

(2) पाशुपत संप्रदाय

पाशुपत संप्रदाय का प्रारंभिक वर्णन महाभारत में है जहां पांच संप्रदाय– सांख्य, योग, पांचरात्र, वैदिक तथा पाशुपतों का वर्णन है। यहां पाशुपत का संस्थापक शिव को माना गया है। शिव को ही उमापति, भूतपति, श्रीकण्ठ तथा ब्रह्मपुत्र कहा गया है। पाशुपत संप्रदाय की प्रमुख जानकरी पाशुपत सूत्र से प्राप्त होती है। आर.जी. भंडारकर ने अनुश्रुतियों के आधार पर श्रीकण्ठ को पाशुपत संप्रदाय का संस्थापक माना है। यह शैवों का सबसे प्राचीन संप्रदाय है जिसकी उत्पत्ति ईसा–पूर्व दूसरी शताब्दी में हुई थी। पुराणों के अनुसार इस संप्रदाय की स्थापना लकुलीश अथवा लकुलीन नामक ब्रह्मचारी ने की थी। वायु एवं लिंग पुराणों में लकुलिश के जन्म एवं कार्यों का वर्णन मिलता है। कारवां महात्म्य के अनुसार लकुलीश का जन्म विश्वराज ब्राह्मण एवं उनकी पत्नी सुदर्शन से बड़ौदा के निकट अवखल नामक स्थान पर उल्कापुरी नामक ग्राम में हुआ

टिप्पणी

था। बाल्यकाल में ही उन्होंने अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य किए। सात महीने जीवित रहने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु अवस्था में ही एक कछुए के द्वारा वे जलेश्वर लिंग ले जाए गए जहां उन्हें नया जीवन प्राप्त हुआ। यहां से कायारोहण जाकर उन्होंने शैव धर्म का प्रचार प्रारंभ किया। लकुलीश ने अपने चार शिष्यों–कुशिक, गर्ग, मित्र तथा कौरुषेय की सहायता से पाशुपत संप्रदाय का प्रचार किया। इस संप्रदाय के अनुयायी लकुलीश को शिव का 28वां और अंतिम अवतार मानते हैं। ये लोग अपने हाथ में दण्ड धारण करते थे जिसे शिव का प्रतीक माना जाता था। इसका प्राचीनतम अंकन कुषाण शासक हुविष्क की एक मुद्रा पर मिलता है। इस संप्रदाय के अनुयायी गुप्तकाल में भी थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्तम्भ लेख के आधार पर लकुलिश की तिथि निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। इस अभिलेख में उदिताचार्य नामक एक पाशुपत मतानुयायी के द्वारा दो शिवलिंगों के दान का उल्लेख है। यह लिंग उनके गुरु भागवत कपिल तथा गुरु के गुरु भागवत उपमति के नाम पर रखे गए। बाणभट्ट ने कादम्बरी में पाशुपत संप्रदाय का उल्लेख किया है तथा लिखा है कि इसके अनुयायी अपने मस्तक पर भस्म पोतते थे और हाथ में रुद्राक्ष की माला धारण करते थे। ह्वेनसांग सिन्ध तथा अहिच्छत्र के लोगों को पाशुपत मतानुयायी कहता है। उसने राख लपेटे पाशुपत योगियों का वर्णन किया है। राजपूत काल में इस संप्रदाय का व्यापक प्रचार था तथा अनेक शासकों ने इसे संरक्षण प्रदान किया। चाहमान विग्रहपाल के एक लेख में पाशुपत संप्रदाय की चर्चा है। कलचुरि–चेदि वंश के शासक भी इस मत के मानने वाले थे। कहीं–कहीं पाशुपत तथा शैव को एक–दूसरे का पर्याय बताया गया है। शैव संतों के लिए 'पाशुपत आचार्य' संज्ञा का प्रयोग मिलता है। महेश्वर द्वारा रचित 'पाशुपतसूत्र' तथा वायु पुराण से पाशुपत संप्रदाय के सिद्धान्तों का ज्ञान होता है। पाशुपत संप्रदाय के अन्तर्गत पांच पदार्थों की सत्ता को स्वीकार किया गया है–

(क) कार्य– जिसमें स्वतन्त्र शक्ति नहीं है उसे कार्य कहा जाता है। इसमें जड़ तथा चेतन की सभी सत्तायें आ जाती हैं।

(ख) कारण– जो सभी वस्तुओं की सृष्टि तथा संहार करता है वही कारण है। यह स्वतन्त्र तत्व है जिसमें असीम ज्ञान तथा शक्ति होती है। यही परमेश्वर (शिव) है।

(ग) योग– इसके द्वारा चित्त के माध्यम से जीव तथा परमेश्वर में सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके दो प्रकार हैं–क्रियात्मक (जप, तपादि) तथा अक्रियात्मक (क्रियाओं से निवृत्त होकर तत्व–ज्ञान की प्राप्ति करना)।

(घ) विधि– जीव को महेश्वर की प्राप्ति कराने वाले साधन को विधि कहा गया है। मुख्य (चर्या) तथा गौण इसके दो विभेद हैं। शरीर पर भस्म लगाना, मन्त्र, जप, प्रदक्षिणा आदि इसके प्रमुख अंग माने गए हैं।

(ङ) दुखान्त– इसका अर्थ है दुःखों से मुक्ति पाना। इसके दो भेद बताये गए हैं–अनात्मक अर्थात् मात्र दुखों से छुटकारा तथा सात्मक अर्थात् ज्ञान और कर्म की शक्ति द्वारा अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करना।

भारत तथा विश्व के कुछ अन्य भागों में आज भी पाशुपत संप्रदाय विद्यमान है। नेपाल के काठमाण्डू का पशुपतिनाथ मन्दिर आज भी इस मत के श्रद्धालुओं का विशिष्ट केंद्र है।

टिप्पणी

(3) कापालिक संप्रदाय

शैव मत के कापालिक एवं कालमुख संप्रदाय का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। कापालिक शैव धर्म का अतिवादी संप्रदाय है। संभवतः कापालिक मत का विकास दक्षिण भारत या दक्कन में हुआ था। आठवीं शताब्दी में यह दक्कन के हर क्षेत्र में व्याप्त था। आठवीं शताब्दी के पश्चात् यह गुजरात, बुन्देलखंड, विन्ध्य क्षेत्र तथा भारत के अन्य क्षेत्रों में विस्तृत हो गया। कापालिक का पहला विवरण याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राप्त होता है। मैत्रायणी उपनिषद् में कापालिक उन लोगों के लिए वर्णित है जो लाल वस्त्र एवं कुण्डल धारण करते हैं। हाल द्वारा प्रथम शताब्दी ईसवी में रचित गाथासप्तशती में कापालिकों पर व्यंग्य किया गया है। उसमें एक ऐसी स्त्री कापालिक का वर्णन है जिसने अपने पति की चिता की भस्म को अपने शरीर पर लगा रखा है। बौद्ध महायान ग्रंथ ललितविस्तर में कापालिकों को मूर्ख की संज्ञा दी गई है। इस मत के अनुयायी सुरा–सुन्दरी का पान करते हैं, जटा–जूट रखते हैं, मांस ग्रहण करते हैं, शरीर पर श्मशान की भस्म मलते हैं, लाल वस्त्र पहनते हैं, मुण्डित हैं, त्रिदंड, एक पात्र, मानव कपाल तथा खटवंग को लेकर चलते हैं तथा हाथ में नरमुण्ड धारण करते हैं। भैरव को प्रसन्न करने के लिए वे मनुष्यों तक की बलि देते थे। मनुष्य के मांस को वो पूजा पर अर्पित करते थे तथा शव के साथ साधना करते थे। इस मत के उपासक अत्यन्त क्रूर स्वभाव के होते हैं। भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक से ज्ञात होता है कि श्रीशेल नामक स्थान कापालिकों का प्रमुख केंद्र था।

कापालिकों की आराधना पद्धति सौम्य या सोम सिद्धांत कहलाती है। प्रबोधचंद्रोदय पर आधारित टीकाओं के अनुसार सौम्य का अर्थ उमा के साथ या उमा सहित होता है। अतः इस शिव आराधना में उमा की उपस्थिति आवश्यक है। कापालिकों की आराधना शिव के भैरव के अवतार के रूप में व्यक्तिगत भक्ति पर आधारित है। आनंदगिरि के शंकरविजय में यह उल्लेख है कि कापालिक शिव को सृष्टि का सृजक, पोषणकर्ता एवं संहारक मानते थे। आनंदगिरि ने भैरव के आठ प्रकार माने हैं– असितन, रुरु, चन्द, क्रोध, उन्मत, कपालिन, भीषण तथा संहार। इनके प्रथम सात की तुलना क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, रुद्र, इंद्र, चंद्र तथा यम से की जाती है। आठवें संहार भैरव स्वयं भैरव का ही रूप हैं।

कापालिकों का उद्देश्य केवल परम ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं थी बल्कि सांसारिक जीवन में सिद्धियों को प्राप्त करना भी था। ये सिद्धियाँ निम्न थी– अणिमाया (स्वयं को छोटे आकार में करना), लघिमा (शक्ति प्राप्त करना), गरिमा (बृहद रूप में आना), महिमा (अत्यंत बृहद रूप धारण करना), ईशत्व (शरीर एवं मस्तिष्क पर नियंत्रण), प्राकम्य (इच्छाशक्ति पर नियंत्रण), वासीत्व (पंच तत्वों पर नियंत्रण), कामवासीत्व आदि। व्यास के योगभाष्य में भी कापालिकों के ऐसे विचारों का विवरण प्राप्त होता है।

(4) कालमुख संप्रदाय

ऐसा प्रतीत होता है कि कालमुख संप्रदाय कापालिकों की एक शाखा है। शिव पुराण में इस संप्रदाय के अनुयायियों को महाव्रतधर कहा गया है। कालमुख नाम के अनेक अर्थ हैं–'समय का सामना करना' या 'मृत्यु का सामना करना' या 'काले मुख वाले'। यह भी कापालिकों की भांति एक अतिवादी शैव संप्रदाय है तथा महाकाल एवं काल भैरव स्वरूप की उपासना करता है। कालमुखों का वर्णन मुख्यतः पूर्व–मध्य काल में

टिप्पणी

कर्नाटक क्षेत्र में प्राप्त होता है। यामुनाचार्य एवं रामानुज ने इन संप्रदायों का वर्णन किया है। कालमुख संबंधी बहुत–से अभिलेख कर्नाटक क्षेत्र में प्राप्त होते हैं। संभवतः इन शैव उपासकों को कालमुख इसलिए कहा गया क्योंकि ये अपने माथे पर काला टीका लगाते थे। रामानुज ने कालमुखों की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं– कपाल में भोजन प्राप्त करना, शव भस्म को पूरे शरीर में लगाना, भस्म को ग्रहण करना, मदिरा पात्र तथा दंड रखना आदि। अभिलेखों से पता चलता है कि कालमुख पाशुपत संप्रदाय का एक अंग था तथा इसने पाशुपत की अनेक विशेषताओं को स्वीकार किया था–

(क) दोनों संप्रदाय लकुलीश को आराध्य देव मानते हैं।

(ख) पाशुपत तथा कालमुख दोनों एक प्रकार के नाम रखते हैं तथा केदारनाथ एवं श्री पर्वत की तीर्थयात्रा पर जाते हैं।

(ग) कालमुखों के कोडियमठ में लकुलीश का लकुल सिद्धांत प्रमुख धर्म ग्रंथ है।

दक्षिण में प्राप्त अभिलेखों के अनुसार कालमुख के दो संप्रदाय थे––शक्ति परिषद तथा सिंह परिषद। शक्ति परिषद अधिक प्रचलित संप्रदाय था। इनका मुख्य केंद्र शिमोगा जिले में बेलगांव का केदारेश्वर मंदिर है। इस मंदिर में दक्षिण केदारेश्वर स्थापित है। बेलगांव का पंचलिंग मंदिर बहुत विख्यात है। 1287 ई. की चित्रा प्रशस्ति के अनुसार सोमनाथ में त्रिपुरान्तक द्वारा पंचलिंग की स्थापना की गई थी। बेलगांव का एक शैव मंदिर भी त्रिपुरांतक को समर्पित है। सोमनाथ के अभिलेखों में यह वर्णित है कि त्रिपुरांतक ने दो प्रमुख कालमुख केंद्रों––हिमालय में केदार तथा कुरुनुल में श्री पर्वत की तीर्थ यात्रा की थी। कालमुख के दूसरे संप्रदाय सिंह परिषद के मंदिर गुन्टूर, बेल्लारी, बीजापुर तथा गुलबर्गा जिलों में मिलते हैं।

(5) वीरशैव या लिंगायत संप्रदाय

वीर शैव अथवा लिंगायत शैव धर्म का ही एक संप्रदाय था जिसका प्रचार बारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत (विशेष तौर पर कर्नाटक तथा तेलुगु प्रदेश) में व्यापक रूप से हुआ। इस संप्रदाय ने दक्षिण के सामाजिक–धार्मिक जीवन में वास्तविक क्रान्ति लाने के लिए एक जन–आन्दोलन का सूत्रपात किया। लिंगायत संप्रदाय का संस्थापक बसव था। कुछ विद्वान् शैवों की उत्पत्ति पांच पौराणिक ऋषियों––रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा शिवाराध्य से मानते हैं। इनका जन्म शिव के पांच विशिष्ट लिंगों से हुआ था। कुछ लेखक इसके सिद्धान्तों को ऋग्वेद तथा उपनिषदों से निःसृत बताते हैं। किन्तु इस प्रकार की मान्यता के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। हमें बसव तथा उसके भांजे और शिष्य चन्नाबासव के आधार पर ही लिंगायत मत के विषय में प्रमाणिक जानकारी प्राप्त होती है।

बसव का जन्म बीजापुर जिले के वगेवाडी नामक ग्राम में हुआ था। वे मादिराज तथा मादलाम्बिका के पुत्र थे जो ब्राह्मण थे। परम्परा के अनुसार उनका जन्म शैव संप्रदाय के उद्धार के लिए हुआ जो उस समय पतनोन्मुख था। आठ वर्ष की आयु में उन्होंने शैव मत का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन्होंने स्वयं को शिव का विशेष भक्त बताया तथा घोषणा की कि वे संसार में जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए आए हैं। कल्चुरी शासक बिज्जल ने उन्हें अपना प्रधानमंत्री, प्रधान सेनापति तथा कोषाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। इन पदों पर रहते हुए उन्होंने अपने मत का जोरदार

टिप्पणी

प्रचार किया। इस कार्य में उन्हें अपने योग्य भांजे चन्नाबासव की सहायता मिली। इस प्रक्रिया में उन्होंने जैन आदि कुछ धार्मिक संप्रदायों पर अत्याचार भी किया। धीरे–धीरे उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई तथा उनके संप्रदाय ने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। उसके एक कट्टर अनुयायी का नाम एकानद रामप्य मिलता है जिसने इस मत के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। फ्लीट का तो यह मानना है कि लिंगायत आन्दोलन का वास्तविक जनक यही था तथा बसव के बहुत बाद में इसको राजनीतिक सहायता प्रदान की।

लिंगायत मत के प्रचारकों ने अपना पूरा साहित्य कन्नड़ गद्य में लिखा जिसे 'वचन' कहा जाता है। वचन एक–दूसरे से पृथक अनुच्छेद है। प्रत्येक के अन्त में शिव का कोई न कोई नाम आता है जिससे उनकी वन्दना की जाती है। प्रायः 200 वीर शैव लेखक हुए जिनमें कुछ महिलायें भी थीं। धन का घमण्ड, कर्मकाण्ड तथा पुस्तकीय ज्ञान की निस्सारता, जीवन की अनिश्चितता, शिव भक्तों का आध्यात्मिक विशेषाधिकार आदि इनके विषय हैं। लोगों को सांसारिक धन–दौलत एवं सुख के साधनों के परित्याग, संसार में अलिप्तता का जीवन व्यतीत करने तथा शिव की शरण में जाने का उपदेश दिया गया है। वचन के उपदेश अत्यन्त उपदेशात्मक, भक्तिपूर्ण एवं सारगर्भित हैं। बसव ने अपना जने. तोड़ दिया, वर्णाश्रम धर्म, संन्यास, तप आदि को नकारते हुए मोक्ष का अधिकार सभी जातियों को प्रदान किया।

लिंगायत संप्रदाय के अनुयायी अपने साथ हमेशा एक छोटा सा शिवलिंग रखते थे। यह सामान्यतः रेशम के वस्त्र या एक चाँदी की डिबिया में रहता था जिसे वे अपनी गरदन में धागे से बांधकर लटकाये रहते थे। लिंगायत संतों की संख्या 770 मानी गई है तथा ये तमिल शैवाचार्यों को अपना आध्यात्मिक गुरु मानते थे। ये लिंग और नन्दी की पूजा करते थे। बसव को नन्दी का अवतार बताया गया है। ये ब्राह्मण–विरोधी हैं तथा मूर्ति–पूजा एवं पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते तथा यज्ञों के अवसर पर दी जाने वाली बलि का भी ये विरोध करते हैं। इनमें बाल–विवाह को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा विधवा–विवाह को मान्यता दी गई थी। ये स्त्रियों को मासिक धर्म की अवस्था में अपवित्र नहीं मानते हैं। धार्मिक एवं सामाजिक पाखण्डों पर बसव द्वारा दिया गया यह व्यंग उल्लेखनीय है–

"बूचड़खाने से लाई जाने वाली भेड़ उस माला के पते को खाती है जिससे उसे सजाया जाता है। सांप के मुँह में पड़ा हुआ मेंढक अपने मुँह के पास पड़ी हुई मक्खी को निगलना चाहता है। ऐसा ही हमारा जीवन है। मृत्यु के मुँह में ढकेला जाने वाला व्यक्ति दूध और घी पीता है.....जब वे पत्थर में खुदा हुआ सांप देखते हैं तो उस पर दूध चढ़ाते हैं और यदि जीवित साँप दिखाई देता है तो वे 'मारो–मारो' चिल्लाते हैं। परमात्मा के सेवक को–जो भोजन परोसने पर खा सकता है–वे कहते हैं भाग जा, भाग जा, परन्तु परमात्मा की प्रतिमा को–जो खा नहीं सकती–वे भोग लगाते हैं।"

लिंगायतों के संगठन में मठों का प्रमुख स्थान था। इस संप्रदाय के सभी सदस्यों के बीच पूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक समानता देखने को मिलती है। ऐसा इस्लाम एवं जैन धर्म के प्रभाव से संभव हुआ। बासव ने तीर्थ–यात्रा, यज्ञ–बलि आदि का विरोध किया। वह दाह–संस्कार का भी विरोधी था तथा उसने मृतकों को समाधिस्थ करने की

टिप्पणी

बात कही। उसके कुछ अनुयायी आज भी दफन किए जाते हैं। लिंगायतों के अधिक उदार सामाजिक विचारों के कारण निम्न जाति के लोगों का उन्हें समर्थन प्राप्त हुआ तथा उनके धर्म ने एक लोक धर्म का रूप ग्रहण कर लिया। ये 63 नयनार संतों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं तथा उन्हें अपना प्राचीन गुरु मानते हैं। इसके पश्चात् वे ऋषियों का भी सम्मान करते हैं।

लिंगायत निष्काम कर्म में विश्वास करते हैं। शिव को परम तत्व माना गया है जो पूर्णतया अहंता एवं स्वतंत्र है। सृष्टि की उत्पत्ति शिव से ही होती है तथा भक्ति के कारण उसका शिव से तादात्म्य होता है। इस संप्रदाय में लिंग पूजा का विशेष स्थान है। लिंग के तीन भेद किए गए है–

(क) भाव लिंग : यह सर्वश्रेष्ठ परम तत्व है जो दिक काल की सीमा से परे है। यह कलाविहीन एवं सत्य स्वरूप है। इसका साक्षात्कार केवल सहा से किया जा सकता है।

(ख) प्राण लिंग : यह कलाविहीन तथा कलायुक्त दोनों है। इसका साक्षात्कार सूक्ष्म दृष्टि से हो सकता है।

(ग) इष्ट लिंग : यह स्थूल रूप है जिसे नेत्रों से देखा जा सकता है। यह शरीर पर धारण किया जाने वाला शिवलिंग है।

इन तीनों को क्रमशः सत, चित् तथा आनन्द कहा गया है। लिंग की शक्ति को कला तथा अंग की शक्ति को भक्ति कहा गया है। शिव के दो भेद है–अंग स्थल तथा लिंग स्थल। पहला उपास्य तथा दूसरा उपासक (जीव) है। लिंगायतों का मानना है कि जो विधिवत उनके मत में दीक्षित होता है, उसे मुक्ति प्राप्त होती है। कुछ विद्वानों के अनुसार यही लिंग परमात्मा की प्राप्ति का प्रतीक है। इस प्रकार लिंगायत संप्रदाय 12वीं शताब्दी में एक सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन के रूप में प्रवर्तित हुआ जिसने अपने समकालीन समाज एवं धर्म की कुरीतियों पर जोरदार प्रहार किया। लेकिन इसके बावजूद दक्षिण में वर्णाश्रम धर्म का प्रचलन बना रहा तथा ब्राह्मणों की जातिगत श्रेष्ठता विद्यमान रही। हैदराबाद और मैसूर के कुछ भागों में आज भी लिंगायत संप्रदाय अस्तित्व में है।

(6) कश्मीरी शैव संप्रदाय

कश्मीर में शैव धर्म का एक नया संप्रदाय विकसित हुआ जो सिद्धान्त तथा आचार में अन्य संप्रदायों से भिन्न था। इसे कश्मीरी शैव संप्रदाय इसलिए कहा जाता है क्योंकि इस दर्शन को विकसित करने वाले विद्वान कश्मीर के निवासी थे। इसे त्रिक दर्शन की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इसकी तीन शाखाएं हैं––आगम शास्त्र, स्पन्दन शास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। टी. एम. पी. महादेवन इस पद्धति के तीन अवयव मानते हैं त्रिक, स्पंद एवं प्रत्यभिज्ञा। एक अन्य विचारधारा के अनुसार ये तीन प्रकार के ज्ञान– अभेद, भेदाभेद तथा भेद में विश्वास करते हैं, इसलिए त्रिक कहलाते हैं।

यह शुद्ध रूप से दार्शनिक अथवा ज्ञानमार्गी संप्रदाय है जिसमें कापालिकों के घृणित आचारों जैसे सुरा–सुन्दरी पान, शरीर पर श्मशान की भस्म लगाना, नरकपाल में भोजन, मानव तथा पशु की बलि चढ़ाना आदि की कटु शब्दों में निन्दा की गई है। इसमें ज्ञान को ही परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र साधन माना गया है।

टिप्पणी

इस संप्रदाय में शिव को अद्वैत शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। वह सर्वव्यापी है तथा जगत् उसी का रूप है। वह शक्ति के साथ मिलकर सृष्टि की रचना करता है। चित्त, आनन्द, ज्ञान क्रिया, इच्छा–ये उसकी शक्तियां मानी जाती हैं। जीव अपने वास्तविक रूप में शिव ही है किन्तु अज्ञानता के कारण उसे वास्तविकता का बोध नहीं हो पाता। अज्ञानता का आवरण हटते ही वह शिव की प्राप्ति कर लेता है। यह मोक्ष है। इस मत में भक्ति की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त प्रमुख संप्रदायों के अतिरिक्त शैव धर्म में कुछ अन्य संप्रदायों का भी प्रचलन हुआ। 10 वीं शताब्दी के अन्त में मत्स्येन्द्रनाथ ने 'नाथपंथी' नामक संप्रदाय की स्थापना की। इसमें शिव को आदिनाथ स्वीकारते हुए नौ नाथों को दिव्य पुरुष के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। इनकी क्रियायें तथा आचार वज्र यानी बौद्धों से मिलते–जुलते हैं। नाथों की साधना–पद्धति में नारी का प्रमुख स्थान है। 10–11 वीं शताब्दी में बाबा गोरखनाथ ने इस संप्रदाय का अधिकाधिक प्रचार–प्रसार किया था।

अपनी प्रगति जांचिए

4. भगवान शिव से संबंधित धर्म क्या कहलाता है?

(क) वैष्णववाद (ख) शाक्तवाद

(ग) शैववाद (घ) आलवार

5. शिव भक्ति का प्रथम स्पष्ट वर्णन किस उपनिषद् में मिलता है?

(क) श्वेताश्वतर उपनिषद् (ख) ऐतरेय उपनिषद्

(ग) तैत्तिरीयोपनिषद् (घ) मुण्डकोपनिषद्

6. पाशुपत संप्रदाय का प्रारंभिक वर्णन किस महाकाव्य में मिलता है?

(क) रामायण (ख) कुमारसम्भव

(ग) रघुवंश (घ) महाभारत

4.4 दक्षिण भारत के आलवार और नयनार

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का विकास आलवार आंदोलन के रूप में विकसित हुआ। आलवार का अर्थ 'ज्ञानी व्यक्ति' होता है अर्थात जिसने अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गोता लगाया हो। आलवार संतों की संख्या बारह बताई गई है। इनके नाम थे––पोयगई, भूतल्लवार, पेई या पेयालवार, तिरुमलिशै, नम्मालवार, मधुरकवि, कुलशेखर, पेरियालवार, आण्डाल, तोण्डरडिप्पोलि, तिरुप्पान तथा तिरुमगै आलवार। ये सब पूर्ण रूप से ईश्वर के प्रति समर्पित और आश्रित थे। इन आलवार संतों का जन्म तमिल क्षेत्र के भिन्न–भिन्न स्थानों पर हुआ था। पोयगै, भूतत्तावार, पेय तथा तिरुमलिशै का जन्म पल्लव क्षेत्र में हुआ था। कुलशेखर चेर राज्य का निवासी था। नम्मालवार, मधुरकवि, पेरियालवार तथा आण्डाल पाण्ड्य क्षेत्र के थे। तोण्डरडिप्पोडि, तिरुप्पन एवं तिरुमगै चोल देश के निवासी थे। इन संतों में तिरुप्पनरूप एवं नम्मालवार वेल्लाल वर्ग के थे। पेरियालवार ब्राह्मण, कुलशेखर राजा तथा तिरुमंगै लुटेरा वर्ग के थे। आलवार आंदोलन संभवतः पल्लवों के यहां से प्रारंभ होकर चोल राज्य के मार्ग से तिन्नेवल्ली तक पहुंच

टिप्पणी

गया। अधिकांश विद्वान इस वैष्णव आंदोलन का काल सातवीं–आठवीं शताब्दी मानते हैं। प्रारंभिक आलवार भूतल्लवार, पेयालवार, पोयगै का काल सातवीं शताब्दी माना जाता है। तिरुप्पान, तिरुमलिशै, तिरुमंगै, कुलशेखर, तोण्डरडिप्पोलि, पेरियालवार एवं आण्डाल का काल आठवीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है। नम्मालवार एवं मधुरकवि दसवीं शताब्दी के हैं।

आलवार संत

आलवार संतों की भक्ति उत्तर भारत की रूढ़िवादी एवं पारम्परिक विचारधारा के विरुद्ध थी। आलवारों के अनुसार सरल माध्यम से ईश्वर की भक्ति ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। भूतल्लवार का मानना है कि वेदों का ज्ञान कीर्तन है। वेदों को न पढ़ सकने वाला व्यक्ति भी यदि कृष्ण का कीर्तन करे तो उसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की संतान है तथा उसके प्रति अनुराग रखकर वह मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। आलवार संतों की रचना 'दिव्य प्रबन्ध' कहलाती है। इसमें आलवार कवियों की रचनाओं का संग्रह है। आलवार संत लोकप्रियता से दूर रहे। ये इतने सरल और सीधे स्वभाव के संत थे कि ये न तो किसी को दुख पहुंचाते थे और न ही किसी से कुछ अपेक्षा करते थे। आलवारों ने भजन, कीर्तन, नामोच्चारण, मूर्तिदर्शन आदि के माध्यम से वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इनके उपदेशों में दार्शनिक जटिलता नहीं थी। वे गोपीभाव को सर्वोत्तम मानते हैं तथा ईश्वर के प्रति विरह में तन्मय हो जाते हैं (स्त्रीभावनां समधिगम्य मुनिर्मोह)। ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है। अज्ञानी व्यक्तियों की जिस प्रकार विषयभोगों में उत्कट प्रीति होती है, उसी प्रकार की उत्कट प्रीति जब नित्य भगवान् में होती है, तब भक्ति का उदय होता है। जैसे कोई प्रेमिका अपने प्रियतम के विरह में निरन्तर उसका चिन्तन किया करती है तथा उत्कट प्रेम में लीन होकर प्रियतम से मिलने को आतुर रहती है, वैसे ही भक्त की मनोदशा अपने प्रियतम परमात्मा के मिलन के लिए होती है। आलवार संत भक्ति को 'काम' कहते हैं किन्तु यह लौकिक काम से भिन्न सच्चिदानन्द भगवान के प्रति दिव्य प्रेम है। जिस प्रकार कालिदास के यक्ष ने मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रियतमा के पास भेजा था, उसी प्रकार आलवार संत भी उड़ते हुए हंसों तथा पक्षियों को दूत बनाकर उनसे निवेदन करते हैं कि यदि उन्हें कहीं उनके प्रियतम कृष्ण दिखाई पड़ें तो उनसे कहें कि वे क्यों उन्हें भूल गए और उनके पास नहीं आते। आलवार संत नश्वर संसार के विषयों से उसी प्रकार संपृक्त नही होते जैसे कीचड़ से कमल।

इस प्रकार आलवार सच्चे विष्णु भक्त थे। श्रीमद्भागवत् में आत्मनिवेदन अर्थात् ईश्वर में पूर्ण समर्पण को सर्वोत्तम भक्ति माना गया है। आलवार संतों ने प्रेमाभक्ति द्वारा आत्म–समर्पण को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया। कुछ महान आलवार संतों का वर्णन इस प्रकार है––

1. नम्मालवार

सबसे बड़े आलवार संत नम्मालवार थे। इनका दूसरा नाम शठकोप बताया जाता है। इनका जन्म ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित तिरुक्कुरुकूर नामक ग्राम में हुआ। इनकी रचनाएं दिव्य प्रबंध में संकलित हैं। दिव्य प्रबंध के 4000 पद्यों में से 1000 पद्य इन्हीं के हैं। इनकी रचनाएं तिरुविरुत्तम्, तिरुवाशिरियम्, पेरियतिरुवन्तादि तथा तिरुवायमोलि थीं जिन्हें दक्षिण में 'चतुर्वेद' कहा जाता है। नम्मालवार के अनुसार ईश्वर अंतर्यामी, सर्वव्यापी तथा सर्वत्र विद्यमान है। आत्मारूपी मंदिर से इसे खोजा जा सकता है।

नालायिरप्रबंधम् का लगभग एक चौथाई भाग इसी की रचना है इसे तिरुवायमोलि कहा जाता है। इस काव्य में प्रेम की अत्यंत सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

टिप्पणी

2. पेरियालवार

पेरियालवार का दूसरा नाम विष्णुचित है। इनका जन्म श्रीविल्लिपुत्तुर में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पेरियालवार की तिरुप्पल्लाडु नामक रचना सर्वाधिक प्रसिद्ध है। आण्डाल इन्हीं की पोषित कन्या थी। एक अनुश्रुति के अनुसार पेरियालवार ने इसे जमीन की खुदाई करते समय वृक्ष के नीचे प्राप्त किया था। पेरियालवार ने पाण्ड्य शासक को अपने प्रभाव से वैष्णव बना लिया था।

3. कुलशेखर

इनका जन्म थिरूवणिजकुलम स्थान पर शुक्ल पक्ष की द्वादशी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में हुआ था। ये केरल प्रदेश के चेर वंशीय राज घराने से थे। ऐसा माना जाता है कि एक रात भगवान नारायण ने कुलशेखर को स्वप्न में दर्शन दिए। बस उसके बाद से कुलशेखर सब कुछ भूलकर उनकी भक्ति में लीन हो गए। उन्हें संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने राजपद त्यागकर कृष्ण भक्ति अपनाई। कुलशेखर के द्वारा रचित पद पेरुमाल तिरुमोलि कहलाते हैं। मुकुन्दमाला जिसकी तुलना गीतगोविंदम् से होती है, की रचना भी इन्होनें ही की थी।

4. मधुरकवि

इनका जन्मस्थान तिरुक्कालूर नामक ग्राम है। ये नम्मालवार के शिष्य थे और उनके गीतों को मधुर कंठ में गाते थे। इसीलिए इन्हें मधुरकवि कहा गया। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। इनके गुरु की प्रशंसा में लिखे गए गीत अत्यंत प्रसिद्ध हैं। मधुरकवि ने गुरु भक्ति एवं ईश्वर भक्ति को समान माना है।

5. आण्डाल

बारह आलवारों में आण्डाल एकमात्र महिला थी। इसे पेरियालवार की पुत्री माना जाता है। दक्षिण भारत में यह कृष्ण गोपी भक्ति की प्रवर्तक थी। आण्डाल के भक्ति गीतों में 'नाच्चियार तिरमोलि' तथा तिरुप्पावै प्रसिद्ध है। आण्डाल एवं उनकी सहेलियां सूर्योदय से पूर्व स्नान कर कृष्ण मंदिर जाती थी तथा रास लीला का अनुभव करती थीं। विश्वास है कि इन्होंने अपना विवाह श्रीरंगनाथ के साथ रचाया और उसे बड़ी धूमधाम से संपन्न किया। इनकी भक्ति की तुलना राजस्थान की प्रख्यात कृष्णभक्त कवयित्री मीरा से की जाती है। आण्डाल को दक्षिण की मीरा कहा जाता है।

6. तिरुप्पान

योगवाह या मुनिवाहन या तिरुप्पान का जन्म निम्न कुल में हुआ था। हिंदू किंवदंती के अनुसार, उनका जन्म पानर समुदाय के एक जोड़े से हुआ था। इन्होंने ईश्वर भक्ति में दस पदों की रचना की थी जिन्हें अमलानाथिपिरण कहा जाता है। इनके कार्यों ने वैष्णववाद के दार्शनिक और धार्मिक विचारों में योगदान दिया। ये करुणा एवं क्रंदन से ईश्वर की आराधना करते थे। इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान रंगनाथ ने मंदिर के एक पुजारी को आदेश दिया कि वह अपने कंधे पर बैठाकर इन्हें ईश्वर के समक्ष उपस्थित करे।

टिप्पणी

7. तोण्डरडिप्पोडि

तोण्डरडिप्पोडि का जन्म विप्रकुल में हुआ। इनका दूसरा नाम विप्रनारायण है। यह नर्तकी के भंवर में फंसकर अपनी सुध–बुध खो बैठे थे। इन्हें भगवान रंगनाथ की कृपा से मुक्ति प्राप्त हुई। इनके द्वारा सृजित पद 'तिरुमालै' तथा 'तिरुप्पल्लि एलुच्चि' के नाम से जाने जाते हैं। इनका मानना है कि मनुष्य की सौ वर्ष की आयु आधी निद्रा तथा अन्य कार्यों में बीतती है। अतः मनुष्य को अपने जीवन का सदुपयोग करना चाहिए। ये पुनर्जन्म के पक्षधर न होकर मुक्ति में विश्वास रखते थे।

8. तिरुमंगै

तिरुमंगै का जन्म तमिलनाडु के एक छोटे से गांव थिरुकुरईलुर में कल्लर समुदाय में हुआ था। इनका असली नाम कालियान या कलिकांती था। ये चोल सैन्य अधिकारी थे। वैष्णव पत्नी के प्रभाव में आकर ये वैष्णव हो गए थे। श्रीरंगम् के मंदिर निर्माण में इन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया। इनकी प्रमुख रचनाएं पेरियतिरुमोलि तिरुक्कुरुण्डाण्डकम्, तिरुनेडुडाण्डकम्, तिरुवेलुरिरुकै, शिरियतिरुमंडल तथा पेरिय तिरुमंडल है। इनकी भक्ति का स्वरूप प्रेमी और प्रेमिका के रूप में है। इन्होंने जैन एवं बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रचार किया तथा श्रीरंगम् के मठ की मरम्मत के लिए नंगपट्टम् के बौद्ध विहार से एक सोने की मूर्ति चुरायी थी।

आलवार आंदोलन के बाद इसके दार्शनिक स्वरूप पर आधारित श्री वैष्णव संप्रदाय का विकास हुआ जिसके प्रमुख आचार्य कहलाते थे। इसके संस्थापक नाथ मुनि नामक आचार्य माने गए हैं। परंतु इसके वास्तविक संस्थापक यामुनाचार्य थे। श्री वैष्णव संप्रदाय विशिष्ट अद्वैत पर आधारित था तथा इनकी उपासना का आधार ईश्वर के प्रति समर्पण था जिसे प्रपत्ति कहा जाता था। इस संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य रामानुजाचार्य थे। नाथमुनि नम्मालवार के शिष्य थे। वैष्णव आचार्यों ने प्रपत्ति की अवधारणा विकसित की, जिसे व्यावहारिक रूप से नम्मालवार ने विकसित किया था। श्री वैष्णव संप्रदाय के प्रमुख आचार्य रंगनाथाचार्य या नाथमुनि, पुंडरीकाक्ष (उटायकोन्दर), राममिश्र, यामुनाचार्य (आल्वंदर) तथा रामानुजाचार्य थे। 1137 ईसवीं में रामानुजाचार्य की मृत्यु के पश्चात् श्री वैष्णव संप्रदाय दो भागों में विभक्त हो गया––वडकलै संप्रदाय एवं तैन्कलै संप्रदाय। वडकलै संप्रदाय, जिसे उत्तरी संप्रदाय भी कहा जाता है, के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति प्रबंधमय तमिलवेद की अपेक्षा वेदों, उपनिषदों या गीता के ज्ञान से संभव है। तैन्कलै संप्रदाय दक्षिणी केंद्र कहलाता है। इसके अनुसार परमज्ञान का आधार प्रबंधम् ही है।

वडकलै संप्रदाय

कुरुकेश ने श्री वैष्णव वडकलै संप्रदाय की स्थापना की। विष्णुचित्र (एगल आल्वार), वरदाचार्य (नाडाटूर अम्माल), आरेय रामानुज (अप्पिलार), वेदांतदेशिक (वेंकटनाथ), आदिवण, साठकोय स्वामी (श्री निवासाचार्य) तोलप्प एवं अन्य इसके प्रमुख आचार्य थे। वडकलै की भक्ति प्रपत्ति पर आधारित थी। ये कर्म पर बल देते हैं। वडकलै के अनुसार श्री लक्ष्मी भी मोक्ष प्रदान करने की शक्ति रखती हैं, परंतु वडकलै जाति व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे तथा गैर–ब्राह्मणों को आध्यात्मिक शिक्षा देने के विरोधी थे। ये गैर–ब्राह्मणों को शिक्षा देते समय 'ओम्' शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। उनकी भक्ति

'मार्कटकिशोरन्याय' कहलाती थी। जिस प्रकार बंदर का बच्चा अपने कर्म के द्वारा अपनी माता से चिपका रहता है उसी प्रकार प्रपत्ति का प्रयास (कर्म) आवश्यक है।

टिप्पणी

तैन्कलै संप्रदाय

एम्बार श्री वैष्णव तैन्कलै संप्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं परन्तु पिल्लै लोकाचार्य इस संप्रदाय के वास्तविक संस्थापक हैं। पराशरभट्ट, नन्जियर, नम्पिल्लै, कृष्णपाद (वडक्कुत्तिरुवीदिपिल्लै), अलगियमणवाल (वरवरमुनि) व अन्य इसके प्रमुख संत हैं। तैन्कलै संप्रदाय भी ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रपत्ति पर बल देता था। यह संप्रदाय श्री लक्ष्मी को मोक्ष प्रदान करने वाली देवी नहीं स्वीकार करता है। यह एक उदारवादी संप्रदाय है। इनका विचार था कि निम्न जाति का सच्चा भक्त ब्राह्मण के समान है तथा उससे शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। ये हर जाति से समान व्यवहार करते हैं। इनकी भक्ति परंपरा 'माजर्रकिशोरन्याय' कहलाती है अर्थात् जिस प्रकार बिल्ली का बच्चा बिना उसके स्वयं के प्रयास से अपनी माता द्वारा मुंह में दबाकर ले जाया जाता है उसी प्रकार ईश्वर प्राप्ति के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं है। केवल ईश्वर प्रेम पर्याप्त है तथा मोक्ष उसी की कृपा से प्राप्त होता है।

नयनार संत

हिन्दू धर्म में नयनार भगवान शिव के भक्त संत थे। इनका उद्भव मध्यकाल में मुख्यतः दक्षिण भारत के तमिलनाडु में हुआ था। इनका काल छठी से नवीं शताब्दी माना जाता है तथा नयनारों की संख्या 63 मानी गई है। इन सभी शैव संतों ने भजन–कीर्तन, शास्त्रार्थ एवं उपदेशों के माध्यम से तमिल समाज में शिव भक्ति का जोरदार प्रचार किया। इन्होंने भक्ति को ईश्वर–प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया। इनके भक्ति गीतों को एक साथ 'तेवारम्' में संकलित किया गया है। नयनार जाति–पाति के विरोधी थे तथा उन्होंने समाज के सभी वर्गों के लोगों में जाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। नयनार संतों में ब्राह्मण, व्यापारी, किसान, चरवाहे, मछुवारे, कुम्हार, बुनकर, अछूत आदि सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे। प्रमुख नयनारों में कारैक्काल अम्मे नामक स्त्री, आदनूर का नंदन शिरुमोण्डर, अप्पर अथवा तिरुनावुक्करशु, तिरुज्ञान सम्बन्दर, सुंदरमूर्ति, मणिक्कवाचकर व अन्य हैं। इनमें चार प्रमुख नयनारों को समयाचार्य कहा जाता है। कालक्रम के अनुसार इनके नाम निम्न हैं–

1. अप्पर (660–681 ई.) – दास मार्ग (Path of Servant) का प्रतिपादन
2. सम्बन्दर (640–660 ई.) – सतपुत्र मार्ग (Path of Good Son) का प्रतिपादन
3. मणिक्कवाचकर (660–692 ई.) – सखा मार्ग (Path of Friend) का प्रतिपादन
4. सुंदरमूर्ति (710–735 ई.) – सत् मार्ग (True Path) का प्रतिपादन

1. अप्पर

नयनार संत अप्पर का दूसरा नाम तिरुनावुक्करशु था तथा घरेलू नाम मरुनीक्कियार था। सम्बन्दर ने इनसे मिलकर इन्हें अप्पा (पिता) कहकर संबोधित किया इसलिए ये अप्पर कहलाए। अप्पर का जन्म दक्षिण अर्कीट के तिरुवामूर के एक शैव वेल्लाल परिवार में हुआ था। बताया जाता है कि पहले वे एक जैन मठ में रहते हुए भिक्षु जीवन व्यतीत करते थे तथा श्रमण के रूप में पाटलिपुत्र के एक विहार में निवास

टिप्पणी

करने लगे। बाद में शिव की कृपा से उनका एक असाध्य रोग ठीक हो गया जिसके फलस्वरूप जैन मत का परित्याग कर वे निष्ठावान शैव बन गए। जैन धर्म के भिक्षुओं ने इस बात से नाराज होकर पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन प्रथम से उनकी शिकायत की। महेन्द्रवर्मन ने अप्पर की कड़ी परीक्षा ली। शिव की कृपा से ये सभी परीक्षाओं में खरे उतरे। महेन्द्रवर्मन ने अप्पर की आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर स्वयं शैव धर्म स्वीकार कर लिया। अप्पर ने 307 पडिगम या स्तुतियों की रचना की जो तिरुमुरै के प्रथम तीन अध्यायों में हैं। अप्पर एवं सम्बन्दर की भेंट तंजौर जिले के शियाली नामक स्थान पर हुई। वेल्लाल परिवार से संबंध होने के कारण आमजन में इनके उपदेशों का तीव्रता से प्रसार हुआ। अप्पर ने शिव के तीन रूपों की कल्पना की है। एक रूप में शिव विश्व के संहारक हैं। दूसरे में शिव एवं शक्ति का संयोग हैं। तीसरा स्वरूप प्रकाश स्तंभ है। यह अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का परम लक्ष्य इसी अंतिम स्वरूप की प्राप्ति करना है।

2. सम्बन्दर

सम्बन्दर का जन्म 7वीं शताब्दी के मध्य में तमिलनाडु राज्य के सिरकली में कौडिण्य गोत्रीय ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके अन्य नाम अलदै पिल्लैयर, पलरावोयार, मुतमिलविरहर, सम्बन्ध स्वामी इत्यादि हैं। तीन वर्ष की बाल्यावस्था में जब उनके पिता मंदिर के तालाब में स्नान कर रहे थे, वे चिल्लाए "अम्मे अप्पा"। इस पर भगवान शिव प्रकट हुए और पार्वती ने दिव्य बालक को दूध पिलाया तथा शिव ज्ञान प्रस्तुत किया। पिता की वापसी पर बालक ने अपना पहला 'तेवारम' गाया। सम्बन्दर अप्पर के समकालीन थे। सम्बन्दर ने शिव भक्ति पर 384 पडिगम की रचना की। इनकी रचनाओं को 'तेवारम' में प्रथम स्थान दिया गया है। सम्बन्दर के ज्ञान से प्रभावित होकर एक पाण्ड्य राजकुमारी तथा उसके मंत्री ने उन्हें आमंत्रित किया। राजकुमारी अपने पति एवं प्रजा को शैव मत में परिवर्तित करना चाहती थी। सम्बन्दर को इस कार्य में सफलता मिली। 'पेरियपुराणम्' के अनुसार जिस मकान में सम्बन्दर अपने ब्राह्मण भक्तों के साथ ठहरे हुए थे उसमें जैनों ने आग लगाने की योजना बनायी, लेकिन योजना उजागर हो गई और खतरा टल गया। राजा अचानक बीमार भी हो गया। और जब उसके जैन सलाहकारों से उसे नीरोग करने के लिए कहा गया तो वे राजा को ठीक नहीं कर सके। तब रानी और मन्त्री ने सम्बन्दर की चिकित्सा कराने के लिए राजा से प्रार्थना की। सम्बन्दर की प्रार्थना से राजा स्वस्थ हो गया। परंपरा के अनुसार 8000 जैनों को सूली पर चढ़ा दिया गया, जिसकी स्मृति मदुरा में आज भी उत्सव मनाया जाता है। सम्बन्दर पाण्ड्य शासक मारवर्मा अवनिशूलपाणि तथा नरसिंह पल्लव के समकालीन था।

3. सुंदरमूर्ति

सुंदरमूर्ति (सुंदरार) का जन्म आठवीं शताब्दी में निर्धन ब्राह्मण परिवार में थिरुनवलूर नाम के गांव मे हुआ था। उनके बचपन का नाम "नम्बि अरुरार" था। वे भगवान शिव के भक्त थे और चार तमिल साम्य अचार्यो मे से एक हैं। बाल्यकाल में इनकी सुंदरता से मुग्ध होकर तिरुमुनैप्पाडिनाडु के सेनापति नारसिन्ध मुनैयार ने इनका पालन पोषण किया था। व्यक्तिगत हस्तक्षेप के कारण विवाह सुनिश्चित होने पर भी उन्होंने विवाह

टिप्पणी

नहीं किया था लेकिन वे तिरुवालूर की एक नर्तकी तथा तिरुवोडियूर की शूद्र कन्या के प्रेमपाश में बंध गए। सुंदरमूर्ति की आयु केवल 18 वर्ष स्वीकार की जाती है। परंपरा के अनुसार उसने 10000 पडिगम भक्ति गीतों की रचना की थी। इसमें केवल 100 प्राप्त हैं जो तिरुमुरै के सातवें अध्याय में हैं। इनके सबसे प्रसिद्ध पदतिरुत्तोण्डततौगे हैं। वे चेर राजा चेरमान पेरुमल के मित्र थे। उन दोनों ने साथ–साथ तीर्थो की यात्रा भी की थी। सुंदरमूर्ति की मृत्यु तिरुवन्जिकल्लम नामक स्थान पर हुई थी। सुंदरमूर्ति को 'तम्बिरान तोलन' (ईश्वर का मित्र) भी कहा जाता है। सुंदरमूर्ति के माता–पिता की गणना 63 नयनारों में की जाती है।

4. मणिक्कवाचगर

मणिक्कवाचगर (माणिकवासगर) का जन्म वादवुर (मदुरा) में हुआ इसलिए उन्हें तिरुवत्तवूर कहा जाता है। उनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पाण्ड्य राजा अरिकेसरि परान्कुस मारवर्मन ने उनकी विशद विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें 'तेन्नवन ब्रह्मार्यन' की उपाधि से विभूषित कर मंत्री नियुक्त किया। इस पद पर कार्य करते हुए भी ये शिव भक्ति में तल्लीन रहते थे। कहा जाता है कि तिरुप्पेरुन्तुरै में माणिक्कवाचगर को भगवान के दर्शन हुए जो कुरुंथ वृक्ष के नीचे आसीन थे। यह घटना उस समय हुई जब माणिक्कवाचगर को राजा ने अपने लिए घोड़े क्रय करने के लिए तिरुप्पेरुन्तुरै भेजा। माणिक्कवाचगर ने घोड़े खरीदने के बजाए राजकीय धन से मंदिर का निर्माण कराया तथा वहीं रह गए। घोड़ों के न आने पर राजा ने उन्हें कारागार में बंद कर दिया। उन्हें सेवामुक्त कर दिया गया। इसके पश्चात् उन्होंने अपना समस्त जीवन शिव भक्ति को समर्पित कर दिया। इनके भजन तिरुवसगम (तिरुवाचकम्) के रूप में संकलित हैं। यह इनके आध्यात्मिक जीवन की आत्मकथा है। तिरुवाचकम् का अंग्रेजी अनुवाद जी.यू. पोप ने किया है। माणिक्कवाचगर को शिव ज्ञान तिरुप्पेरुन्तुरै नामक स्थान पर हुआ तथा चिदम्बरम में उनका मुख्यालय था। यहीं उनकी मृत्यु भी हुई थी।

अपनी प्रगति जांचिए

7. वैष्णव धर्म आलवार आंदोलन के रूप में सर्वप्रथम कहां पर विकसित हुआ?

(क) पूर्वी भारत में (ख) दक्षिण भारत में

(ग) उत्तरी भारत में (घ) पश्चिमी भारत में

8. आलवार संतों की संख्या कितनी मानी गई है?

(क) 10 (ख) 11

(ग) 12 (घ) 13

9. सबसे बड़े आलवार संत कौन–से थे?

(क) नम्मालवार (ख) पेरियालवार

(ग) कुलशेखर (घ) मधुरकवि

4.5 शाक्त धर्म एवं दर्शन तथा तंत्रवाद के सिद्धांत

टिप्पणी

शाक्त धर्म का पहला अभिलेखीय साक्ष्य हड़प्पा सभ्यता कालीन मुद्राओं से प्राप्त होता है। हमें यहां से मातृदेवी की पूजा के प्रमाण मिले हैं। उस समय माता रूप में प्रकृति या पृथ्वी की पूजा होती थी। ऋग्वेद में देवी पूजा का वर्णन है, परंतु वह गौण स्वरूप में है। उत्तर वैदिक साहित्य में देवी पूजा का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वैदिक साहित्य में अदिति और पृथ्वी को देवताओं की कोटि में रखकर आदि शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। अथर्ववेद में शक्ति का निरूपण किया गया है। कालिदास के 'कुमारसंभव' में भी कार्तिकेय या कुमार के जन्म का विवरण है। कालिदास की एक अन्य रचना 'विक्रमोर्वशीयम्' में लक्ष्मी एवं सरस्वती को एक–दूसरे की शत्रु बताया गया है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में वर्णित है कि धनाढ्य लोग सरस्वती के मंदिर में नृत्य–गान करने के लिए भ्रमण करते थे। 'हर्षचरित' में बाणभट्ट ने साबरो देवी के उग्र स्वरूप की भक्ति का वर्णन किया है। वाक्पति ने 'गौडवाहो' में भी साबरों के विंध्यवासिनी की पूजा का उल्लेख किया है तथा उनके द्वारा दी जाने वाली मानव बलि का भी वर्णन किया है। 'रामचरित' में संध्याकरनंदी ने उमा के उत्सव का वर्णन किया है। 'कालविवेक' नामक ग्रन्थ में जीमूतवाहन ने अपने शक्ति पीठों के वीभत्स कृत्यों का उल्लेख किया है। कश्मीर के आनंदवर्धन के 'देवी सूक्त' में मातृदेवी की पूजा का उल्लेख हुआ है। शंकर के 'सौन्दर्यलहरी' में भी देवी पूजा का वर्णन है। 423 ई. के गंगधर अभिलेख में डाकिनी के मन्दिरों का उल्लेख है। यशोवर्मन के मंदसौर अभिलेख में क्षितिज अर्वन्य का वर्णन है जिसे उमा एवं पार्वती से जोड़ा गया है। खोह ताम्रपत्र अभिलेख में पिष्ठपुरी के मंदिर निर्माण तथा उसके रख–रखाव के लिए दान का वर्णन है। दक्षिण में पल्लव अभिलेखों में शक्ति का उल्लेख है। शिलापाप्दीकरम में मालवर्भकिलागई (विष्णु की बहन) का वर्णन है। महाबलिपुरम्, महिषासुरमर्दिनी गुफा तथा शिगोवरम के रंगनाथ गुफा में महिषासुरमर्दिनी दुर्गा को अनंतशायी विष्णु के साथ वर्णित किया गया है। विजयालय तथा आदित्य चोल के काल में भी शक्ति पूजा का प्रचलन था। तिरुवालनगड्ड पत्र के अनुसार राजेंद्र चोल ने निशुम्भवादिनी के मंदिर का निर्माण कराया था। तमिल दुर्गा मंदिरों जैसे महाबलिपुरम् के आदिवराह गुफा मंदिर तथा कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिरों में दुर्गा एवं सिंह के साथ हिरन का भी अंकन है। तमिल शक्ति पूजा में लक्ष्मी की बड़ी बहन अलक्ष्मी का भी उल्लेख है। शिलापाप्दिकरम् में वर्णित कणग्गी पूजा का आधार भी शक्ति पूजा ही है।

शाक्त धर्म का उद्‌भव एवं विकास

देवी को सृष्टि निर्मात्री एवं शक्ति पुंज मानकर की जाने वाली आराधना शाक्त पूजा कहलाती है। प्राचीन भारत में देवताओं के साथ–साथ देवियों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है तथा शक्ति (देवी) की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से होती रही है। वैष्णव तथा शैव धर्मों की भांति शाक्त धर्म भी बहुत लोकप्रिय रहा है। क्रमशः शक्ति के साथ अनेक नाम संयुक्त हो गए जैसे– दुर्गा, काली, भवानी, चामुण्डा, रुद्राणी, लक्ष्मी, सरस्वती, आदि। दुर्गा को आदिशक्ति मानकर उन्हें सृष्टिकर्ता, पालन तथा संहारकर्ता के रूप में मान्यता प्रदान की गई।

टिप्पणी

शाक्त धर्म का शैव धर्म के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। शिव की पत्नी पार्वती (उमा) को जगज्जननी कहा जाता है। शैव संप्रदाय की ही भांति शाक्त मत की प्राचीनता भी प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। भारत में इलाहाबाद, मिर्जापुर की बेलन घाटी से पुरापाषाण कालीन मातृदेवी की हड्डियों की मूर्ति मिली है। हड़प्पा सभ्यता में मातृदेवी की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। खुदाई में माता देवी की बहुसंख्यक मूर्तियां प्राप्त होती हैं। हड़प्पा, मोहनजोदडो, चान्हूदाडों आदि स्थानों से मातृदेवी की मुद्राएं प्राप्त हुई हैं। उनके स्वरूप को देखकर उन्हें मुख्यतः प्रजनन शक्ति से संबंधित माना गया है। वैदिक साहित्य में अदिति, उषा, सरस्वती, श्री, लक्ष्मी आदि देवियों के विषय में विस्तृत सूचना मिलती है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में देवीसूक्त प्राप्त होता है जिसमें वाक्शक्ति की पूजा की गई है। वे एक स्थान पर कहती हैं–"मैं समस्त जगत की अधीश्वरी हूँ, अपने भक्तों को धन प्राप्त कराने वाली, ब्रह्म को अपने से अभिन्न मानने वाली तथा देवताओं में प्रधान हूँ। मैं सभी भूतों में स्थित हूँ। विभिन्न स्थानों में रहने वाले देवगण जो कुछ भी कार्य करते हैं वह सब मेरे लिए ही करते है"। देवीसूक्त से ही शक्ति पूजा का प्रारंभ माना जाता है। ऋग्वेद में उषा का 20 सूक्तों में वर्णन है तथा अन्य देवों के साथ इसे 300 बार वर्णित किया गया है। उषा सृजक, रक्षक, दुष्टसंहारक आदि स्वरूप में है लेकिन यह केवल प्राकृतिक शक्ति के रूप में वर्णित है। इसे मानवीय स्वरूप नहीं प्रदान किया गया है। उषा को सोमयज्ञ का कोई भाग समर्पित नहीं किया जाता है तथा इंद्र के द्वारा उषा के बलात्कार का वर्णन है। डी. डी. कौशांबी ने इन्हीं तथ्यों के आधार पर उषा को एक अवैदिक देवी माना है। ऋग्वेद में अदिति सर्वशक्तिमान मातृदेवी की तरह वर्णित है। वह माता, पिता तथा पुत्र के रूप में वर्णित है। सभी देवगण, पञ्चजन, भूत तथा भविष्य सभी कुछ अदिति ही हैं। मैक्समूलर के अनुसार अदिति अनंत को वर्णित करने वाली प्रथम देवी हैं। ऋग्वेद में लगभग 21 नदियों का वर्णन है। सरस्वती प्रथम नदी है जिसे देवी के रूप में स्वीकारा गया था। सरस्वती की ऋग्वेद में सौभाग्यदायिनी कहकर स्तुति की गई है (सरस्वती न सुभगामयस्करत)। पृथ्वी का वर्णन ऋग्वेद के केवल एक सूक्त में है, परंतु अथर्ववेद में वह महान देवी है जो सृजन, पोषण एवं संहार की शक्तियों से युक्त है। अथर्ववेद में पृथ्वी को माता कहकर उसकी पुत्र, धन, मधुर वचन प्रदान करने के लिए स्तुति की गई है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि शक्ति की महत्ता को वैदिक ऋषियों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। शक्ति की उपासना के उद्भव के पीछे वैदिक एवं अवैदिक दोनों ही प्रवृत्तियों का योगदान रहा है।

अंबिका, उमा, दुर्गा, काली व अन्य देवियाँ उत्तर वैदिक काल में मुख्य देवियों के रूप में स्थापित हुई। अंबिका का पहला विवरण यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में मिलता है। यहां इसे रुद्र की बहन कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह अंबिका रुद्र की बहन है लेकिन तैत्तिरीय आरण्यक में रुद्र को अंबिका का पति (अंबिकापति) कहा गया है। केन उपनिषद् में देवी को विशेष तौर पर उमा को पर्वतों, वनस्पतियों आदि से संबंधित बताया गया है। उमा या पार्वती को शिव की पत्नी एवं हिमालय की पुत्री कहा गया है। उमा को गिरिपुत्री, गिरिजापुत्री, शैलजापुत्री, नागराजपुत्री, पर्वतराजकन्या आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। ये उपाधियां हिमालय से उनके सम्बन्ध का प्रतीक हैं। रामायण में उमा पार्वती को गंगा की छोटी बहन तथा मेघ एवं हिमालय की पुत्री कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में दुर्गा का संबंध यज्ञीय अग्नि से जोड़ा गया

टिप्पणी

है। उमा और दुर्गा का संबंध अग्नि से जोड़ा गया है तथा दुर्गा को अग्नि की पुत्री माना गया है। मुंडक उपनिषद् में अग्नि की सात जिह्वायें– काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधुम्रवर्णी, स्फुल्लिंगिनी तथा विश्वरुचि बताई गई हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में दुर्गा, विरोचिनी, कात्यायनी तथा कन्याकुमारी को अग्नि से संबंधित बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में शक्ति का सीधा वर्णन है। पौराणिक साहित्य में देवी को भवानी नाम से संबोधित किया गया है। भवानी भव की पत्नी तथा सौम्य स्वरूप की देवी है। इसी प्रकार रुद्राणी, रुद्र शिव की पत्नी है।

महाभारत एवं पुराणों में देवी माहात्म्य का विस्तृत विवरण मिलता है। महाभारत के काल तक शाक्त संप्रदाय समाज में ठोस आधार प्राप्त कर चुका था। भीष्मपर्व में वर्णित है कि श्री कृष्ण के परामर्श से अर्जुन ने युद्ध में विजय प्राप्त करने के निमित्त देवी दुर्गा की पूजा की थी। वहीं बताया गया है कि प्रातःकाल शक्ति की उपासना करने वाला व्यक्ति युद्ध में विजय प्राप्त करता है तथा उसे लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। विराट पर्व में युधिष्ठिर ने देवी को विन्ध्यवासिनी, महिषासुरमर्दिनी, यशोदा के गर्भ से उत्पन्न, नारायण की परमप्रिया तथा श्री कृष्ण की बहन कहकर उनकी स्तुति की है। माना जाता है कि देवी ने नन्दगोप के कुल में यशोदा के गर्भ से जन्म लिया। कंस द्वारा कन्या रूप में शिला पर पटके जाने पर वह आकाश मार्ग से चली गई तथा विन्ध्यपर्वत पर जाकर बस गई। पुराणों में भी विन्ध्यपर्वत को देवी का निवास स्थान बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में देवी की महिमा का विस्तृत गुणगान करते हुए उसकी उपासना की गई है। देवी को सभी प्राणियों में विष्णु–माया, चेतना, निद्रा, बुद्धि, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, लज्जा, जाति, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ तथा भ्रान्ति रूपों में स्थित बताकर उनकी स्तुति की गई है। उसे स्वर्ग तथा अपवर्ग एवं सभी प्रकार के मंगलों को देने वाली कहा गया है। उसकी सृष्टि, पालन तथा संहार की शक्तिभूता, सनातनी देवी, गुणों का आधार तथा गुणमयी कहकर स्तुति की गई है। ऐसा वर्णन मिलता है कि महिषासुर का वध करने के लिए विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देवताओं के मुख से निसृत तेजपुंज से शक्ति की उत्पत्ति हुई। उसे सभी देवताओं ने अपने–अपने अस्त्र प्रदान किए। शिव ने शूल, विष्णु ने चक्र, वरुण ने शंख, वायु ने धनुषबाणयुक्त तरकस, अग्नि ने तेज, इन्द्र ने वज्र, यमराज ने दण्ड, ब्रह्मा ने कमण्डलु, काल ने ढाल और तलवार तथा विश्वकर्मा ने देवी को भेंट किया। उस शक्ति ने महिषासुर का वध किया जिससे वह 'महिषासुरमर्दिनी' नाम से विख्यात हुई। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा की कथा एवं स्तुति से सम्बन्धित 'दुर्गासप्तशती' नामक अंश है जिसका पाठ नवरात्रि के दिनों में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक किया जाता है। एक अन्य कथा में बताया गया है कि देवता जब शुम्भ तथा निशुम्भ जैसे असुरों से पीड़ित हुए तब उन्होंने हिमालय पर्वत पर जाकर आराधना की। इससे प्रसन्न होकर देवी ने स्वयं को प्रकट किया तथा असुरों का विनाश कर डाला। वह अम्बिका, काली, चामुण्डा, कौशिकी व अन्य नामों से विख्यात हुई। देवी की उपासना तीन रूपों में की जाती थी––शान्त या सौम्य रूप, उग्र या प्रचण्ड रूप तथा कामप्रधान रूप।

इन तीनों रूपों के अन्तर्गत अनेक देवियों की कल्पना की गई है। सामान्यतः देवी के सौम्य रूप की उपासना की जाती थी। उमा, पार्वती, लक्ष्मी आदि नाम उसके सौम्य रूप के ही प्रतीक हैं। दुर्गा, चण्डी, भैरवी, कापाली आदि नाम उग्र रूप प्रकट

टिप्पणी

करते हैं। कापालिक एवं कालमुख संप्रदाय के लोग इसी रूप की आराधना करते हैं। इसमें देवी को प्रसन्न करने के लिए पशुओं की बलि दी जाती है तथा सुरा, मांस आदि का प्रयोग मुख्य रूप से होता है। कामप्रधान रूप में देवी की उपासना शाक्त संप्रदाय के लोगों द्वारा की जाती है जो उसे आनन्द भैरवी, त्रिपुर–सुन्दरी, ललिता आदि नाम प्रदान करते हैं। देवी के तीनों रूपों के मन्दिर भारत के विभिन्न भागों में वर्तमान में भी हैं। सौम्य रूप का मन्दिर जम्मू के निकट वैष्णोदेवी का है जहां शारदा की मूर्ति है। इसी प्रकार का एक मन्दिर सतना (मध्यप्रदेश) के निकट मैहर में ऊंची पहाड़ी पर स्थित है। कलकत्ता में स्थित काली का मन्दिर देवी के उग्र रूप का है तथा असम का 'कामाख्या मन्दिर' देवी के कामप्रधान रूप का प्रतिनिधित्व करता है।

शक्ति की पूजा प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक अबाध गति से होती आई है तथा हिंदुओं में अत्यंत लोकप्रिय है। शक्ति–पूजा का पहला ऐतिहासिक पुरातात्विक प्रमाण कुषाण शासक हुविष्क के सिक्कों पर अंकित देवी के चित्रों में मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि ईसा की पहली शताब्दी तक देवी की मूर्तियां निर्मित होने लगी थीं। गुप्तकाल में पौराणिक हिन्दू धर्म की उन्नति हुई। इस समय विभिन्न देवताओं के साथ–साथ देवियों की उपासना भी व्यापक रूप से की जाती थी। इस काल में नचना–कुठार में पार्वती के मन्दिर का निर्माण हुआ। दुर्गा, गंगा, यमुना व अन्य देवियों की बहुसंख्यक मूर्तियां इस काल में विभिन्न स्थलों से मिलती हैं। गंगा तथा यमुना का अंकन गुप्तकालीन मन्दिरों के चौखटों पर मिलता है। राजा हर्षवर्धन के काल में भी शक्ति पूजा का अत्यधिक प्रचलन था। बाणभट्ट द्वारा रचित हर्षचरित में अनेक स्थानों पर दुर्गा देवी की उपासना का उल्लेख मिलता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि उस काल में दुर्गा देवी को मनुष्यों की भी बलि दी जाती थी। वह लिखता है कि एक बार समुद्र से यात्रा करते हुए उसे डाकुओं ने पकड़ लिया तथा दुर्गा देवी की बलि चढ़ाने के निमित्त उसे ले गए थे, किन्तु तूफान ने उसकी जान बचाई। बाणभट्ट की कादंबरी में सबर जनजाति का वर्णन देवी को नर बलि अर्पित करने वालों के रूप में हुआ है।

पूर्व–मध्यकाल में देवी की पूजा अत्यन्त लोकप्रिय थी। देवी के अधिकांश मन्दिर इसी युग के निर्मित हैं। मध्य प्रदेश के जबलपुर में भेड़ाघाट के पास चौंसठ योगिनी का मन्दिर है जहां नवीं–दसवीं शताब्दियों में अनेक देवी मूर्तियों का निर्माण किया गया था। इनमें दुर्गा और सप्तमात्रिकाओं की चौवालीस मूर्तियां हैं। खुजराहो से भी इसी प्रकार की मूर्तियां प्राप्त होती हैं। उड़ीसा, राजस्थान आदि के विभिन्न भागों से देवी की मूर्तियां तथा उसकी पूजा से सम्बन्धित लेख प्राप्त होते हैं। प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल के लेखों में दुर्गा की महिषासुरमर्दिनी, कांचनदेवी, अम्बा व अन्य नामों की स्तुति मिलती है। राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष महालक्ष्मी का अनन्य भक्त था। संजन लेख से ज्ञात होता है कि उसने एक बार अपने बाएं हाथ की अंगुली काटकर देवी को भेंट कर दी थी। पूर्व–मध्यकाल के साहित्यकारों तथा विदेशी लेखकों ने देवी के मन्दिरों और उसकी उपासना का वर्णन किया है। कल्हण के विवरण से पता चलता है कि शारदा देवी का दर्शन करने के निमित्त गौड़ नरेश के अनुयायी कश्मीर आए थे। मुगल बादशाह अकबर का दरबारी इतिहासकार अबुल फजल भी शारदा देवी के मन्दिर का विवरण देता है।

टिप्पणी

शाक्त धर्म के सिद्धांत तथा आचार

शाक्त धर्म के अनुयायी महामातृ देवी को आदि शक्ति मानकर उसी की पूजा करते हैं। वही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार करती है। शक्ति साधक देवी के किसी एक रूप को इष्ट मानकर उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने में विश्वास रखता है। वस्तुतः शक्ति, शिव का ही क्रियाशील रूप है। इस धर्म में भक्ति, ज्ञान तथा कर्म तीनों को महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें तन्त्र–मन्त्र, ध्यान, योग आदि का भी स्थान है। सांसारिक भोगों को मोक्ष के मार्ग में साधक माना गया है। शाक्त धर्म में 'कुण्डलिनी' नामक रहस्यमय शक्ति का अत्यधिक महत्व है। विशेष रूप से माना जाता है कि शक्ति, कुण्डलिनी के रूप में मानव शरीर के गुदा आधार तक स्थित होती है। साधना तथा मन्त्रों के द्वारा जब यह शक्ति जागृत की जाती है तभी मुक्ति मिलती है। कौलमार्गी शाक्त पंचमकारों अर्थात् मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन की उपासना के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में विश्वास रखते है।

शाक्त संप्रदाय में देवी की उपासना प्रायः तीन प्रकार से की जाती है–प्रथम में महापद्मवन में शिव की गोद में बैठी हुई देवी का ध्यान किया जाता है। द्वितीय में भूर्जपत्र, रेशमी वस्त्र या स्वर्णपत्र की सहायता से नौ योनियों का वृत्त बनाकर उसके बीच में एक योनि का चित्र खींचकर चक्र बनाया जाता है जिसे 'श्रीचक्र' कहते हैं। इसकी पूजा दो प्रकार से की जाती है एक जीवित स्त्री की योनि की तथा दूसरे काल्पनिक योनि की। तृतीय पद्धति में दार्शनिक ढंग से ज्ञान के द्वारा देवी की पूजा की जाती है। इसमें अध्ययन तथा ज्ञान को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई है। कुत्सित आचरणों की इसमें निन्दा करते हुए उन्हें त्याज्य बताया गया है। इस विधि द्वारा देवी की उपासना करने वाले व्यक्ति ही शुद्ध एवं सात्विक भक्त होते हैं।

शाक्त धर्म वर्तमान में भी हिन्दुओं का एक प्रमुख धर्म है। देवी की पूजा देश के विभिन्न भागों में अत्यंत श्रद्धा एवं उल्लासपूर्वक की जाती है। बंगाल, कश्मीर, दक्षिण भारत तथा असम में इस मत का विशेष प्रचलन है। दुर्गा पूजा के अवसर पर देश भर में विविध प्रकार के आयोजन किए जाते हैं। शाक्त धर्म के सिद्धान्त त्रिपुर रहस्य, मालिनी–विजय, डाकार्णव, महानिर्वाण, कुलार्णव आदि तन्त्र ग्रन्थों में उल्लिखित मिलते हैं।

तंत्रवाद के सिद्धांत

ऐसी धार्मिक क्रियायें जिनकी उत्पत्ति गैर–आर्य कबीलाई लोगों के अति प्राचीन प्रजनन संस्कारों से हुई थी उनको बाद में चलकर तंत्रवाद के नाम से जाना गया। हिन्दू परम्परा में तन्त्र मुख्यतः शाक्त संप्रदाय से जुड़ा हुआ है, उसके बाद शैव संप्रदाय से तथा कुछ सीमा तक वैष्णव परम्परा से भी। तन्त्रों को वेदों के काल के बाद की रचना माना जाता है जिसका विकास प्रथम सहस्राब्दी के मध्य के आसपास हुआ। इसका सिद्धान्त है कि कलियुग में वैदिक मंत्रों, जपों और यज्ञों आदि का कोई फल प्राप्त नहीं होता । इस युग में सब प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिए तंत्रशास्त्र में वर्णित मंत्रों और उपायों आदि से ही सहायता मिलती है। इस शास्त्र के सिद्धान्त बहुत गुप्त रखे जाते हैं तथा इसकी शिक्षा लेने के लिए मनुष्य को पहले दीक्षित होना पड़ना है। वर्तमान में प्रायः मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के लिए तथा विभिन्न प्रकार

टिप्पणी

की सिद्धियों आदि के साधन के लिए ही तंत्रोक्त मंत्रों और क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। यह शास्त्र मुख्यतः शाक्तों का ही है और इसके मंत्र प्रायः अर्थहीन और एकाक्षरी हुआ करते हैं। जैसे, ह्रीं, क्लीं, श्रीं, स्थीं, शूं, क्रू आदि। तांत्रिक सभी देवताओं की उपासना करते हैं पर उनकी पूजा का विधान सबसे भिन्न और स्वतंत्र होता है। चक्रपूजा तथा अन्य अनेक पूजाओं में तांत्रिक लोग मद्य, मांस और मत्स्य का बहुत अधिकता से व्यवहार करते हैं तथा उनका पूजन करते हैं ।

पूर्व–मध्यकाल तक आते–आते शाक्त धर्म तंत्रवाद से पूर्णतया प्रभावित हो गया और शाक्त– तांत्रिक विचारधारा समाज में अत्यंत लोकप्रिय हो गई। यहां तक कि प्राचीन धर्म भी इसके प्रभाव में आ गए। बौद्ध, कश्मीर शैवमत, वैष्णव, जैन व अन्य सभी धर्मों पर शाक्त–तांत्रिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा तथा तंत्र–मंत्रों में लोगों की आस्था दृढ़ हो गई। जैन संप्रदाय की देवी सचिवा देवी की उपासना शाक्त ढंग से की जाने लगी तथा कुछ जैन आचार्यों ने चौंसठ योगिनियों के .पर सिद्धि प्राप्ति कर लेने का दावा किया। श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ 'नैषधीयचरितम्' में सरस्वती मंत्र की महत्ता का प्रतिपादन किया जबकि गुजरात के चौलुक्य शासक कुमारपाल जैन का नमस्कार मंत्र में अगाध विश्वास था। उसका मानना था कि इसी मंत्र के कारण उसे सर्वत्र सफलता प्राप्त हुई थी।

तंत्रवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप समाज में अनेक अन्धविश्वास दृढ़ हो गए। किन्तु तंत्रवाद से हिन्दू सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारधारा को कुछ लाभ भी हुए। जैसा कि रसार्णव (12 वीं शताब्दी) से स्पष्ट होता है कि तंत्रवाद ने भारतीय रसायन शास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। स्त्रियों की दशा सुधारने तथा जाति–पाति के बंधनों को शिथिल करने की दिशा में भी तांत्रिक विचारधारा का कुछ योगदान रहा। शाक्त–तांत्रिक मत में एक ही देवता की पूजा पर विशेष बल दिया जाता था। इस विचारधारा ने पूर्व–मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन को गति प्रदान की। तांत्रिक सहजयान से ही नाथ संप्रदाय का उदय हुआ जिसने मध्यकाल में कबीर, नानक, दादू व अन्य संतों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

तांत्रिक विचारधारा का आधार 'शक्तिवाद' है। यही कारण है कि कश्मीर शैवमत शक्ति को शिव की अन्तर्निहित प्रकृति तथा सर्वोच्च शक्ति मानता है। यही सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। तांत्रिक धर्म का लक्ष्य 'ज्ञान कर्म समुच्चयवाद' पर केंद्रित है। इसमें जप, तप, मंत्र पर विशेष बल दिया जाता है। इन्हीं के द्वारा साधक स्वास्थ्य, धन तथा शक्ति प्राप्त करता है। सम्प्रति शाक्त उपासना के तीन प्रमुख केंद्र हैं–कश्मीर, काञ्ची तथा असम में स्थित कामाख्या। प्रथम दो श्रीविद्या के मुख्य केंद्र हैं जबकि अन्तिम कौल मत का प्रसिद्ध केंद्र है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

10. देवी को सृष्टि निर्मात्री एवं शक्ति पुंज मानकर की जाने वाली आराधना क्या कहलाती है?

(क) दुर्गा पूजा (ख) लक्ष्मी पूजा

(ग) सरस्वती पूजा (घ) शाक्त पूजा

11. मुण्डकोपनिषद् में अग्नि की कितनी जिह्वायें बताई गई हैं?

(क) पांच (ख) छह

(ग) सात (घ) आठ

12. शाक्त संप्रदाय में देवी की उपासना कितने प्रकार से की जाती है?

(क) दो (ख) तीन

(ग) चार (घ) पांच

4.6 सौर संप्रदाय

हिन्दू देवमंडल में सूर्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था जिनकी कल्पना 'जगत के प्रकाश के स्वामी' के रूप में की गई है। कुछ विद्वान् सूर्य–उपासना की प्राचीनता प्रागैतिहासिक काल तक ले जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य प्रकृति की उन शक्तियों में विशिष्ट था जिसे सर्वप्रथम देवत्व प्रदान किया गया। भारत के अतिरिक्त विश्व की कुछ अन्य प्राचीन सभ्यताओं (मिस्र, पारसीक आदि) में भी सूर्य की पूजा का प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। प्रागैतिहासिक संस्कृतियों में प्रचलित कुछ ऐसे मांगलिक चिह्न– चक्र, स्वास्तिक आदि प्राप्त होते हैं जिनका सम्बन्ध सूर्य–पूजा से जोड़कर यह प्रस्तावित किया गया है कि भारत में पाषाण काल से लेकर आद्यैतिहासिक काल तक सूर्य–उपासना की प्रथा प्रचलित थी। इतिहासकार कीथ का विचार है कि सूर्योपासना की परम्परा में आर्य तथा अनार्य दोनों ही तत्वों का संयोजन था।

ऋग्वैदिक देवमंडल में सूर्य द्युस्थान (आकाश) का प्रमुख देवता स्वीकार किया जाता है। ऋग्वेद में सूर्य को स्थावर जंगम की आत्मा कहा जाता है। यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष देवता है। यहां हम सूर्य की उपासना पाँच रूपों में पाते है–

1. **सूर्य**– यह दिन में दिखाई देने वाला रूप था जिसकी पूजा स्वाभाविक रूप से की जाती थी। आकाश में चमकता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर भगाता है तथा अपने प्रभाव से प्राणियों का मार्ग–दर्शन करता है।
2. **सविता**– प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व सभी प्राणियों को अपने–अपने कार्यों में प्रेरणा या स्फूर्ति देने वाला देवता ही सविता कहलाया। कालान्तर में वैदिक काल के बाद सुविधा की दृष्टि से सविता को ही सूर्य कहा गया। वह विश्व में गति का संचार करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य के इस रूप में दिन में व्यक्त (दिखाई पड़ने वाला) तथा रात्रि में अव्यक्त (न दिखाई पड़ने वाला) दोनों का ही समावेश था। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र का आराध्य देव यही था जिसमें

यह प्रार्थना की गई है कि 'हम उस श्रेष्ठ सविता के तेज का ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है अर्थात् सन्मार्ग में प्रवृत्त करता है' (तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्)।

टिप्पणी

3. **मित्र**– 'मित्र' का अर्थ है सुहृद् या सहायक। मित्र मित्रता और शपथ का देवता है। उसे सुबह के सूरज की रोशनी भी कहा जाता है। इस प्रकार यह सूर्य के संचार का नियामक है। ब्राह्मण ग्रंथों में इसका सम्बन्ध दिन से तथा वरुण का रात्रि से माना गया है। यह सूर्य की रक्षण शक्ति का प्रतिनिधि है। पारसीक धर्म में इसी को 'मित्र' कहा गया है। इसकी पूजा ईरान में भी की जाती थी।

4. **पूषन्**– 'पूषन्' का शाब्दिक अर्थ है– 'पोषण करने वाला'। अतः यह देवता सूर्य की पोषण शक्ति का प्रतिनिधित्व है। वह मिलन का देवता है। पूषन् विवाह, यात्रा, सड़क, और मवेशियों को खिलाने के लिए जिम्मेदार है। वह एक मनोरोगी (आत्मा मार्गदर्शक) था, जो दूसरी दुनिया में आत्माओं का संचालन करता था। इसकी आकृति दाढ़ी तथा जटाओं से युक्त है। इसे पशुओं का रक्षक भी कहा गया है। बाद में उसकी कल्पना मुक्तिदाता देवता के रूप में की गई। औषधियों तथा वनस्पतियों के संवर्धन में भी पूषन् को सहायता देने वाला माना गया है।

5. **विष्णु**– इस शब्द का अर्थ है व्यापकता या व्यापनशीलता। इस प्रकार यह सूर्य के क्रियाशील रूप का प्रतिनिधि है जो आकाश में विचरण करता है। उसके लिए 'उरुक्रम' (विशाल पग) तथा 'उरुगाय' (विशाल गति वाला) विशेषणों का प्रयोग किया गया है। कालान्तर में विष्णु की प्रतिष्ठा एक स्वतंत्र देवता के रूप में हो गई।

ऋग्वेद में सूर्य की अनेक विशेषताओं का वर्णन प्राप्त होता है। माना जाता है कि वह एक श्वेत–अश्व है जिसे उषा लाती है। वह अपने रथ पर सवार होकर आकाश में परिभ्रमण करता है। उसके रथ में एक या अधिक अश्व (अधिकतम सात) रहते हैं। इसी आधार पर कालांतर में उसे 'भगवान सप्त सप्ति' कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य देवों का अनीक (सेना प्रमुख), चराचर की आत्मा, मनुष्यों के सत्–असत् कार्यो का द्रष्टा, समस्त ज्योतियों में सर्वोत्तम तथा विश्वकर्मा है। उसके विविध रूपों एवं महिमा का गान एक सूक्त के अन्तर्गत अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है। गुप्तकाल से सूर्य की प्रतिमाओं में सात अश्व प्रदर्शित किए जाने लगे, किन्तु वैदिक काल तक सूर्य प्रतिमा का आविर्भाव नहीं हुआ था। महाकाव्यों में सूर्य के मानवीय स्वरूप का ही विवरण प्राप्त होता है। उत्तर वैदिक साहित्य–संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्य एवं धर्म सूत्रों आदि में हमें सूर्य की उपासना का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में सूर्य की पूजा करने वालों का एक पृथक संप्रदाय गठित हो गया जिसे 'सौर संप्रदाय' कहा जाता है। इसके अनुयायी मस्तक पर लाल चन्दन लगाते हैं, लाल पुष्पों की माला पहनते हैं तथा गायत्री मन्त्र का जाप करते हैं।

ईसा की प्रथम शताब्दी से हमें सूर्य–उपासना में विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप कुछ परिवर्तन मिलते हैं। आर. जी. भण्डारकार का विचार है कि यह परिवर्तन 'मग' नामक ईरानी पुरोहितों के एक वर्ग के भारत में आने के कारण हुआ। इतिहासकार ने अपने मत की पुष्टि में भविष्य पुराण की एक कथा का संदर्भ प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार कृष्ण के पुत्र साम्ब द्वारा चन्द्रभागा नदी के तट पर सूर्य मन्दिर का निर्माण

टिप्पणी

कराया गया लेकिन इसमें पूजा कराने के लिए कोई भी भारतीय ब्राह्मण तैयार नहीं हुआ। अतः शकद्वीप से पुजारियों को बुलाकर यहां पुरोहित नियुक्त किया गया। इन पुरोहितों ने उत्तर भारत में स्थापित सूर्य पूजा में नए तत्वों का समावेश किया। शकद्वीप को विद्वान ईरान के सिस्तान से पहचानते हैं। गोविन्दपुर (गया–बिहार) से प्राप्त लेख (1137–38 ई.) में भी यही बात वर्णित है। यह लेख मग ब्राह्मणों का विस्तृत विवरण देता है जिसके अनुसार–क्षीर समुद्र से घिरे शाक–द्वीप के पुण्यमय निवास स्थान पर, साम्ब ने इन ब्राह्मणों को अपना अंग मानकर प्रतिष्ठित किया। ये जगत में श्रेष्ठ हैं। इनमें सबसे पहले, समस्त वेदों तथा आत्म–विद्या के ज्ञाता, नित्य यज्ञ क्रिया को पूर्ण करने वाले संसार के द्वार के समान भारद्वाज नामक मुनि मगद्विज नामी महावंश के अलंकार–स्वरूप थे। राजा हर्षवर्धन के काल में भारत में आए चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी चन्द्रभागा नदी तट पर साम्ब द्वारा सूर्य मन्दिर निर्मित कराए जाने का विवरण दिया है। वराह पुराण से ज्ञात होता है कि उसने मथुरा में सूर्य की एक मूर्ति स्थापित करायी थी। कुषाण काल में सूर्य पूजा का प्रचलन बढ़ा। सम्राट कनिष्क ने धार्मिक सहनशीलता की नीति का पालन किया। उसके सिक्कों पर मिइरो (डपकतव–डपीपत, ईरानी मिहिर = सूर्य) का उत्कीर्णन मिलता है। इससे पता चलता है कि भारत में मगों का प्रवेश पहली शताब्दी ईस्वी में हो गया था। बृहत्संहिता से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत में मगों के प्रभाव से ही सौर संप्रदाय स्थापित हुआ जो अपने साथ सूर्योपासना के पूर्वी इरानी रूप को लेकर आए थे। सूर्य मन्दिरों में सूर्य देवता की प्रतिमा स्थापित करने के लिए मग ही विशेष रूप से अधिकृत थे। वे उसी प्रकार सूर्य मन्दिर में पुजारी का कार्य करते थे जिस प्रकार विष्णु के लिए भागवत। कुषाणकालीन ग्रन्थ ललितविस्तर में सूर्य पूजा का वर्णन मिलता है। अल्बरूनी भी मगों को ही सूर्य प्रतिमा का सच्चा पुजारी कहता है। ईरानी पुरोहितों को उत्तर भारत में 'शाकलद्वीपी' या 'शाकद्वीपी ब्राह्मण' कहा गया। आज भी विभिन्न भागों में इनकी बस्तियां हैं तथा ये सूर्य की उपासना विशेष विधि–विधान के अनुसार करते हैं। निश्चय ही शाकलद्वीपी ब्राह्मण ईरानी पुरोहितों (मगों) के ही वंशज हैं जो यहां सूर्य–पूजा की नई परम्परा साथ लेकर आए थे।

गुप्तकाल ब्राह्मण धर्म की उन्नति का काल था जहां धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण में विभिन्न देवी–देवताओं की उपासना की जाती थी। उस काल में सूर्य की पूजा के प्रमाण भी हमें लेख तथा साहित्य से मिलते हैं। गुप्तकालीन मध्यप्रदेश से प्राप्त 436 ई. के कुमारगुप्तकालीन मंदसौर अभिलेख में दशपुर की तन्तुवाय श्रेणी (रेशमी वस्त्र बनाने वाले बुनकरों) द्वारा शिल्प से प्राप्त धन से सूर्य का एक मन्दिर बनाए जाने तथा क्षतिग्रस्त होने पर पुनः उसकी मरम्मत कराने का उल्लेख मिलता है। इस लेख का प्रारम्भ ही सूर्य की स्तुति से होता है जिसके अनुसार "अस्तित्व के अभिलाषी देवगण, यौगिक सिद्धि के अभिलाषी सिद्धगण, निरन्तर ध्यानमग्न संयमी एवं मोक्षार्थी भोगीगण, वरदान और शाप देने में समर्थ कठोर तप करने वाले मुनिगण द्वारा जो भक्तिपूर्वक पूजित हैं, वे संसार की सृष्टि और विनाश के कारण सूर्य (भगवान) आप सबकी रक्षा करें। जिसके वास्तविक स्वरूप को तत्वज्ञानी तथा साधना में लीन ब्रह्मर्षि लोग भी नहीं जान पाते, जो अपनी फैली हुई किरणों से समस्त त्रिलोक का पोषण करते हैं, जो उदित होते ही गन्धर्व, देव, किन्नर, सिद्ध तथा मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होते हैं, जो अपने भक्तों की अभिलाषा को पूर्ण करते हैं उस (भगवान) सविता को नमस्कार

टिप्पणी

हो.....जो उदयाचल के उत्तुंग एवं विस्तृत शिखरों पर अपनी रश्मि समूह को फैलाकर प्रतिदिन प्रकाशित होते हैं, जो मदोन्मत्त स्त्रियों के कपोलों की भांति रक्त वर्ण तथा सुन्दर किरणों से अलंकृत हैं, वह सूर्य (भगवान) आपकी रक्षा करें।" सूर्य–मन्दिर के निर्माण का उल्लेख स्कन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र (गुप्त संवत् 146) में भी मिलता है। पता चलता है कि क्षत्रिय अचल वर्मा तथा भृकुंठ सिंह ने इन्द्रपुर (बुलन्दशहर स्थित इन्दौर) में सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था। लेख का प्रारम्भ सूर्य स्तुति से होता है–'जिनका ब्राह्मण विधिवत प्रबुद्ध मन से ध्यान करते हैं, जिनका अन्त न तो देवता और असुर जानते हैं, जिनका स्मरण कर लोग विविध रोगों से मुक्ति पाते हैं, वे जगत् पीठ रश्मि–आकार सूर्य (हमारी) रक्षा करें।'

हूण राजा मिहिरकुल के ग्वालियर लेख से ज्ञात होता है कि यहां पहाड़ी पर मातृचेट ने एक सूर्य–मन्दिर का निर्माण कराया था। हर्षवर्धन के काल के साहित्य से सूर्य–पूजा के व्यापक प्रचलन का पता चलता है। हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन सूर्य के भक्त थे। हर्ष स्वयं शिव तथा बुद्ध के साथ–साथ सूर्य का उपासक था। प्रयाग की सभा में उसने बुद्ध और शिव के साथ–साथ सूर्य की भी उपासना की थी। बाणभट्ट के विवरण से ज्ञात होता है कि उज्जैन में सूर्य–पूजा का प्रचलन था। ह्वेनसांग ने 'सी–यु–की' में लिखा है कि मुल्तान में सूर्य का प्रसिद्ध मन्दिर था जिसकी मूर्ति सोने की बनी थी। अल्बरूनी ने भी इस मंदिर के बारे में लिखा है। उसमें अलौकिक शक्ति थी। समूचे भारत के राजा और सरदार वहां जाते तथा मूर्ति पर बहुमूल्य पदार्थ चढ़ाते थे। मन्दिर में हर समय विभिन्न देशों के लगभग एक हजार यात्री पूजा करने के लिए उपस्थित रहते थे।

राजपूतकाल में भी उत्तर भारत में सूर्योपासना लोकप्रिय रही। कुछ प्रतिहार शासक सूर्य के उपासक थे। गहड़वाल कालीन कन्नौज के दानपत्र (1177 ई.) में सूर्य मन्दिर का उल्लेख मिलता है। चाहमान शासक चण्डमहासेन भी सूर्य का भक्त था। मीनमल में सौर संप्रदाय अत्यंत लोकप्रिय था। पूर्व मध्य एवं मध्यकाल में सूर्योपासना के अन्य प्रसिद्ध केंद्र थे–गुजरात में मोडेहरा, राजस्थान में ओसिया तथा सिरोही और उड़ीसा में कोणार्क। यहां से प्राप्त मन्दिर तथा मूर्तियां सूर्य देवता की लोकप्रियता सूचित करती हैं। पाल शासकों के समय बनाई गई सूर्य मूर्तियां बंगाल से प्राप्त होती हैं। सेन नरेश विश्वरूप तथा केशव सेन सूर्य के महान् उपासक थे जिनकी उपाधि 'परमसोर' की थी। दीनाजपुर से प्राप्त सूर्य प्रतिमा पर उत्कीर्ण एक लेख में कहा गया है कि सूर्य–पूजा से समस्त रोगों का हरण होता है। लगभग आठवीं शताब्दी में कश्मीर के शासक ललितादित्य मुक्तपीड सूर्य का अनन्य भक्त हुआ जिसने मार्तण्ड मन्दिर बनवाया था। उसने लाटपुर में आदित्य मंदिर का भी निर्माण कराया था। चालुक्य राजा भीमदेव द्वितीय के पाटन दानपत्र (1199 ई.) से ज्ञात होता है कि अचलेश्वर देव (सूर्य) के मन्दिर को दान दिया गया था। अल्बरूनी तथा अन्य मुस्लिम लेखकों के विवरण से पता चलता है कि मुल्तान में सूर्य का प्राचीन एवं विशाल मन्दिर था जिसके उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष उत्सव होता था। दुर्भाग्यवश ग्यारहवीं शताब्दी में यहां की मूर्ति तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर कर दी गई थी। कोणार्क के सूर्य मंदिर का निर्माण गंगवंशीय शासक लुंगलीय नरसिम्ह देव ने तेरहवीं शताब्दी में कराया था। कोणार्क में स्थित यह मंदिर रथ तथा उसकी विशालकाय पट्टियों के आधार पर निर्मित है। दक्षिण भारत में एकमात्र सूर्य का मन्दिर तंजोर में मिलता है जिससे

सूचित होता है कि सूर्योपासना का प्रचलन उत्तर भारत में ही अधिक था। मेरुतुंग के प्रबंधचिंतामणि नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि पश्चिमी भारत में तो सूर्य की पूजा जैनियों द्वारा भी की जाती थी।

टिप्पणी

इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल से लेकर मध्यकाल तक भारत में सूर्य पूजा के प्रचलन के साहित्यिक एवं पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। प्राचीन ग्रन्थों–बृहत्संहिता, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मत्स्य पुराण, भविष्य पुराण आदि में सूर्य–प्रतिमा निर्माण की विधि का विवरण दिया गया है। प्रायः सूर्य के दो रूपों का वर्णन मिलता है–उदीच्य (उत्तरी) तथा दक्षिणी। उदीच्य वेशभूषा विदेशी तत्वों से प्रभावित है। इसमें सूर्य का शरीर वक्षस्थल से पैरों तक ढका रहता है। उनके सिर पर मुकुट, हाथों में कमल का फूल, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा पैरों में जूते दर्शाए गए हैं। कुषाणकालीन प्रतिमाओं पर गन्धार कला का प्रभाव है। वे लम्बा कोट, शलवार तथा बूट पहने हुए हैं। यही वेशभूषा कुषाण शासकों की भी मिलती है। बांग्लादेश के नियामतपुर तथा कुमारपुर के सूर्य के अंकन में उन्हें विम कैडफिसिस तथा कनिष्क जैसी वेशभूषा में दिखाया गया है। सूर्य के रथ को दो, चार अथवा सात घोड़े खींच रहे हैं। उषा–प्रत्युषा दायें–बायें दिखाई गई हैं। सूर्य के दक्षिणी रूप का विवरण कुछ भिन्न प्रकार से मिलता है। जहां उत्तरी वेशभूषा में सूर्य प्रतिमा को पूर्णतया आवृत्त दिखाया गया है वहां दक्षिण भारतीय ग्रन्थों–अंशुमद्भेदागम, सुप्रभेदागम् आदि में उनके शरीर को अनावृत्त प्रदर्शित करने पर बल दिया गया है। इस रूप में विदेशी प्रभाव अत्यल्प है। बताया गया है कि सूर्य के दोनों हाथों में कमल तथा मुट्ठियां बंधी एवं कन्धों तक उठी होनी चाहिए। उनका शरीर उत्तरीय से आवृत्त हो, वे कमल पर खड़े हों या सात घोड़ों के रथ पर सवार हों, उषा–प्रत्युषा देवियां उनके दायीं तथा बायीं ओर खड़ी हों आदि। मध्यकाल में विभिन्न स्थानों से हमें सूर्य की खड़ी एवं बैठी मुद्राओं में मूर्तियां प्राप्त होती हैं।

भारत में सूर्य–पूजा की परम्परा सदैव विद्यमान रही तथा आज भी विभिन्न नाम–रूप एवं विधियों से उनकी उपासना की जाती है। अधिकांश नैष्ठिक हिन्दू प्रातःकाल स्नान के पश्चात् सूर्य को जलादि (अर्घ्य) चढ़ाने के बाद ही अन्न–जल ग्रहण करते हैं। भारत में गायत्री मन्त्र का व्यापक प्रचलन दिखायी देता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि पूर्वाञ्चल क्षेत्रों (विशेष रूप से बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश) में कार्तिक शुक्ल पक्ष की षष्ठी को अस्त तथा उदय होते हुए, दोनों रूपों में सूर्य पूजा अत्यधिक लोकप्रिय है। इसे 'छठ' या 'डाला छठ' या 'षष्ठी पूजा' कहा जाता है। इसे स्त्री–पुरुष अत्यन्त विधि–विधान से कठोर व्रत रखकर करते हैं जिसमें विविध फल–पकवान आदि सामग्रियों से सूर्य को अर्घ्य दिया जाता है। देश के अन्य भागों में क्रमशः इस पर्व की लोकप्रियता बढ़ती हुई दिखायी देती है। धीरे–धीरे यह त्योहार प्रवासी भारतीयों के साथ–साथ विश्वभर में प्रचलित हो गया है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

13. सौर संप्रदाय किससे संबंधित है?

(क) सूर्य की उपासना (ख) देवी की उपासना

(ग) शिव की उपासना (घ) विष्णु की उपासना

14. सूर्य की उपासना मुख्य रूप से कितने रूपों में होती है?

(क) दो (ख) तीन

(ग) चार (घ) पांच

4.7 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (घ)
4. (ग)
5. (क)
6. (घ)
7. (ख)
8. (ग)
9. (क)
10. (घ)
11. (ग)
12. (ख)
13. (क)
14. (घ)

4.8 सारांश

वैष्णववाद हिंदू धर्म का एक संप्रदाय है जिसके अंतर्गत भगवान विष्णु या उनके एक अवतार को सर्वोच्च भगवान के रूप में पूजा जाता है। वैष्णववाद के सदस्यों को वैष्णव कहा जाता है। इन्हें भागवत, नारायण, हरि वैकुण्ठनाथ आदि नामों से वर्णित किया गया है। भागवत धर्म का उदय उपनिषदों की विचारधारा से ही हुआ। भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म का आरम्भ पुराणों से पहले हो चुका था। एक धार्मिक सिद्धान्त के रूप में भक्ति का उदय कब हुआ इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। वैष्णव धर्म का समय–समय पर प्रमुख उन्नायकों द्वारा अभ्युत्थान हुआ। आरम्भ में कृष्ण भगवान के द्वारा सात्वत जाति के लोगों में इसकी प्रतिष्ठा हुई थी।

टिप्पणी

उस युग में कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया गया था और उन्हीं की भगवान उपाधि के अनुरूप इसे भागवत धर्म कहा गया। एक भक्ति संप्रदाय के रूप में वैष्णव धर्म का जन्म पांचवीं शताब्दी ई. पू. तक अवश्य हो चुका था। चौथी शताब्दी ई. पू. में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज शूरसेन (मथुरा) जनपद के लोगों को हेराक्लीज का उपासक बताता है जिससे तात्पर्य वासुदेव कृष्ण से है। वैष्णव धर्म में वासुदेव कृष्ण की उपासना प्रचलित थी और इसका नाम भागवत धर्म था। कालान्तर में वासुदेव कृष्ण का तादात्म्य विष्णु के साथ स्थापित किया गया और भागवत धर्म वैष्णव धर्म में परिवर्तित हो गया। पुनः वासुदेव कृष्ण–विष्णु का एकत्व नारायण के साथ हुआ। नारायण के उपासक पाञ्चरात्रिक कहे जाते थे। पाणिनि के समय तक यह वैष्णव संप्रदाय लोकप्रिय नहीं हो पाया था। मेगस्थनीज के समय वह मथुरा प्रदेश में लोकप्रिय था। ग्वालियर के निकट विदिशा (बेसनगर) नामक स्थान से प्राप्त गरुड़ ध्वज (स्तम्भ) अभिलेख से ज्ञात होता है कि तक्षशिला के यवन राजदूत हेलियोडोरस ने भागवत धर्म ग्रहण किया तथा इस स्तम्भ की स्थापना कराकर इसकी पूजा भी की थी। बहुत से कुषाण राजाओं ने वैष्णववाद को स्वीकार किया। हुविष्क तथा वासुदेव जैसे शासक वैष्णव मतानुयायी थे। वैष्णववाद का चरमोत्कर्ष गुप्त राजाओं के शासन–काल (319–550 ई.) में हुआ। गुप्त शासक वैष्णव मतानुयायी थे तथा उन्होंने इसे राजधर्म के रूप में स्वीकार किया। विष्णु का वाहन गरुड़ गुप्तों का राजचिह्न था। गुप्तोत्तर काल में भी वैष्णव धर्म का उत्थान होता रहा। राजा हर्षवर्धन के समय में भी यह एक प्रमुख धर्म था। राजपूत काल में तो वैष्णव धर्म का अत्यधिक उत्कर्ष हुआ। अनेक शासकों ने विष्णु के सम्मान में मन्दिर तथा मूर्तियों का निर्माण कराया था। उत्तरी भारत की भांति ही दक्षिणी भारत में भी वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। यहां से भगवान विष्णु के बहुत–से मन्दिर तथा मूर्तियां मिलती हैं। तमिल प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार आलवार संतों द्वारा किया गया। चोल शासकों के काल में शैव धर्म के साथ–साथ वैष्णव धर्म की भी उन्नति हुई। इस काल में वैष्णव धर्म के प्रचार का कार्य आलवारों के स्थान पर आचार्यों ने किया। भागवत अथवा पाञ्चरात्र धर्म में वासुदेव विष्णु (कृष्ण) की उपासना के साथ ही साथ तीन अन्य व्यक्तियों– संकर्षण (बलराम), प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की भी उपासना की जाती थी। इन चारों को 'चतुर्व्यूह' कहा जाता है। वैष्णववाद में ईश्वरभक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर बल दिया गया है। भक्ति के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह भक्त को अपनी शरण में ले लेता है। वैष्णव धर्म में अवतारवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर समय–समय पर अपने भक्तों के उद्धार के लिए पृथ्वी पर अवतरित होता है। पुराणों में विष्णु के दस स्पष्ट अवतारों की व्याख्या हुई–मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि।

भगवान शिव तथा उनके अवतारों को मानने वालों को शैव और शिव से संबंधित धर्म को शैववाद या शैवधर्म कहा जाता है। शैव धर्म हिंदू धर्म के भीतर प्रमुख परंपराओं में से एक है जो भगवान शिव की पूजा करता है, जिसे रुद्र भी कहा जाता है। शिव तथा शैव धर्म की प्राचीनता प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। हड़प्पा सभ्यता के उत्खनन में मोहेनजोदड़ो से एक ऐसी मुद्रा की प्राप्ति हुई है जिस पर एक योगी का चित्र मिलता है। ऋग्वेद में रुद्र का वर्णन हुआ है जो अपनी उग्रता के लिए प्रख्यात है। अतः ऋग्वैदिक काल में रुद्र की पूजा उनके क्रोध से बचने के लिए की जाती

टिप्पणी

थी। उत्तर वैदिक काल में रुद्र एक महान देवता के रूप में तथा प्रजापति एवं विष्णु के साथ त्रिदेव के रूप में स्थापित हुए। उपनिषद्–काल में हमें रुद्र के सम्मान में और वृद्धि देखने को मिलती है। महाकाव्यों के काल में आते–आते शैववाद को व्यापक लोकाधार प्राप्त हो गया। शिव की पूजा अनेक साहित्यिक तथा पुरातात्विक स्रोतों से प्रमाणित होती है। प्राचीन भारतीय सिक्कों पर भी शिवोपासना का अंकन है। गुप्त शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, किन्तु उनके शासनकाल में शैव धर्म के उत्तरोत्तर प्रसार के दृष्टान्त मिलते हैं। गुप्तोत्तर काल के पश्चात् भी शैववाद की उन्नति होती रही। वर्धनकाल में इसका समाज में काफी प्रचार था। बाणभट्ट तथा ह्वेनसांग दोनों ही इसका उल्लेख करते हैं। राजपूतकाल में भी शैव धर्म समाज में अत्यंत लोकप्रिय था। दक्षिण के शासकों के समय में भी शैववाद की उन्नति हुई तथा शिव के अनेक मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। शिव भागवतों से ही शैव धर्म में संप्रदायवाद का प्रारंभ होता है। शैव भागवतों का पहला वर्णन पतंजलि ने महाभाष्य में किया है। पाशुपत संप्रदाय का प्रारंभिक वर्णन महाभारत में है। इस संप्रदाय की स्थापना लकुलीश अथवा लकुलीन नामक ब्रह्मचारी ने की थी। इसके अनुयायी अपने मस्तक पर भस्म पोतते थे तथा हाथ में रुद्राक्ष की माला धारण करते थे। कापालिक शैव धर्म का अतिवादी संप्रदाय है। संभवतः कापालिक मत का विकास दक्षिण भारत या दक्कन में हुआ था। 'श्रीलेश' नामक स्थान कापालिकों का प्रमुख केंद्र था। कापालिकों का उद्देश्य केवल परम ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं था बल्कि सांसारिक जीवन में भी सिद्धियों को प्राप्त करना था। ऐसा प्रतीत होता है कि कालमुख संप्रदाय कापालिकों की एक शाखा है। शिव पुराण में इस संप्रदाय के अनुयायियों को महाव्रतधर कहा गया है। दक्षिण में प्राप्त अभिलेखों के अनुसार कालमुख के दो संप्रदाय थे– शक्ति परिषद तथा सिंह परिषद। वीर शैव अथवा लिंगायत शैव धर्म का ही एक संप्रदाय था जिसका प्रचार बारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में व्यापक रूप से हुआ। लिंगायत संप्रदाय का संस्थापक बसव था। लिंगायत मत के प्रचारकों ने अपना पूरा साहित्य कन्नड़ गद्य में लिखा जिसे 'वचन' कहा जाता है। लिंगायत संप्रदाय के अनुयायी अपने साथ हमेशा एक छोटा सा शिवलिंग रखते थे। लिंगायत संतों की संख्या 770 मानी गई है तथा ये तमिल शैवाचार्यों को अपना आध्यात्मिक गुरु मानते थे। कश्मीर में शैव धर्म का एक नया संप्रदाय विकसित हुआ जो सिद्धान्त तथा आचार में अन्य संप्रदायों से भिन्न था। इसे त्रिक दर्शन की संज्ञा दी जाती है। यह शुद्ध रूप से दार्शनिक अथवा ज्ञानमार्गी संप्रदाय है।

प्रारंभिक भक्ति आंदोलन (लगभग छठी शताब्दी) आलवारों और नयनारों के नेतृत्व में हुआ। आलवार और नयनार संतों ने दक्षिण भारत में वैष्णव और शैव भक्ति को एक नया आयाम प्रदान किया। आलवार संतो की संख्या 12 थी। इनके नाम थे– पोयगै, भूतात्तालवार, पेई या पेयालवार, तिरुमलिशै, नम्मालवार, मधुरकवि, कुलशेखर, पेरियालवार, आण्डाल, तोण्डरडिप्पोडि, तिरुप्पान तथा तिरुमंगै आलवार। ये सब पूर्ण रूप से इश्वर के प्रति समर्पित और आश्रित थे। आलवार संतो की भक्ति उत्तर भारत की रूढ़िवादी एवं पारम्परिक विचारधारा के विरुद्ध थी। आलवारों के अनुसार सरल माध्यम से ईश्वर की भक्ति ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। आलवार संतों की रचना 'दिव्य प्रबन्ध' कहलाती है। इन्होंने भजन, कीर्तन, नामोच्चारण, मूर्तिदर्शन आदि के माध्यम से वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इनके उपदेशों में दार्शनिक जटिलता नहीं थी।

टिप्पणी

ये सच्चे विष्णु भक्त थे। नम्मालवार सबसे बड़े आलवार संत थे। कुलशेखर ने राजपद त्यागकर कृष्ण भक्ति अपनाई। बारह आलवारों में आण्डाल एकमात्र महिला थी। इन्हें दक्षिण की मीरा कहा जाता है। आलवार आंदोलन के बाद इसके दार्शनिक स्वरूप पर आधारित श्री वैष्णव संप्रदाय का विकास हुआ जिसके प्रमुख आचार्य कहलाते थे। इसके संस्थापक नाथ मुनि नामक आचार्य माने गए हैं, परंतु इसके वास्तविक संस्थापक यामुनाचार्य थे। इस संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य रामानुजाचार्य थे। रामानुजाचार्य की मृत्यु के पश्चात् श्री वैष्णव संप्रदाय दो भागों में विभक्त हो गया– वडकलै संप्रदाय एवं तैन्कलै संप्रदाय। हिन्दू धर्म में नयनार भगवान शिव के भक्त संत थे। इनका उद्भव मध्यकाल में मुख्यतः दक्षिण भारत के तमिलनाडु में हुआ था। इनका काल छठी से नवीं शताब्दी माना जाता है तथा नयनारों की संख्या 63 मानी गई है। इन सभी शैव संतों ने भजन–कीर्तन, शास्त्रार्थ एवं उपदेशों के माध्यम से तमिल समाज में शिव भक्ति का जोरदार प्रचार किया। इन्होंने भक्ति को ईश्वर–प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया। इनके भक्ति गीतों को एक साथ 'तेवारम' में संकलित किया गया है। नयनार जाति–पाति के विरोधी थे तथा उन्होंने समाज के सभी वर्गों के लोगों में जाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। अप्पर, सम्बन्दर, मणिक्कवाचकर एवं सुंदरमूर्ति नामक चार प्रमुख नयनारों को समयाचार्य कहा जाता है। सुंदरमूर्ति को 'तम्बिरान तोलन' (ईश्वर का मित्र) भी कहा जाता है। मणिक्कवाचगर के भजन तिरुवसगम (तिरुवाचकम्) के रूप में संकलित है।

शाक्त संप्रदाय हिन्दू धर्म के तीन प्रमुख संप्रदायों में से एक है। देवी की सृष्टि निर्मात्री एवं शक्तिपुंज मानकर की जाने वाली आराधना शाक्त पूजा कहलाती है। शाक्त धर्म का पहला अभिलेखीय साक्ष्य हड़प्पा सभ्यता कालीन मुद्राओं से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में देवी पूजा का वर्णन है, परंतु वह गौण स्वरूप में है। उत्तर वैदिक साहित्य में देवी पूजा का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्राचीन भारत में रचित अनेक ग्रन्थों और अभिलेखों जैसे विक्रमोर्वशीयम्, कामसूत्र, हर्षचरित, रामचरित, मंदसौर अभिलेख, पल्लव अभिलेख आदि में शक्ति पूजा का वर्णन है। प्राचीन भारत में देवताओं के साथ–साथ देवियों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है तथा शक्ति (देवी) की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से होती रही है। क्रमशः शक्ति के साथ अनेक नाम संयुक्त हो गए जैसे– दुर्गा, काली, भवानी, चामुण्डा, रुद्राणी, लक्ष्मी, सरस्वती, आदि। दुर्गा को आदिशक्ति मानकर उन्हें सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता के रूप में मान्यता प्रदान की गई। शाक्त धर्म का शैव धर्म के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। शिव की पत्नी पार्वती (उमा) को जगज्जननी कहा जाता है। शाक्त मत की प्राचीनता प्रागैतिहासिक युग तक जाती है। हड़प्पा सभ्यता में मातृदेवी की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। वैदिक साहित्य में अदिति, उषा, सरस्वती, श्री, लक्ष्मी आदि देवियों के विषय में विस्तृत सूचना मिलती है। अंबिका, उमा, दुर्गा, काली व अन्य देवियां उत्तर वैदिक काल में मुख्य देवियों के रूप में स्थापित हुई। महाभारत एवं पुराणों में देवी माहात्म्य का विस्तृत विवरण मिलता है। महाभारत के काल तक शाक्त संप्रदाय समाज में ठोस आधार प्राप्त कर चुका था। ऐसा वर्णन मिलता है कि महिषासुर का वध करने के लिए देवताओं के मुख से निसृत तेजपुंज से शक्ति की उत्पत्ति हुई। इन देवताओं ने अपने–अपने अस्त्र प्रदान किए तथा उस शक्ति ने महिषासुर का वध किया जिससे वह 'महिषासुरमर्दिनी' नाम से विख्यात हुई। देवी की उपासना तीन रूपों में की जाती थी––शान्त या सौम्य

टिप्पणी

रूप, उग्र या प्रचण्ड रूप तथा कामप्रधान रूप। शक्ति–पूजा का पहला ऐतिहासिक पुरातात्विक प्रमाण कुषाण शासक हुविष्क के सिक्कों पर अंकित देवी के चित्रों में मिलता है। पूर्व–मध्यकाल में देवी की पूजा अत्यन्त लोकप्रिय थी। देवी के अधिकांश मन्दिर इसी युग के निर्मित हैं। शाक्त धर्म के अनुयायी महामातृ देवी को आदि शक्ति मानकर उसी की पूजा करते हैं। वही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार करती है। शाक्त धर्म में 'कुण्डलिनी' नामक रहस्यमय शक्ति का अत्यधिक महत्व है। शाक्त धर्म वर्तमान में भी हिन्दुओं का एक प्रमुख धर्म है। देवी की पूजा देश के विभिन्न भागों में अत्यंत श्रद्धा एवं उल्लासपूर्वक की जाती है। बंगाल, कश्मीर, दक्षिण भारत तथा असम में इस मत का विशेष प्रचलन है।

ऐसी धार्मिक क्रियायें जिनकी उत्पत्ति गैर–आर्य कबीलाई लोगों के अति प्राचीन प्रजनन संस्कारों से हुई थी उनको बाद में चलकर तंत्रवाद के नाम से जाना गया। तंत्रवाद का सिद्धान्त है कि कलियुग में वैदिक मंत्रों, जपों और यज्ञों आदि का कोई फल प्राप्त नहीं होता । इस युग में सब प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिए तंत्राशास्त्र में वर्णित मंत्रों और उपायों आदि से ही सहायता मिलती है। पूर्व–मध्यकाल तक आते–आते शाक्त धर्म तंत्रवाद से पूर्णतया प्रभावित हो गया और शाक्त– तांत्रिक विचारधारा समाज में अत्यंत लोकप्रिय हो गई। तंत्रवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप समाज में अनेक अन्धविश्वास दृढ़ हो गए। किन्तु तंत्रवाद से हिन्दू सामाजिक एवं सांस्कृतिक विचारधारा को कुछ लाभ भी हुए। तांत्रिक विचारधारा का आधार 'शक्तिवाद' है। इसमें जप, तप, मंत्र पर विशेष बल दिया जाता है।

सौर अर्थात सूर्य की उपासना करने वाला संप्रदाय सौर संप्रदाय कहलाता है तथा इस पंथ को सौर पंथ कहा जाता है। सौर संप्रदाय वैदिक काल से ही विद्यमान है। हिन्दू देवमंडल में सूर्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। भारत के अतिरिक्त विश्व की कुछ अन्य प्राचीन सभ्यताओं (मिस्र, पारसीक आदि) में भी सूर्य की पूजा का प्रचलन दृष्टिगोचर है। ऋग्वैदिक देवमण्डल में सूर्य द्युस्थान (आकाश) का प्रमुख देवता स्वीकार किया जाता है। यहां हम सूर्य की उपासना पांच रूपों में पाते हैं– सूर्य, सविता, मित्र, पूषन् एवं विष्णु। ऋग्वेद में सूर्य की अनेक विशेषताओं का वर्णन प्राप्त होता है। माना जाता है कि वह एक श्वेत–अश्व है जिसे उषा लाती है। इसी आधार पर कालांतर में उसे 'भगवान सप्त सप्ति' कहा गया है। गुप्तकाल से सूर्य की प्रतिमाओं में सात अश्व प्रदर्शित किए जाने लगे। महाकाव्यों में सूर्य के मानवीय स्वरूप का ही विवरण प्राप्त होता है। ईसा की प्रथम शताब्दी से हमें सूर्य–उपासना में विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप कुछ परिवर्तन मिलते हैं। आर. जी. भण्डारकार का विचार है कि यह परिवर्तन 'मग' नामक ईरानी पुरोहितों के एक वर्ग के भारत में आने के कारण हुआ। हूण राजा मिहिरकुल के ग्वालियर लेख से ज्ञात होता है कि यहां पहाड़ी पर मातृचेट ने एक सूर्य–मन्दिर का निर्माण कराया था। हर्षवर्धन के काल के साहित्य से सूर्य–पूजा के व्यापक प्रचलन का पता चलता है। बाणभट्ट के विवरण से ज्ञात होता है कि उज्जैन में सूर्य–पूजा का प्रचलन था। ह्वेनसांग ने 'सी–यु–की' में लिखा है कि मुल्तान में सूर्य का प्रसिद्ध मन्दिर था जिसकी मूर्ति सोने की बनी थी। राजपूतकाल में भी उत्तर भारत में सूर्योपासना लोकप्रिय रही। इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल से लेकर मध्यकाल तक भारत में सूर्य पूजा के प्रचलन के साहित्यिक एवं पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। भारत में सूर्य–पूजा की परम्परा सदैव विद्यमान रही तथा आज भी विभिन्न नाम–रूप

एवं विधियों से उनकी उपासना की जाती है। देश के अन्य भागों में क्रमशः इस पर्व की लोकप्रियता बढ़ती हुई दिखायी देती है। धीरे–धीरे यह त्योहार प्रवासी भारतीयों के साथ–साथ विश्वभर में प्रचलित हो गया है।

टिप्पणी

4.9 मुख्य शब्दावली

- **अवतार** : अवतार संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ प्रायः उतरना होता है। हिन्दू धर्म में भगवान विष्णु के विभिन्न स्वरूप जब पृथ्वी पर दुष्टों का नाश करने विभिन्न युगों में आते हैं, तब उन्हें भगवान विष्णु का अवतार कहा जाता है, भगवान राम एवं कृष्ण, विष्णु के दशावतार में से एक हैं।
- **भजन** : ईश्वर की स्तुति करना या माला जपना या भगवान या देवता की स्तुति में रचित गीत या पद।
- **जाप** : किसी शब्द या मंत्र का बार–बार किया जाने वाला उच्चारण।
- **कलियुग** : कलियुग का अर्थ है कलह–क्लेश का युग। इसको रावण युग भी कहा जाता है।
- **सनातन धर्म** : सनातन का अर्थ है – शाश्वत या हमेशा बना रहने वाला, अर्थात् जिसका न आदि है न अन्त। सनातन धर्म अपने मूल रूप हिंदु धर्म के वैकल्पिक नाम से जाना जाता है।
- **अद्वैत** : द्वैत या भेद का अभाव या आत्मा परमात्मा में अभिन्नता।
- **पार्वती** : प्रेम की देवी, शिव की पत्नी और गणेश की माँ।
- **रुद्र** : तूफान, शिकार, मृत्यु, प्रकृति और पवन का एक ऋग्वैदिक देवता। रुद्र शिव का प्रारंभिक रूप है और शिव सहस्रनाम में शिव का एक नाम है।
- **नरमुंड** : नर का सिर या मनुष्य की खोपड़ी।
- **नटराज** : इसका अर्थ 'नृत्य का स्वामी', शिव को सृष्टि के नृत्य में दिखाया गया है।
- **कीर्तन** : हिन्दू धर्म में ईश्वर या देवता की भक्ति के लिए उनके नामों का भांति–भांति रूप में उच्चारण करना कीर्तन कहलाता है।
- **वेल्लाल** : एक सामान्य तमिल शब्द है जिसका प्रयोग मुख्य रूप से विभिन्न जातियों द्वारा किया जाता है, जो परंपरागत रूप से भारतीय राज्यों तमिलनाडु, केरल और श्रीलंका के उत्तर–पूर्वी हिस्सों में कृषि को एक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं।
- **तेवारम** : यह तिरुमुरई के पहले सात खंडों को दर्शाता है। इन खंडों में 7वीं और 8 वीं शताब्दी के तीन सबसे प्रमुख तमिल कवियों–अप्पर, सम्बन्दर और सुंदरार, के कार्य शामिल हैं।
- **प्रपत्ति** : भक्ति का वह प्रकार या भेद जिसमें भक्त अपने आप को भगवान की शरण में सौंपकर यह विश्वास रखता है कि वह मुझ पर अवश्य दया करेगा।
- **ताम्रपत्र** : ताँबे की चादर का एक टुकड़ा जिस पर प्राचीन काल में अक्षर खुदवाकर दानपत्र आदि लिखते थे।

टिप्पणी

- **नवरात्रि** : नवरात्रि संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'नौ रातें'। इन नौ रातों और दस दिनों के दौरान, शक्ति–देवी के नौ रूपों की पूजा की जाती है।
- **तेजपुंज** : जिसके मुख पर तेज हो, तेजस्वी।
- **वशीकरण** : मंत्र–तंत्र आदि के द्वारा किसी को वश में करने की क्रिया।
- **तांत्रिक** : तंत्रशास्त्र का ज्ञाता या तंत्रविद्या का प्रयोग करने वाला।
- **प्रागैतिहासिक** : यह इतिहास के उस काल को कहा जाता है जब मानव तो अस्तित्व में थे लेकिन लेखन कला का आविष्कार न होने से उस काल का कोई लिखित वर्णन नहीं है।
- **ताम्रपत्र** : तांबे की चादर का टुकड़ा जिस पर प्राचीन काल में अक्षर खुदवा कर दान पत्र आदि लिखते थे
- **स्वास्तिक** : शरीर या पदार्थ पर लगाया जाने वाला एक मंगल चिह्न।
- **मवेशी** : गाय, बैल आदि चौपाया।
- **तंतुवाय** : कपड़े बुनने वाला।

4.10 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. वैष्णववाद की उत्पत्ति एवं विकास की संक्षेप में चर्चा कीजिए।
2. गुप्तकाल में वैष्णववाद के विकास के बारे में संक्षेप रूप में लिखिए।
3. गुप्तोत्तर काल में वैष्णववाद का विकास किस प्रकार हुआ?
4. दक्षिण भारत में वैष्णववाद के प्रचार के विषय में आप क्या जानते हैं?
5. चतुर्व्यूह पर संक्षिप्त नोट लिखें।
7. शैववाद की उत्पत्ति एवं विकास का संक्षेप में वर्णन करें।
8. वैदिक काल में शैव धर्म के विकास पर संक्षिप्त नोट लिखें।
9. गुप्त शासकों के काल में शैव धर्म की उन्नति किस प्रकार हुई?
10. दक्षिण भारत में शैव धर्म का विकास किस प्रकार हुआ?
11. शैववाद के प्रमुख संप्रदायों का संक्षेप में वर्णन करें।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. पाशुपत संप्रदाय के बारे में आप क्या जानते हैं? विस्तार से बताइए।
2. लिंगायत संप्रदाय की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

   (क) कापालिक संप्रदाय

   (ख) कालमुख संप्रदाय

   (ग) कश्मीरी शैव संप्रदाय

टिप्पणी

4. आलवार कौन थे? उनकी प्रमुख शिक्षाओं को विस्तार से निरूपित कीजिए।
5. आलवार संत नम्मालवार एवं कुलशेखर के विषय में आप क्या जानते हैं?
6. आलवार संत आण्डाल एवं तिरुमंगै के विषय में विस्तृत चर्चा कीजिए।
7. नयनारों के बारे में आप क्या जानते हैं? विस्तार से बताइए।
8. विख्यात नयनार संत अप्पर और सम्बन्दर का विस्तृत विवरण दीजिए।
9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–
   (क) सुंदरमूर्ति
   (ख) मणिक्कवाचगर
10. शाक्त साहित्य एवं अभिलेखों के विषय में विस्तृत विवेचना कीजिए।
11. शाक्त धर्म के उद्भव एवं विकास का विस्तार से वर्णन कीजिए।
12. शाक्त धर्म के सिद्धांतों तथा आचारों का उल्लेख कीजिए।
13. तंत्रवाद के सिद्धांतों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
14. सौर संप्रदाय पर निबंध लिखिए।
15. सूर्य की उपासना के पांच रूपों का उल्लेख कीजिए।
16. राजपूत काल की सूर्य–उपासना के बारे में आप क्या जानते हैं? प्रकाश डालिए।
17. गुप्तकाल तथा हर्षवर्धन के काल में सूर्य पूजा का क्या उल्लेख मिलता है?

4.11 सहायक पाठ्य सामग्री

1. आनंद सिंह, 2010, "प्राचीन भारतीय धर्म का उद्भव एवं स्वरुप", हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
2. सुविरा जायसवाल, 2005, "वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास," ग्रन्थ शिल्पी।
3. डॉ. शिवस्वरूप सहाय, 2010, "प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन",मोतीलाल बनारसीदास।
4. महामहोपाध्याय रायबहादुर, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, 2018, "प्राचीन भारतीय धर्म समाज एवं संस्कृति", हिंदी बुक सेंटर।
5. डॉक्टर ईश्वरी प्रसाद और शैलेन्द्र शर्मा, 1980, "प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन", मीनू पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद।
6. हरविलास मिश्र, "भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं धर्म विद्या भवन", पुस्तक प्रकाशक, जयपुर।
7. एन.के रामानुजन, 1973, "स्पीकिंग आफ शिव", पेंगुइन।
8. एक्सल माइकल्स, 2004, "हिन्दुइज्म, पास्ट और प्रेजेंट", प्रिंसटन, न्यू जर्सी प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. गैविन फ्लड, 1996, "एन इंट्रोडकशन टू हिन्दुइज्म", कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

टिप्पणी

10. करमृस्क स्टेल्ला, 1993, "दी प्रजेंस ऑफ शिव", प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.
11. जी.डी फ्लड, 1996, "हिंदू धर्म का एक परिचय", कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
12. श्रीनिवास राघवन, 1975, "नम्मालवार", साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
13. टी.एम.पी महादेवन, 1971, "टेन सेंट्स ऑफ इंडिया" (तीसरा संस्करण), बंबई, भारतीय विद्या भवन।
14. सिसिर कुमार दास, 2005, "ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर (500–1399), फ्रॉम कोर्टली टू द पॉप्युलर", चेन्नई, साहित्य अकादमी।
15. मीनाक्षी खन्ना, 2007, "मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास", दिल्ली, सामाजिक विज्ञान प्रेस
16. सुबोध कपूर, 2002, "ए शार्ट इंट्रोडक्शन टू शाक्त फिलॉसफी", इंडिगो बुक्स, नई दिल्ली।
17. डॉक्टर सुरेंद्र झा, 2019, "बौद्ध शैव और शाक्त–तन्त्र– समन्वयात्मक संश्लेषण एक अनजान मलुटी सिद्धपीठ", प्रतिभा प्रकाशन।
18. जी.डी फ्लड, 1996, "हिंदू धर्म का एक परिचय", कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
19. डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी, 2015, "तंत्र शक्ति", रंजन।
20. एन.एन भट्टाचार्य, 1974, "हिस्ट्री ऑफ द शाक्त रिलिजन", मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

इकाई 5 नास्तिक धार्मिक संप्रदाय एवं विचार

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 बौद्ध धर्म
5.3 जैन धर्म
5.4 चार्वाक दर्शन
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का काल धार्मिक दृष्टि से क्रान्ति अथवा महान परिवर्तन का काल माना जाता है। इस काल में मध्य गंगा के मैदानी क्षेत्रों में अनेक अनीश्वरवादी धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। उनमें से लगभग 62 धार्मिक संप्रदायों की हमें जानकारी प्राप्त होती है। इनमें बौद्ध धर्म और जैन धर्म संगठित तथा लोकप्रिय धर्मों के रूप में विकसित हुए। बौद्ध धर्म भारत की श्रमण परम्परा से निकला ज्ञान धर्म और दर्शन है। गौतम बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया गया। हिन्दू धर्म के वैष्णव संप्रदाय में गौतम बुद्ध को दसवां अवतार माना गया है, हालांकि बौद्ध धर्म इस मत को स्वीकार नहीं करता। बौद्ध धर्म भारतीय विचारधारा के सर्वाधिक विकसित रूपों में से एक है और हिन्दूमत (सनातन धर्म) से साम्यता रखता है। गौतम बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया वह कालांतर में एक अंतरराष्ट्रीय धर्म बन गया। यदि विश्व के ऊपर उनके मरणोत्तर प्रभावों के आधार पर भी उनका मूल्यांकन किया जाए तो वे भारत में जन्म लेने वाले महानतम व्यक्ति थे। उनके जीवन काल में ही बड़ी संख्या में लोगों ने बौद्ध मत को स्वीकार कर लिया था।

जैन शब्द संस्कृत भाषा के शब्द 'जिन' से निकला है, जिसका अर्थ है–विजेता। जैन धर्म में विजेता का अर्थ उस व्यक्ति से है जिसने अपने मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जैन धर्म को प्रारम्भ में निर्ग्रंथ कहा जाता था, जिसका अर्थ है–सांसारिक बन्धनों से मुक्ति। गौतम बुद्ध के काल में आविर्भूत होने वाले अरूढ़िवादी संप्रदायों के आचार्यों में जैन धर्म के महावीर का नाम सर्वाधिक विख्यात है। वे जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं थे, किन्तु हम उन्हें छठी शताब्दी ईसा पूर्व के जैन आन्दोलन का प्रवर्तक कह सकते हैं। वे गौतम बुद्ध के पश्चात् भारतीय नास्तिक आचार्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। जैन धर्म के अनुयायियों का मानना था कि उनके सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक गुरु महावीर के 23 और पूर्ववर्ती गुरु थे, जिन्हें तीर्थंकर कहा जाता था। यदि महावीर को अंतिम या 24वां तीर्थंकर माना जाए, तो जैन धर्म का उद्भवकाल 9वीं शताब्दी ई.पू. है। कुछ जैनों के अनुसार ऋषभदेव, पहले तीर्थंकर या

टिप्पणी

जैन गुरु थे, लेकिन वे अयोध्या से जुड़े थे, जो 500 ई.पू. में ही बसा था। पन्द्रहवीं सदी तक, अधिकांश तीर्थंकरों का जन्म पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में हुआ था, परन्तु उनकी ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है। मध्य गंगा मैदानों का कोई भाग 5वीं शताब्दी ई.पू. के पहले नहीं बस पाया था। संभवतः तीर्थंकरों की पौराणिक कथा, जिनमें से अधिकतर का जन्म मध्य गंगा घाटी में और निर्वाण बिहार में प्राप्त हुआ, प्राचीनता से जैन धर्म को जोड़ने के उद्देश्य से प्रेरित है। जैन धर्म की सबसे प्रारम्भिक महत्वपूर्ण शिक्षा का श्रेय 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ को जाता है, जो बनारस के थे। उन्होंने राजसी जीवन त्याग दिया और संन्यासी बन गए। यद्यपि, उनके आध्यात्मिक उत्तरवर्ती वर्धमान महावीर, जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक थे।

छठी शताब्दी ई.पू. के अन्त तक जैन धर्म का प्रसार पूरे भारत में उत्तर से दक्षिण तक हो चुका था। मथुरा, मालवा, गुजरात, राजस्थान तथा दक्षिण में कुछ महत्वपूर्ण स्थान जैन धर्म के प्रसिद्ध केंद्र थे। यह बात अलग है कि जैन धर्म का भारत के अलावा विदेशों में प्रसार नहीं हुआ और न ही बौद्ध धर्म की भांति लोकप्रिय हुआ, परन्तु फिर भी जैन धर्म ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को बहुत कुछ प्रदान किया।

दार्शनिक शिक्षा की छह शाखाओं ने जीवन के आदर्शवादी दृष्टिकोण को बड़े पैमाने पर बढ़ावा दिया। ये सभी दर्शन मोक्ष प्राप्ति के साधन बन गए। सांख्य और वैशेषिक शाखाओं ने जीवन के भौतिक विचारों को समृद्ध किया। सांख्य के सबसे मूल प्रवर्तक कपिल के अनुसार व्यक्ति का जीवन दैवी शक्तियों से नहीं बल्कि प्राकृतिक शक्तियों से निर्मित होता है। इसी प्रकार भौतिक विचार का वर्णन बुद्ध के समय में भी एक असनातनी, नास्तिक संप्रदाय आजीवक के सिद्धान्तों में किया गया है। 500 ई.पू. और 300 ई. के बीच विस्तृत अर्थव्यवस्था और समाज में भौतिकवादी दर्शन पर बल दिया गया। उस काल में गंगा के मैदानों पर बसावट और दिन–प्रतिदिन की जीवनचर्या में प्रकृति प्रदत्त कठिनाइयों के साथ संघर्ष करने में लौह तकनीक पर आधारित एक नई कृषि प्रणाली का उदय और विकास हुआ। धातुओं की मुद्रा तथा व्यापार के साथ ही हस्तशिल्पों का उदय हुआ। नए पर्यावरण ने वैज्ञानिक और भौतिक दृष्टिकोण को जन्म दिया, जो मुख्यतः चार्वाक दर्शन में परिलक्षित हुआ है और अन्य कई पारम्परिक दार्शनिक धाराओं में भी पाया गया। उनके इस दर्शन को लोकायत के रूप में जाना जाने लगा, जिसका अर्थ है आम लोगों से प्राप्त विचार। इसमें वर्तमान दुनिया (लोक) के साथ गहरे सम्बन्ध के महत्व पर बल दिया गया और दूसरी दुनिया यानी परलोक में अविश्वास दिखाया गया।

इस इकाई में बौद्ध धर्म, जैन धर्म और चार्वाक दर्शन के विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का अवलोकन कर पाएंगे;
- बौद्ध धर्म के विकास के विषय में जान पाएंगे;
- बौद्ध धर्म के महत्व एवं प्रभावों का विश्लेषण कर पाएंगे;

टिप्पणी

- महावीर स्वामी की शिक्षाओं तथा जैन दर्शन के विषय में जान पाएंगे;
- जैन धर्म के विकास का अवलोकन कर पाएंगे;
- चार्वाक दर्शन के साहित्य का अवलोकन कर पाएंगे;
- चार्वाक दर्शन के सिद्धान्तों की विवेचना कर पाएंगे।

5.2 बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध या सिद्धार्थ का जन्म वैशाख की पूर्णिमा को 566 ई.पू. में कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन में शाक्य क्षत्रिय परिवार में हुआ था, जिसे बस्ती जिले में पिपरहवा नाम से पहचाना जाता है और जो नेपाल की तराई के निकट है। सिद्धार्थ के पिता शुद्धोधन कपिलवस्तु के चुने हुए शासक थे। उन्होंने शाक्य गणतान्त्रिक कबीले का नेतृत्व किया। उनकी माता महामाया कोलीय राजवंश की राजकुमारी थी। इस प्रकार सिद्धार्थ एक महान परिवार से सम्बन्ध रखते थे। एक गणतांत्रिक कबीले में जन्म होने के कारण, उन्हें समानतावादी विचार विरासत में मिला।

बचपन से ही सिद्धार्थ चिंतनशील स्वभाव के थे। अतः उनके पिता ने उनका मन सांसारिक कार्यों में लगाने के लिए 16 वर्ष की आयु में उनका विवाह यशोधरा नामक राजकुमारी से करा दिया। यशोधरा से सिद्धार्थ को एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'राहुल' रखा गया। लेकिन विवाहित जीवन में उन्हें दिलचस्पी नहीं थी। विहार के लिए जाते समय उन्होंने प्रथम बार वृद्ध, द्वितीय बार एक व्याधिग्रस्त मनुष्य, तृतीय बार एक मृतक तथा अन्ततः एक प्रसन्नचित्त संन्यासी को देखा। उनका हृदय मानवता को दुख में फंसा हुआ देखकर अत्यधिक खिन्न हो उठा। बुढ़ापा, व्याधि तथा मृत्यु जैसी गम्भीर सांसारिक समस्याओं ने उनके जीवन का मार्ग बदल दिया और 29 वर्ष की आयु में इन समस्याओं के ठोस हल के लिए उन्होंने एक रात अपनी पत्नी एवं पुत्र को सोते हुए छोड़कर गृह त्याग दिया। इस महान त्याग को बौद्ध ग्रंथों में महाभिनिष्क्रमण की संज्ञा दी गई है ।

सिद्धार्थ ने संन्यासी की भांति घूम–घूम कर लगभग 7 वर्ष व्यतीत किए। उन्होंने वैशाली के अलारा कालमा से ध्यान करने और उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त की। उनकी यह शिक्षा गौतम को अन्तिम मुक्ति के लिए राह न दिखा सकी, तो उन्होंने पांच ब्राह्मण संन्यासियों के साथ उनका भी परित्याग कर दिया। उन्होंने कठोर संयम को अपनाया और सत्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न कठोर यातनाएं सहन की। अन्ततः इसको त्याग करके वे उरुवेला (आधुनिक बोध गया के पास निरंजना नदी के किनारे) गए और एक पीपल के वृक्ष (बोधि वृक्ष) के नीचे ध्यान मग्न हो गए। अन्ततः अपनी समाधि के 49वें दिन उन्हें 35 साल की आयु में वैशाख की पूर्णिमा को 'सर्वोच्च ज्ञान' की प्राप्ति हुई। तब से उनको 'बुद्ध' (ज्ञानी पुरुष) या 'तथागत' (वह जो सत्य को प्राप्त करे) कहा जाने लगा।

यहां से प्रस्थान करके वे सारनाथ के मृगदाव वाराणसी के पास पहुंचे और वहां पर उन्होंने पांच ब्राह्मण साथियों को अपना पहला धर्मोपदेश दिया जिसको 'धर्मचक्र प्रवर्तन' (धर्म के चक्र को घुमाना) के नाम से जाना जाता है। अश्वजित्, उपालि, मोगाललना, श्रेयपुत्र और आनन्द ये बुद्ध के पहले पांच शिष्य थे। इसके

टिप्पणी

पश्चात् उन्होंने लम्बी यात्रा शुरू की और अपने सन्देश को दूर–दूर तक फैलाया। उनका शरीर बहुत मजबूत था, वे प्रतिदिन 20 से 30 किलोमीटर तक चलते थे। वे चालीस वर्षों तक लगातार भटकते रहे, उपदेश देते रहे और चिन्तन करते रहे, केवल वर्षा ऋतु में वे आराम करते थे। इस लम्बी अवधि के दौरान उन्होंने ब्राह्मणों सहित प्रतिद्वन्द्वी संप्रदायों के कई कट्टरसमर्थकों का सामना किया, बहस में उन्हें पराजित किया। उनकी प्रचारक गतिविधियां अमीर–गरीब, उच्च–निम्न एवं पुरुष–महिला के बीच भेदभाव नहीं करती थीं।

विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए तथा लोगों को अपने मत मे दीक्षित करते हुए बुद्ध मल्लों की राजधानी पावा पहुंचे। यहां वे चुन्द नामक लुहार की आम्रवाटिका में ठहरे। उसने बुद्ध को भोजन दिया। इसमें उन्हें 'सूकरमद्दव' खाने को दिया गया, जिससे उन्हें रक्तातिसार हो गया तथा भयानक पीड़ा उत्पन्न हुई। इस वेदना को सहन करते हुए वे कुशीनगर (पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में) पहुंचे जहां 80 वर्ष की आयु में 486 ई.पू. में वैशाख की पूर्णिमा को उन्हें निर्वाण की प्राप्ति हुई। इस घटना को "महापरिनिर्वाण" कहा जाता है।

बौद्ध धर्म के सिद्धांत अथवा गौतम बुद्ध के उपदेश

ज्ञान–प्राप्ति के पश्चात् गौतम बुद्ध ने अपने मत के प्रचार का निश्चय किया। उनके उपदेश निम्नलिखित हैं–

प्रतीत्यसमुत्पाद

संबोधि में गौतम बुद्ध को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त का बोध हुआ था। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का अर्थ है 'संसार की सभी वस्तुएं किसी न किसी कारण से उत्पन्न हुई हैं और इस प्रकार वे इस पर निर्भर हैं।' इस कार्य–कारण सिद्धान्त को उन्होंने सम्पूर्ण जगत् पर लागू किया। सर्वप्रथम उन्होनें जिन चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया वे इस प्रकार हैं –

(क) दुःख– संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख है। जीवन दुःखों तथा कष्टों से परिपूर्ण है। जिन्हें हम सुख समझते हैं वे भी दुःखों से भरे हुए हैं। सदा यह भय बना रहता है कि हमारे आनन्द कहीं समाप्त न हो जाएं। आनन्दों की समाप्ति पर कष्ट होता है। आसक्ति से भी दुःख उत्पन्न होते हैं। संसार में विभिन्न प्रकार के दुःख व्याप्त हैं, जैसे–दरिद्रता, व्याधि, जरा, मृत्यु आदि। अतः समस्त संसार एक सतत परिवर्तन और दुःख में ग्रस्त है।

(ख) दुःख समुदय– प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। अतः दुःख का भी कारण है क्योंकि कोई भी वस्तु बिना किसी कारण के नहीं हो सकती। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि दुःख के मूल कारण तृष्णा, अविद्या (अज्ञान) और मोह हैं। संसार के समस्त दुःखों का सामूहिक नाम है–'जरामरण'।

(ग) दुख निरोध– दुःख का अन्त सम्भव है। चूंकि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी कारण से उत्पन्न होती है, अतः यदि उस कारण का विनाश हो जाए तो वस्तु का भी विनाश हो जाएगा। कारण समाप्त होने पर कार्य का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। अतः यदि दुःखों के मूल कारणों को नष्ट कर दिया जाये तो दुःख भी नष्ट हो जाएंगे। दुःख–निरोध को ही 'निर्वाण' कहा जाता है। यही जीवन

टिप्पणी

का अंतिम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति जीवन–काल में भी सम्भव है। निर्वाण का अर्थ जीवन का विनाश न होकर उसके दुःखों का विनाश है। इसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म रुक जाता है तथा दुःख भी समाप्त हो जाते हैं। बुद्ध ने इस अवस्था को वर्णनातीत बताया है।

(घ) दुख निरोधगामिनी प्रतिपदा– दुःख के मूल कारणों के विनाश का उपाय अष्टांगिक मार्ग है।

अष्टांगिक मार्ग

आधुनिक खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि गौतम बुद्ध ने शील, समाधि एवं प्रज्ञा को ही दुःख–निरोध का साधन बताया था। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में इन्हीं का उल्लेख मिलता है। शील (अहिंसा, मैत्री, करुणा इत्यादि) का अर्थ सम्यक् आचरण, समाधि का अर्थ सम्यक् ध्यान तथा प्रजा का अर्थ सम्यक् ज्ञान से है। शील तथा समाधि से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है जो सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने का मूल साधन है। कालान्तर में इसके आठ साधन स्वीकार कर लिए गए तथा इसे 'अष्टांगिक मार्ग' कहा गया। वे साधन निम्नलिखित हैं–

(1) सम्यक् दृष्टि– वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ध्यान करना सम्यक् दृष्टि है। इससे मनुष्य सत्य और असत्य, पाप और पुण्य, सदाचार और दुराचार में भेद कर लेता है

(2) सम्यक् संकल्प– जो संकल्प कामना और हिंसा से मुक्त होता है वह सम्यक् संकल्प है।

(3) सम्यक वाणी– जो वाणी सत्य, विनम्रता और मृदुता से समन्वित होती है उसे सम्यक् वाणी कहते हैं । इसका प्रधान विषय धर्म वार्ता होता है।

(4) सम्यक् कर्मान्त– दान, दया, सत्य, अहिंसा आदि सत्कर्मों का अनुसरण ही सम्यक् कर्मान्त है।

(5) सम्यक् आजीविका– सदाचार के नियमों के अनुसार आजीविका के अनुसरण करने को सम्यक् आजीव कहते हैं।

(6) सम्यक् व्यायाम– नैतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति हेतु सतत प्रयत्न करते रहना सम्यक् व्यायाम है।

(7) सम्यक् स्मृति– अपने विषय में सभी प्रकार की मिथ्या धारणाओं का त्याग कर सच्ची धारणा रखना ही सम्यक् स्मृति है।

(8) सम्यक् समाधि– किसी विषय पर समाधिस्त होकर विचार–विमर्श करने को सम्यक् समाधि कहते हैं।

उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग में शील के अन्तर्गत सम्यक् कर्मान्त तथा आजीविका, समाधि के अन्तर्गत सम्यक् व्यायाम, स्मृति तथा समाधि और प्रज्ञा के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि, संकल्प तथा वाणी को रखा जा सकता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद ही गौतम बुद्ध के उपदेशों का सार है तथा उनकी समस्त शिक्षाओं का आरम्भ–स्तम्भ है। यह द्वितीय तथा तृतीय आर्य सत्यों में निहित है जो

टिप्पणी

दुःख का कारण तथा उसके निरोध को बताते हैं। दुःख संसार है तथा दुःख निरोध निर्वाण है। दोनों एक ही सत्ता के पहलू हैं। सापेक्षवादी दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत्यसमुत्पाद संसार है तथा वास्तविकता की दृष्टि से विचार करने पर यही निर्वाण है। प्रतीत्यसमुत्पाद हमें बताता है कि भौतिक जगत में सब कुछ सापेक्ष्य पर निर्भर तथा जरामरण के अधीन होने के कारण लय है। संसार की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष्य होने के कारण न तो पूर्णतः सत्य है और न ही पूर्ण असत्य है। पूर्ण सत्य इसलिए नहीं है क्योंकि यह जरामरण के अधीन है और असत्य इसलिए नहीं है क्योंकि इसका अस्तित्व दृष्टिगोचर है। इस प्रकार सभी दृश्यमान वस्तुएं वास्तविकता एवं शून्यता के मध्य स्थित हैं। इस प्रकार गौतम बुद्ध अपने मत को मध्यम–मार्ग (मध्यमा–प्रतिपद) कहते हैं। यह दोनों अतिवादी विचारधाराओं–शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद–का निषेध करता है। गौतम बुद्ध का मध्यम–मार्ग अरस्तू के स्वर्णिम मार्ग के समान है। उन्होंने अतिशय आसक्ति तथा कायाक्लेश दोनों का विरोध किया। महात्मा बुद्ध ने अपने प्रथम उपदेश में भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा था–"संसार में दो अतियां हैं। इनसे धार्मिक व्यक्ति को बचना चाहिए। प्रथम, सुख में पूरी तरह लिप्त होना है। यह निम्न, अयोग्य, अपवित्र, अनैतिक, अवास्तविक है। द्वितीय कायाक्लेश का जीवन है। यह भी अन्धकारपूर्ण, अयोग्य तथा मिथ्या है। तथागत ने इन दोनों से परे होकर मध्यम मार्ग की खोज की है जो नेत्र और मस्तिष्क को प्रकाशित करता है तथा शान्ति, ज्ञान, सम्बोधि, निर्वाण की ओर ले जाता है।" गौतम बुद्ध स्वयं प्रतीत्यसमुत्पाद को अत्यधिक महत्व देते हैं तथा इसका तादात्म्य 'धम्म' के साथ स्थापित करते हुए कहते हैं–'जो प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है वह धम्म को समझता है तथा जो धम्म को समझता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है।' गौतम बुद्ध के उपदेश बहुत व्यावहारिक एवं सरल होते थे। वे ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित वेदों की अपौरुषेयता एवं आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को नहीं मानते थे । किन्तु आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने पर भी वे पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। उनके अनुसार जीवन विभिन्न अवस्थाओं की सन्तति है जो एक–दूसरे पर निर्भर करती है। किसी अवस्था की उत्पत्ति उसकी पूर्ववर्ती अवस्था से होती है। इसी प्रकार वर्तमान अवस्था परवर्ती अवस्था को जन्म देती है। इस प्रकार रिजडेविड्स के अनुसार, 'यह चरित्र है जिसका पुनर्जन्म होता है, किसी आत्मा का नहीं। एक व्यक्ति के मरने पर उसका चरित्र बना रहता है तथा अपनी शक्ति से वह एक अन्य व्यक्ति को उत्पन्न कर देता है। यह भिन्न आकार का होते हुए भी पूर्णतया उससे प्रभावित रहता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि व्यक्ति की भवतृष्णा पूर्णतया समाप्त नहीं हो जाती।'

गौतम बुद्ध ने वैदिक अनुष्ठानों, यज्ञीय कर्मकाण्डों तथा पशु बलि जैसी बुराइयों का जमकर विरोध किया। वे मानव जाति की समानता के अनन्य पोषक थे। उनका कहना था कि मनुष्य–मनुष्य में अंतर जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण, बुद्धि तथा कर्म के आधार पर होता है। अतः उन्होंने ब्राह्मणों की जन्मना श्रेष्ठता के दावे का खण्डन किया। जाति–पाति, छुआ–छूत जैसा कोई भेद–भाव उनकी दृष्टि में नहीं था और यही कारण था कि उन्होंने अपने संघ के द्वार सभी जाति के लिए खोल दिए थे। एक सच्चे समाज सुधारक के रूप में वे अपने समकालीन समाज को जाति तथा धर्म के दोषों से मुक्त करना चाहते थे। गौतम बुद्ध जटिल दार्शनिक समस्याओं में कभी नहीं उलझे तथा एक नैतिक दार्शनिक के रूप में उन्होंने मनुष्य के नैतिक

टिप्पणी

तथा सामाजिक गुणों के विकास को ही महत्व दिया। उनकी धार्मिक दृष्टि बड़ी उदार थी। उनकी दृष्टि में ज्ञान तथा नैतिकता दोनों ही महत्वपूर्ण थे किन्तु वे ज्ञान को नैतिकता के ऊपर रखने के पक्ष में नहीं थे। ज्ञान की अपेक्षा शील (नैतिकता) को उन्होंने अधिक महत्वपूर्ण बताया क्योंकि यही ज्ञान की प्राप्ति का माध्यम है। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक मान्यताओं तथा अंधविश्वासों जैसे–नदियों के जल की पवित्रता, भविष्यवाणियों, स्वप्न–विचार, शकुन, जादूगरी, चमत्कारपूर्ण प्रदर्शनों आदि की निंदा करते हुए उन्हें त्याज्य बताया। वे काया–क्लेश, घोर तपस्या, संसार–त्याग के भी पक्ष में नहीं थे, किन्तु अपने कुछ उत्साही अनुयायियों को उन्होंने संसार त्याग कर भिक्षु जीवन व्यतीत करने को प्रोत्साहित किया क्योंकि सांसारिक सुखों को वे निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में बाधा समझते थे। सामान्य मनुष्यों के लिए गौतम बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया वह भिक्षु धर्म से अलग था और उसे उपासक धर्म कहा जाता है। दीघनिकाय के सिगालोवाद सुत्त में इस धर्म का वर्णन मिलता है। बुद्धघोष ने इसे 'गिहिविनय' अर्थात् 'गृहस्थों के लिए आचरण' की संज्ञा प्रदान की है। इसमें इस धर्म के प्रमुख लक्षण अहिंसा, सत्य, भाषण, प्राणियों पर दया, माता–पिता की सेवा, गुरुजनों का सम्मान, ब्राह्मणों तथा श्रमणों को दान, मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों आदि के साथ अच्छा व्यवहार करना इत्यादि बताए गए हैं। ये बातें सभी धर्मों में समान रूप से श्रद्धेय मानी जाती हैं। गौतम बुद्ध के उपदेशों का मूल लक्ष्य मानव जाति को उसके दुःखों से मुक्ति दिलाना था और इस रूप में उनका नाम मानवता के महान् पुजारियों में सदैव अग्रणी रहेगा। उनके उपदेशों में शुरू से अंत तक सरलता एवं व्यावहारिकता दिखायी देती है।

बौद्ध धर्म का विकास

गौतम बुद्ध के जीवन काल में ही बड़ी संख्या में लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया या। उदाहरण के लिए, मगध, कौशल और कौशाम्बी की जनता ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। शाक्य, वज्जि और मल्ल जनपदों की जनता ने भी इसका अनुसरण किया। अशोक और कनिष्क ने बौद्ध धर्म को राज्य धर्म बनाया और यह मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया और श्रीलंका में फैल गया।

बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के निम्नलिखित कारण थे–

(1) व्यावहारिक नैतिकता पर बल देना, मानव जाति की समस्याओं को सहज स्वीकृत करना, समाधान और साधारण दर्शन ने जनता को बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित किया।

(2) बौद्ध धर्म में संकलित सामाजिक समानता के विचारों के कारण साधारण जनता ने इसे स्वीकार किया।

(3) अनाथपिण्डिका जैसे व्यापारी और आम्रपालि जैसी गणिका ने इस धर्म को स्वीकार किया क्योंकि उन्होंने इस धर्म में उचित सम्मान प्राप्त किया।

(4) विचारों को व्यक्त करने के लिए लोकप्रिय भाषा पालि के प्रयोग ने भी धर्म के विस्तार में सहायता दी। संस्कृत का प्रयोग करने के कारण ब्राह्मण धर्म सीमा में बंध गया था क्योंकि वह जनसाधारण की भाषा नहीं थी।

टिप्पणी

(5) राजाओं के द्वारा संरक्षण प्रदान किए जाने के कारण बौद्ध धर्म का विस्तार शीघ्रता के साथ हुआ। उदाहरण के लिए ऐसी धारणा है कि अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संगमित्रा को श्रीलंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा। उसने अनेक बौद्ध विहार स्थापित किए और संघ के लिए उदार भाव से दान आदि भी दिया।

(6) बौद्ध मत को प्रभावशाली ढंग से फैलाने में संघ की संस्था ने संगठित रुप से योगदान दिया।

बौद्ध–संघ

संघ बौद्ध मत की धार्मिक व्यवस्था थी। यह भली–भांति संगठित एवं शक्तिशाली संस्था थी और इसने बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाया। 15 वर्ष से अधिक आयु वाले सभी नागरिक इस धर्म में प्रवेश ले सकते थे चाहे वे किसी भी जाति के हों। केवल अपराधी, कुष्ठ रोगी तथा संक्रामक रोग से पीड़ित लोगों को संघ की सदस्यता नहीं दी जाती थी। प्रारम्भ में गौतम बुद्ध महिलाओं को संघ का सदस्य बनाने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन उनके प्रिय शिष्य आनन्द तथा उनकी दाई माँ महाप्रजापति गौतमी के निरंतर निवेदन करने पर उन्होंने उनको संघ में प्रवेश दिया।

भिक्षुओं को संघ में प्रवेश लेने पर विधिपूर्वक अपना मुंडन कराना होता था और पीले या गेरुए रंग के वस्त्र धारण करने पड़ते थे। भिक्षुओं से अपेक्षित था कि वे नित्य बौद्ध मत के प्रचार के लिए जाएंगे और भिक्षा प्राप्त करेंगे। वर्षा ऋतु के चार मासों में वे एक निश्चित बिस्तर लगाते थे तथा समाधि में लीन रहते थे। इसको आश्रय या 'वशा' कहा जाता था। संघ लोगों को शिक्षा देने का कार्य भी करता था। ब्राह्मणवाद के विपरीत बौद्ध मत में समाज के सभी लोग शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। स्वाभाविक रूप से जिन लोगों को ब्राह्मणों ने शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया था उनको बौद्ध मत में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया और इस प्रकार शिक्षा का समाज के अनेक वर्गों में विस्तार हुआ।

बौद्ध संघ का संचालन जनतांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार होता था और अपने सदस्यों को अनुशासित करने की शक्ति भी इसी में निहित थी। यहां पर भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए एक आचार–संहिता थी और वे इसका पालन करते थे। गलती करने वाले सदस्य को संघ द्वारा दण्डित करने का प्रावधान भी था।

बौद्ध धर्म की सभाएं

बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में चार बौद्ध सभाओं अथवा संगतियों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। जब तक महात्मा बुद्ध जीवित रहे तब तक बौद्ध संघ के भिक्षु और भिक्षुणी सफलतापूर्वक कार्य करते रहे। परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् बौद्ध संघ के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हो गए। अतः इन मतभेदों को दूर करने के लिए बौद्ध धर्म में समय–समय पर सभाएं आयोजित की गई।

अनुश्रुतियों के अनुसार गौतम बुद्ध की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात् 483 ई. पू. में राजा अजातशत्रु के संरक्षण में राजगृह के निकट सप्तपर्णि गुफा में बौद्ध धर्म की प्रथम सभा हुई। इस सभा की अध्यक्षता महाकश्यप ने की। गौतम बुद्ध की शिक्षाओं को पिटकों में विभाजित किया गया, जिनके नाम इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

(1) विनयपिटक, और

(2) सुत्तपिटक।

विनय–पिटक की रचना उपालि के नेतृत्व में की गई और सुत्त–पिटक की रचना आनन्द के नेतृत्व में की गई। सुत्त–पिटक में धर्म के सिद्धांत और विनयपिटक में आचार के नियम थे।

बौद्ध धर्म की दूसरी सभा का आयोजन 383 ई. पू. में राजा कालाशोक के संरक्षण में वैशाली में हुआ। इस सभा की अध्यक्षता साबाकामी ने की। पाटलिपुत्र तथा वैशाली के भिक्षुओं ने कुछ नियमों का निर्धारण किया परन्तु इन नियमों को कौशाम्बी व अवन्ति के भिक्षुओं के द्वारा गौतम बुद्ध की शिक्षा के प्रतिकूल घोषित कर दिया गया। दोनों विरोधी गुटों के बीच कोई भी समझौता कराने में सभा असफल रही। बौद्ध धर्म का विभाजन स्थायी तौर पर दो बौद्ध संप्रदायों–स्थविरवादी व महासांघिक में हो गया। पहले संप्रदाय ने विनयपिटक में वर्णित रूढ़िवादी विचारों को अपनाया और दूसरे ने नए नियमों का समर्थन किया और फिर उनमें परिवर्तन किए।

बौद्ध धर्म की तीसरी सभा का आयोजन 251 ई.पू. में सम्राट अशोक के शासनकाल में मोग्गालिपुत्ततिस्स की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में किया गया। इस सभा में सिद्धान्तों की दार्शनिक विवेचना को संकलित किया गया तथा इसको अभिधम्मपिटक के नाम से जाना जाता है। इस सभा में बौद्ध धर्म को असंतुष्टों एवं नए परिवर्तनों से मुक्त कराने का प्रयास किया गया। 60,000 'पथभ्रष्ट' भिक्षुओं को इस सभा द्वारा बौद्ध धर्म से निष्कासित कर दिया गया। सप्त उपदेशों के साहित्य को परिभाषित किया गया तथा आधिकारिक तौर पर विघ्न पैदा करने वाली प्रवृत्तियों से भी निबटा गया।

बौद्ध धर्म की चौथी सभा का आयोजन कश्मीर में सम्राट कनिष्क के शासन काल में 120 ई. में हुआ। इसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने की तथा अश्वघोष इसके उपाध्यक्ष बने। इसी सभा में बौद्ध धर्म हीनयान और महायान नामक दो स्पष्ट एवं स्वतंत्र संप्रदायों में विभाजित हो गया। तीन पिटकों पर तीन टीकाओं (भाष्यों) का संकलन इस सभा द्वारा किया गया। इसने उन विवादग्रस्त मतभेद वाले प्रश्नों का निबटारा किया जो श्रावस्तीवासियों एवं काश्मीर तथा गांधार के प्रचारकों के मध्य उत्पन्न हो गए थे।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन से अभिप्राय उस दर्शन से है जो भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म के विभिन्न संप्रदायों द्वारा विकसित किया गया और बाद में पूरे एशिया में उसका प्रसार हुआ।

हीनयान तथा महायान

कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म स्पष्टत दो संप्रदायों में विभक्त हो गया–हीनयान और महायान। इस समय तक बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या में बहुत वृद्धि हो गई थी। अनेक लोग इस धर्म में नवीन विचारों एवं भावनाओं के साथ प्रविष्ट हुए थे। अतः बौद्ध धर्म के प्राचीन स्वरूप में समयानुसार परिवर्तन लाना आवश्यक हो गया था। अतः इसमें सुधार की मांग होने लगी। इसके विपरीत कुछ रूढ़िवादी लोग बौद्ध धर्म के प्राचीन आदर्शों को ज्यों–का–त्यों बनाए रखना चाहते थे और वे उसके स्वरूप में किसी

टिप्पणी

प्रकार का परिवर्तन अथवा सुधार नहीं चाहते थे। ऐसे लोगों का संप्रदाय 'हीनयान' कहलाया। हीनयान का शाब्दिक अर्थ है–निम्न मार्ग। यह मार्ग केवल भिक्षुओं के लिए ही सम्भव था। बौद्ध धर्म का सुधारवादी संप्रदाय 'महायान' कहा गया। महायान का अर्थ है–उत्कृष्ट मार्ग। इसमें पर सेवा तथा परोपकार पर विशेष बल दिया गया। गौतम बुद्ध की मूर्ति के रूप में पूजा होने लगी। यह मार्ग सर्वसाधारण के लिए सुलभ था। इसकी व्यापकता एवं उदारता को देखते हुए इसका 'महायान' नाम सर्वथा उपयुक्त लगता है। इसके द्वारा अधिक लोग मोक्ष प्राप्त कर सकते थे। इन दोनों संप्रदायों में निम्नलिखित भिन्नताएं हैं–

(1) हीनयान में गौतम बुद्ध को एक महापुरुष समझा जाता था, परन्तु महायान में उन्हें देवता माना गया तथा उनकी पूजा की जाने लगी। इसी के साथ अनेक बोधिसत्वों की भी पूजा प्रारम्भ हुई। बोधिसत्व मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करने वाले वे व्यक्ति थे जो मुक्ति के बाद भी मानव जाति को उसके दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति बोधिसत्व हो सकता है। निर्वाण में सभी मनुष्यों की सहायता करना बोधिसत्व का परम कर्तव्य है। बोधिसत्व को दस आदर्शों को प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। इन्हें 'पारमिता' कहा जाता है। पारमिताएं वस्तुतः चारित्रिक पूर्णताएं हैं। ये हैं–दान, शील, सहनशीलता, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय, प्रणिधान, बल तथा ज्ञान। इन्हें 'दशशील' कहा जाता है।

(2) महायान में परसेवा तथा परोपकार पर बल दिया गया। उसका उद्देश्य समस्त मानव जीवन जाति का कल्याण है। इसके विपरीत हीनयान व्यक्तिवादी धर्म है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रयत्नों से ही मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

(3) महायान आत्मा एवं पुनर्जन्म में विश्वास करता है। इसमें मूर्ति–पूजा का भी विधान है, परन्तु हीनयान मूर्ति–पूजा एवं भक्ति में विश्वास नहीं रखता। महायान में तीर्थों को भी स्थान दिया गया।

(4) हीनयान की साधन–पद्धति अत्यन्त कठोर है तथा वह भिक्षु जीवन की पक्षधर है, परन्तु महायान के सिद्धान्त सरल एवं सर्वसाधारण के लिए सुलभ हैं। यह मुख्यतः गृहस्थ धर्म है जिसमें भिक्षुओं के अतिरिक्त सामान्य उपासकों को भी महत्व दिया गया है।

(5) हीनयान का आदर्श 'अर्हत्' पद को प्राप्त करना है। जो व्यक्ति अपनी साधना से निर्वाण प्राप्त करते हैं उन्हें 'अर्हत्' कहा गया है, परन्तु निर्वाण के बाद उनका पुर्नजन्म नहीं होता। इसके विपरीत महायान का आदर्श 'बोधिसत्व' है।

इस प्रकार महायान में व्यापकता एवं उदारता है। जापानी बौद्ध विद्वान डी. टी. सुजुकी के शब्दों में, "महायान ने बुद्ध की शिक्षाओं के आन्तरिक महत्व का खण्डन किए बिना बौद्ध धर्म के मौलिक क्षेत्र को विस्तृत कर दिया।"

कालांतर में उपर्युक्त दोनों संप्रदायों के अन्तर्गत भी दो–दो संप्रदाय बन गए। हीनयान के प्रमुख संप्रदाय हैं–वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक। महायान के संप्रदाय हैं–शून्यवाद (माध्यमिक) तथा विज्ञानवाद (योगाचार)। 7वीं–8वीं शताब्दी में वज्रयान नामक एक अन्य संप्रदाय का उदय हुआ। इनका विवरण इस प्रकार है–

टिप्पणी

वैभाषिक संप्रदाय

इस संप्रदाय की उत्पत्ति मुख्य रूप से कश्मीर में हुई। विभाषाशास्त्र पर आधारित होने के कारण इसे वैभाषिक नाम दिया गया। वैभाषिक मतानुयायी चित्त तथा बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि वस्तुओं का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष से ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं है। अतः इस मत को 'बाह्य प्रत्यक्षवाद' भी कहा जाता है। वैभाषिक सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु का निर्माण परमाणुओं से होता है जो प्रतिक्षण अपना स्थान बदलते रहते हैं। उनके अनुसार जगत का अनुभव इन्द्रियों द्वारा होता है। धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, बुद्धदेव व अन्य वैभाषिक मत के प्रमुख आचार्य हैं।

सौत्रान्तिक संप्रदाय

सौत्रान्तिक संप्रदाय के प्रवर्तक कुमारलात थे। इस संप्रदाय का मुख्य आधार सूत्र (सुत्त) पिटक है, अतः इसे सौत्रान्त्रिक कहा जाता है। ये चित्त तथा बाह्य जगत् दोनों की सत्ता में विश्वास करते हैं। किन्तु इस संप्रदाय के अनुयायी यह नहीं मानते कि वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से होता है। उनके मत में बाह्य जगत् की वस्तुओं का जो हम अनुभव करते हैं वे वस्तुतः हमारे मन के विकल्प मात्र हैं। वे हमारे विचारों के ही प्रतिरूप हैं। मन में बाह्य वस्तुओं के आकार निर्मित होते हैं जो हमें बाह्य सत्ता का बोध कराते हैं। बाह्य वस्तुओं के बहुत–से आकार होने के कारण ही ज्ञान के भी भिन्न–भिन्न आकार होते हैं। ज्ञान दीपक के समान स्वयं को स्वतः प्रकाशित करता है।

माध्यमिक (शून्यवाद) संप्रदाय

इस संप्रदाय के प्रवर्तक नागार्जुन थे जिन्होंने 'माध्यमिक कारिका' नामक प्रसिद्ध रचना लिखी। इसे सापेक्ष्यवाद भी कहा जाता है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु किसी न किसी कारण से उत्पन्न हुई है और वह उस पर–निर्भर है। नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्यता कहा है। इस मत में गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मध्यम–मार्ग को विकसित किया गया है।

शून्यवाद के अनुसार परम तत्व को बुद्धि या विचारधाराओं के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। उसका स्वरूप सर्वदा अवर्णनीय है। सामान्यतः किसी वस्तु के ज्ञान के सम्बन्ध में चार प्रकार होते हैं–

(1) वस्तु का अस्तित्व है।

(2) वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

(3) वस्तु का अस्तित्व है भी और नहीं भी है।

(4) वस्तु का अस्तित्व न तो है और न नहीं ही है।

किन्तु परमार्थिक या परमतत्व का ज्ञान उपर्युक्त चारों कोटियों से रहित है और इस कारण वह शून्य है। वर्णनातीत तत्व ही शून्यता है। इस प्रकार शून्यवाद का अर्थ विनाशवाद नहीं है, बल्कि यह परम तत्व या पारमार्थिक सत्ता को तर्क और बुद्धि को सीमा से परे मानता है। शून्यता दो प्रकार की स्वीकार की गयी है–अस्तित्व शून्यता तथा विचार शून्यता। अस्तित्व शून्यता का अर्थ यह है कि संसार की सभी वस्तुएं

कार्य–कारण के नियम से बंधी हुई हैं (अप्रतीत्य–समुत्पन्नोधर्मः कश्चिन्न विद्यते)। विचार–शून्यता का अर्थ यह है कि हमारे विचारों में भी कोई स्थायी आन्तरिक सूत्र नहीं होता है और वे निरन्तर परिवर्तनशील होते हैं।

टिप्पणी

शून्यवादी दो प्रकार के सत्य स्वीकार करते हैं–सांवृत्तिक सत्य तथा पारमार्थिक सत्य। सांवृत्तिक सत्य सांसारिक सत्य है जो साधारण मनुष्यों के लिए है। यह बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। पारमार्थिक सत्य से तात्पर्य परम सत्य से है जो तर्क और बुद्धि से परे है। सांवृत्तिक सत्य पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति का साधन मात्र होता है। यह अन्ततोगत्वा मिथ्या है। इसका आवरण हटने पर ही परम सत्य की प्राप्ति होती है। माध्यमिक कारिका में एक स्थान पर कहा गया है कि जो इन दोनों सत्यों का भेद समझता है वही गौतम बुद्ध की गूढ़ शिक्षाओं को समझ सकता है।

शून्यवाद का लक्ष्य शून्य दृष्टि की प्राप्ति है जिसे प्रज्ञा या अलौकिक ज्ञान कहा जाता है। यह समाधि द्वारा प्राप्त करना सम्भव है। समाधि में 6 पारमिताओं–दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा का बोध एवं अभ्यास कराया जाता है। इन्हीं के अभ्यास एवं पालन से साधक शून्यदृष्टि प्राप्त करता है। शून्य दृष्टि को प्राप्त करने पर दुःखों का विनाश हो जाता है तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। यह वर्णनातीत है। माध्यमिक कारिका में नागार्जुन एक स्थान पर निर्वाण का वर्णन इस प्रकार करते हैं– 'जो अज्ञात है, जिसकी प्राप्ति नहीं है, जिसका विनाश नहीं है, जो उत्पन्न भी नहीं है, उसी का नाम निर्वाण है।' इस प्रकार शून्यवाद में गौतम बुद्ध के उपदेशों को ही विकसित करने का प्रयास किया गया है। उन्होंने स्वयं मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था और निर्वाण को वर्णनातीत बताया था। नागार्जुन के अतिरिक्त इस संप्रदाय के अन्य विद्वान् चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव, आर्य देव, शान्तिरक्षित व अन्य थे। इन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से शून्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

विज्ञानवाद (योगाचार) संप्रदाय

इस संप्रदाय की स्थापना तीसरी शताब्दी ई. में मैत्रेयनाथ ने की थी। इसका विकास असंग तथा वसुबन्धु ने किया। वसुबन्धु द्वारा लिखित 'वजछेदिका' नामक ग्रन्थ में विज्ञानवाद का विकास दिखाया गया है। यह संप्रदाय चित्त अथवा विज्ञान की ही एक मात्र सत्ता स्वीकार करता है जिससे इसे 'विज्ञानवाद' कहा जाता है। योग तथा आचार को विशेष महत्व देने के कारण इसे योगाचार भी कहते हैं।

योगाचार संप्रदाय के अनुसार चित्त (मन) या विज्ञान के अलावा संसार में किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। समस्त बाह्य पदार्थ, जिन्हें हम देखते हैं, चित्त के विज्ञान मात्र हैं। जो पदार्थ बाहर समझे जाते हैं वे वस्तुतः हमारे मन के ही अन्तर्गत हैं। जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था में हम वस्तुओं को बाह्य मानते हैं जबकि वे मन के भीतर ही रहती हैं, उसी प्रकार जो पदार्थ सामान्य अवस्था में बाह्य प्रतीत होते हैं वे विज्ञान मात्र हैं। विज्ञान से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है।

विज्ञानवादी चित्त को आलय विज्ञान कहते हैं क्योंकि वह सभी प्रकार के विज्ञानों का आलय (घर) है। इसमें सभी ज्ञान बीज रूप में निवास करते हैं। योगाचार के माध्यम से आलय विज्ञान को वश में करके विषय ज्ञान की उत्पत्ति को रोका जा सकता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त करता है। ऐसा न होने पर सांसारिक वस्तुओं

के प्रति आसक्ति में वृद्धि होती है तथा भवबंधन से कभी भी मुक्ति नहीं मिलती है। इस प्रकार आलय विज्ञान अन्य दर्शनों की आत्मा के सदृश है। किन्तु जहां आत्मा नित्य है वहां यह परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का प्रवाह मात्र है।

टिप्पणी

विज्ञानवादी भी शून्यवादियों की भांति बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते किन्तु वे चित्त की सत्ता को स्वीकार करते हैं क्योंकि ऐसा न मानने पर कोई भी विचार प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार केवल चित्त की ही प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। यही उत्पन्न होती है तथा इसी का निरोध भी होता है।

क्षणिकवाद

बौद्ध दर्शन में सबसे महत्वपूर्ण दर्शन क्षणिकवाद का है। इसके अनुसार, इस ब्रह्मांड में सब कुछ क्षणिक और नश्वर है। बौद्धों के अनुसार वस्तु निरंतर परिवर्तनशील है और कोई भी पदार्थ एक क्षण से अधिक स्थायी नहीं रहता है। कोई भी मनुष्य किन्हीं भी दो क्षणों में एक जैसा नहीं रह सकता, इसलिए आत्मा भी क्षणिक है और यह सिद्धान्त क्षणिकवाद कहलाता है । इसके लिए बौद्ध मतानुयायी प्रायः दीपशिखा की उपमा देते हैं। जब तक दीपक जलता है, तब तक उसकी लौ की एक ही शिखा प्रतीत होती है, जबकि यह शिखा अनेकों शिखाओं की एक शृंखला है। एक बूँद से उत्पन्न शिखा दूसरी बूंद से उत्पन्न शिखा से भिन्न है किन्तु शिखाओं के निरन्तर प्रवाह से एकता का भान होता है। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थ क्षणिक हैं, किन्तु उनमें एकता की प्रतीति होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त 'नित्यवाद' और 'अभाववाद' के बीच का मध्यम मार्ग है।

प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत कहता है कि कोई भी घटना केवल दूसरी घटनाओं के कारण ही एक जटिल कारण–परिणाम के जाल में विद्यमान होती है। इससे अभिप्राय एक वस्तु के प्राप्त होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति अथवा एक कारण के आधार पर एक कार्य की उत्पत्ति से है। प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्ष भी है और निरपेक्ष भी। सापेक्ष दृष्टि से वह संसार है और निरपेक्ष दृष्टि से निर्वाण। यह क्षणिकवाद की भांति शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के मध्य का मार्ग है। इसीलिए इसे मध्यममार्ग कहा जाता है और इसको मानने वाले माध्यमिक। इस चक्र के बारह क्रम हैं,जो एक दूसरे को उत्पन्न करने के कारण हैं।

वज्रयान संप्रदाय

पांचवीं या छठी शताब्दी ई. में बौद्ध धर्म के ऊपर तंत्र–मंत्रों का प्रभाव बढ़ने लगा जिसके फलस्वरूप वज्रयान नामक नए संप्रदाय का जन्म हुआ। इसमें मंत्रों तथा तांत्रिक क्रियाओं द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। वज्रयानी 'वज्र' को एक अलौकिक तत्व के रूप में मानते हैं। इसका तादात्म्य 'धर्म' के साथ स्थापित किया गया है। इसकी प्राप्ति के लिए भिक्षा, तप आदि के स्थान पर मैथुन, मांस आदि के सेवन पर बल दिया गया। वज्रयानियों की क्रियाएं शाक्त मतावलम्बियों से मेल खाती हैं। इसमें तारा व अन्य देवियों को महत्व प्रदान किया गया है। यह प्रतिपादित किया गया है कि शब्द, रूप, स्पर्श आदि भोगों से गौतम बुद्ध की पूजा की जानी चाहिए। रागचर्या को सर्वोत्तम बताया गया है। वज्रयान का सबसे अधिक विकास आठवीं शताब्दी

टिप्पणी

में हुआ। इसके सिद्धान्त 'मंजुश्रीमूलकल्प' तथा 'गुह्यसमाज' नामक ग्रन्थों में मिलते हैं। वज्रयान ने भारत से बौद्ध धर्म के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

बौद्ध धर्म के पतन के कारण

12वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म भारत से लगभग विलुप्त हो गया। 11वीं शताब्दी तक यह बंगाल और बिहार में परिवर्तित रूप में था, परन्तु उसके पश्चात् बौद्ध धर्म लगभग पूरी तरह से भारत से गायब हो गया, यह कैसे हुआ? साधारणतया यह देखा गया है कि आरम्भ में प्रत्येक धर्म सुधार की भावना से प्रेरित होता है, परन्तु अन्त में यह उन्हीं रीति–रिवाजों और समारोहों का हिस्सा हो जाता है, जिनसे यह जूझ रहा होता है। बौद्ध धर्म में इसी प्रकार का परिवर्तन हुआ। यह ब्राह्मणवाद की बुराई का शिकार बन गया, जिसके विरुद्ध उसने प्रारम्भ में संघर्ष किया था। बौद्धों की चुनौती के अनुरूप, ब्राह्मणों ने अपने धर्म में सुधार किया। उन्होंने पशु धन की रक्षा की आवश्यकता पर बल दिया तथा स्त्रियों और शूद्रों को स्वर्ग–प्रवेश का आश्वासन दिया। दूसरी ओर, बौद्ध धर्म, बदतर होता चला गया। बौद्ध भिक्षु लोगों के जीवन की मुख्य धारा से कट गए। उन्होंने जन–साधारण की भाषा, पालि को त्याग दिया और बुद्धिजीवियों की भाषा संस्कृत को अपना लिया। प्रथम शताब्दी के पश्चात्, वे बड़े स्तर पर मूर्ति पूजा करने लगे और भक्तों से प्रसाद लेने लगे। बौद्ध मठों के लिए उदार राजशाही द्वारा दिए गए समृद्ध प्रसाद ने भिक्षुओं के जीवन को सरल कर दिया। नालन्दा जैसे कुछ मठों ने 200 से अधिक गाँवों से राजस्व एकत्र किया। 7वीं शताब्दी तक, बौद्ध मठों में आराम पसन्द लोगों का प्रभाव बढ़ा और वे गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिबन्धित भ्रष्ट प्रथाओं के केंद्र बन गए। बौद्ध धर्म का नया रूप वज्रयान के रूप में जाना जाता था। मठों में बढ़ते अपार धन और अनैतिक गतिविधियों से यह और अधिक पतन की ओर अग्रसर हुआ। स्त्रियों को बौद्ध कामलोलुप दृष्टि से देखने लगे। कहा जाता है कि गौतम बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था–'मठों में महिलाओं को भर्ती न किया जाता तो बौद्ध धर्म एक हजार साल तक जीवित रहता, लेकिन चूंकि उन्हें प्रवेश दिया गया है, इसलिए यह केवल पांच सौ साल में खत्म हो जाएगा।'

माना जाता है कि ब्राह्मण शासक पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों का जनसंहार किया था। 6–7 वीं शताब्दियों में उत्पीड़न की अनेक घटनाएं मिलती हैं। शिव के परम भक्त हूण राजा मिहिरकुल ने सैकड़ों बौद्धों को मार डाला। गौड़ के शैव शशांक ने बोधगया में बोधिवृक्ष काट दिया, जहां गौतम बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। ह्यूनत्सांग बताते हैं कि 1600 स्तूपों और मठों को नष्ट कर दिया गया तथा हजारों की संख्या में भिक्षुओं और अनुयायियों की हत्या कर दी गई। ये सब बिना किसी तथ्य के नहीं हो सकते। बौद्ध प्रतिक्रियाओं को बौद्ध मन्दिरों में देखा जा सकता है, जिसमें बौद्ध ब्राह्मणवादी हिन्दू देवताओं के ऊपर वर्चस्व करते दिखाया गया है। दक्षिण भारत में शैव और वैष्णव ने प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में जैनों और बौद्धों का कड़ा विरोध किया। इन संघर्षों से बौद्ध धर्म दुर्बल हुआ होगा।

अपनी अपार धन सम्पदा के कारण ये मठ तुर्क आक्रमणकारियों की दृष्टि में आए और लालची आक्रमणकारियों ने इन्हें निशाना बनाया। तुर्कों ने बिहार में बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षुओं की हत्या की, यद्यपि कुछ भिक्षु नेपाल और तिब्बत भागने में सफल रहे। 12वीं शताब्दी तक, बौद्ध धर्म वास्तव में अपनी जन्मभूमि भारत से गायब हो गया।

बौद्ध धर्म का महत्व और प्रभाव

टिप्पणी

एक संगठित धर्म के रूप में लुप्त होने के बावजूद, बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभाव छोड़ा। 500 ई.पू. के आस–पास बौद्धों ने उत्तर–पश्चिम के लोगों की समस्याओं के विषय में गहरी जागरूकता दिखाई। लोहे के हल से की जाने वाली कृषि, व्यापार, और सिक्कों के प्रयोग से व्यापारीगण और धनी लोग धन इकट्ठा करने में सक्षम हुए। इन सबसे सामाजिक और आर्थिक असमानताओं का निर्माण हुआ। इसलिए बौद्ध धर्म ने लोगों को सलाह दी थी कि धन संचय न करें। इसके फलस्वरूप घृणा, हिंसा, क्रूरता और गरीबी आदि व्यापक पैमाने पर बढ़ी। इन बुराइयों को समाप्त करने के लिए, गौतम बुद्ध ने सिखाया कि किसानों को अनाज एवं अन्य सुविधाएं, व्यापारियों को पूंजी और बेरोजगारों को रोजगार की सुविधाएं दी जानी चाहिए। विश्व भर से निर्धनता उन्मूलन के लिए इन तरीकों को अपनाने की सलाह दी गई। बौद्ध धर्म ने यह भी सिखाया कि भिक्षुओं को यदि कोई गरीब दान देते हैं, तो वे अगले जन्म में धनी पैदा होंगे।

भिक्षुओं के लिए निर्धारित आचार संहिता 4–5 वीं शताब्दी ई.पू. में उत्तर–पूर्व भारत की भौतिक स्थितियों के विरुद्ध उठी प्रतिक्रिया की द्योतक है। यह संहिता भिक्षुओं के भोजन, वस्त्र एवं यौन–व्यवहार पर प्रतिबन्ध लगाती है। वे सोने, चाँदी स्वीकार नहीं कर सकते थे, क्रय–विक्रय का सहारा नहीं ले सकते थे। गौतम बुद्ध की मृत्यु के बाद इन नियमों को ढीला छोड़ दिया गया, परन्तु प्रारम्भिक नियम की भांति एक प्रकार के आदिम साम्यवाद, व्यापार और उन्नत कृषि से परहेज रखने वाले कबीलाई समाज की विशेषता की वापसी का संकेत देते हैं। भिक्षुओं के लिए निर्धारित आचार संहिता आंशिक रूप से धन, निजी सम्पति और विलासी जीवन के उपयोग के विद्रोह की द्योतक है, जिस समय 5वीं शताब्दी ई.पू. में उत्तर–पूर्व भारत में सम्पत्ति और धन विलासिता का सूचक समझा जाता था।

5वीं शताब्दी ई.पू. में बौद्ध धर्म ने नए भौतिक जीवन से उत्पन्न बुराइयों को नकारने का प्रयास किया। इसने लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन को भी परिवर्तित करने का प्रयास किया। कर्जदारों को संघ में सम्मिलित होने की मनाही से उन्हें साहूकारों और धनी लोगों के चंगुल से छुड़ाना कठिन हो गया। इसी प्रकार, दासों के लिए संघ में सम्मिलित न होने की पद्धति से मालिकों को दास बनाने में सहायता मिली। इस प्रकार, गौतम बुद्ध के नियमों और उपदेशों ने समय के साथ बदलते भौतिक जीवन को समझा और उन्हें वैचारिक रूप से दृढ़ता प्रदान की।

यद्यपि बौद्ध भिक्षुओं ने सांसारिकता त्याग दी थी और वे बार–बार लालची ब्राह्मणों की आलोचना करते थे, तथापि अनेक प्रकार से वे ब्राह्मणों से मिलते भी थे। दोनों ने सीधे उत्पादन में हिस्सा नहीं लिया। वे समाज द्वारा दिए गए दान या उपहारों पर निर्भर थे। उन्होंने पारिवारिक दायित्वों, व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा और राजनीतिक अधिकार के सम्मान करने के गुणों पर बल दिया। दोनों ने वर्ग आधारित सामाजिक व्यवस्था का समर्थन किया, यद्यपि भिक्षुओं की दृष्टि में वर्ण गुणों पर आधारित थे, जबकि ब्राह्मणों की दृष्टि में वर्ण, जन्म पर आधारित था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बौद्ध शिक्षण का उद्देश्य व्यक्ति को मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कराना था। पुराने समतावादी समाज के विघटन, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा घोर

टिप्पणी

सामाजिक असमानता के उदय के कारण स्वयं को समायोजित करने में जिन लोगों को कठिनाई हो रही थी, उनके लिए कुछ रास्ते बनाए गए, परन्तु ऐसा भिक्षुओं तक ही सीमित था। अनुयायियों के लिए और कोई मार्ग नहीं था, अतः उन्हें तात्कालिक परिस्थितियों से समझौता कर लेने का उपदेश दिया गया।

बौद्ध धर्म ने अपने द्वार स्त्रियों और शूद्रों के लिए खुले रखकर समाज पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। ब्राह्मणवाद के अन्तर्गत स्त्रियों और शूद्रों को एक ही श्रेणी में रखा गया था, वे न तो जनेऊ धारण कर सकते थे और न ही उन्हें वेदों के अध्ययन की अनुमति थी। बौद्ध धर्म अपनाने से उन्हें उनकी इस निम्न पहचान से मुक्ति मिली। बौद्ध धर्म ने मजदूर श्रमिक का तिरस्कार नहीं किया। बोधगया से प्राप्त दूसरी शताब्दी की मूर्तिकला में, गौतम बुद्ध को बैल के साथ जुताई करते दर्शाया गया है। अहिंसा और पशु जीवन की पवित्रता पर बल देने के साथ, बौद्ध धर्म ने देश के पशु धन को बढ़ाया। प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थ 'सुत्तनिपात' में मवेशी को भोजन, सौन्दर्य, शक्ति और खुशी (अन्नदा, वन्नदा, बलदा, सुखदा) का दाता बताया गया है और इसलिए उनकी सुरक्षा का आग्रह किया गया है। यह शिक्षा उल्लेखनीय रूप से तब आई, जब पशुओं की हत्या, अनार्य लोग भोजन के लिए और आर्य धर्म के नाम पर करते थे। गाय की पवित्रता और अहिंसा पर ब्राह्मणवादी आग्रह स्पष्टतः बौद्ध शिक्षा से लिया गया था।

बौद्ध धर्म ने ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में एक नई जागरूकता उत्पन्न की और उसका विकास किया। इसने लोगों को सिखाया कि किसी भी बात को सहजता से स्वीकार मत करो। उसके गुणों पर बहस करों, उसका मूल्यांकन करो। कुछ सीमा तक तर्कशीलता ने लोगों के मध्य कार्य–कारण को बढ़ावा देते हुए अन्धविश्वास को समाप्त कर दिया। नए धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए बौद्धों ने एक नए प्रकार के साहित्य का संकलन किया तथा अपने लेखन द्वारा पालि को भी समृद्ध किया। प्रारम्भिक पालि साहित्य को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है– सबसे पहले गौतम बुद्ध की बातें और शिक्षाएं सम्मिलित हैं, दूसरा संघ के सदस्यों द्वारा माने जाने वाले नियमों से सम्बन्धित है तथा तीसरा धम्म के दार्शनिक प्रदर्शन को प्रस्तुत करता है।

ईसाई युग की प्रथम तीन शताब्दियों में, पालि और संस्कृत के मिश्रण से, बौद्धों ने एक नई भाषा बनाई, जिसे संकर–संस्कृत (हाइब्रिड संस्कृत) कहा जाता है। बौद्ध भिक्षुओं की साहित्यिक गतिविधियां मध्य युग में भी जारी रहीं और पूर्वी भारत में उनके द्वारा कुछ प्रसिद्ध अपभ्रंश लिखे गए। बौद्ध मठ शिक्षा के महान केंद्र के रूप में विकसित हुए। उन्हें आवासीय विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। बिहार में नालन्दा और विक्रमशिला तथा गुजरात में वल्लभी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी दूर–दूर से शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे।

बौद्ध धर्म ने प्राचीन भारतीय कला को भी प्रभावित किया। भारत में पूजा की जाने वाली पहली मानव मूर्ति सम्भवतः बुद्ध की थीं। बौद्ध धर्म के अनुयायियों एवं भक्तों ने पत्थर में गौतम बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाओं को चित्रित किया। बिहार में बोधगया और मध्य प्रदेश में साँची एवं भरहुत की मूर्ति–शृंखला इन्हीं कलात्मक गतिविधियों के उदाहरणों को उजागर करते हैं। पहली शताब्दी के बाद से, गौतम बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण शृंखलाबद्ध रूप से आरम्भ हो गया। यूनानी और भारतीय

टिप्पणी

शिल्पकारों ने एक साथ मिलकर भारत की उत्तर–पश्चिम सीमाओं पर एक नई कला का सृजन किया जिसे गान्धार–कला के रूप में जाना जाता है। इस क्षेत्र में बनाई गई छवियाँ भारतीय और विदेशी प्रभाव दोनों को दर्शाती हैं। भिक्षुओं के निवास के लिए, चट्टानों से कक्ष निर्मित किए गए थे और इस प्रकार गया से सटी हुई पहाड़ियों और पश्चिमी भारत में भी नासिक के आस–पास गुफा–वास्तुकला आरम्भ हुई। दक्षिण में कृष्णा नदी के किनारे और उत्तर में मथुरा में बौद्ध कला का विकास हुआ।

अपनी प्रगति जांचिए

1. महात्मा बुद्ध को निर्वाण की प्राप्ति कब हुई थी?
   (क) 486 ई.पू. में (ख) 490 ई.पू. में
   (ग) 491 ई.पू. में (घ) 495 ई.पू. में
2. गौतम बुद्ध को संबोधि में किस सिद्धान्त का बोध हुआ था?
   (क) सत्कार्यवाद (ख) असत्कार्यवाद
   (ग) प्रतीत्यसमुत्पाद (घ) विवर्तवाद
3. गौतम बुद्ध ने कितने प्रकार के आर्य सत्यों का उपदेश दिया था?
   (क) दो (ख) चार
   (ग) तीन (घ) पांच

5.3 जैन धर्म

यहां जैन धर्म को विस्तार से विवेचित किया जा रहा है।

महावीर स्वामी का जीवन

महावीर स्वामी का जन्म 540 ई. पू. में वैशाली के निकट कुण्डग्राम में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ ज्ञातृक क्षत्रियों के संघ के प्रमुख थे जो वज्जि संघ का एक प्रमुख सदस्य था। उनकी माता त्रिशला अथवा विदेहदत्ता वैशाली के लिच्छवि शासक चेटक की बहन थी। इस प्रकार मातृपक्ष से वे मगध के हर्यंक वंश के शासकों– बिम्बिसार तथा अजातशत्रु के निकट सम्बन्धी थे। महावीर के बाल्यकाल का नाम वर्धमान था। उनकी परवरिश राजसी वातावरण में बड़े लाड़–प्यार के साथ हुई । युवावस्था में कुण्डिन्य गोत्र की कन्या यशोदा के साथ उनका विवाह हुआ। उससे उन्हें अणोज्जा (प्रियदर्शना) नाम की पुत्री उत्पन्न हुई जिसका विवाह जामालि के साथ हुआ। वह प्रारम्भ में उनका शिष्य बना किन्तु उसने ही जैन धर्म में प्रथम भेद उत्पन्न किया। कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध की तरह वर्धमान के बारे में भी ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि वे या तो चक्रवर्ती राजा बनेंगे या एक महान संन्यासी।

वर्धमान ने 30 वर्ष की अवस्था तक भौतिक जीवन व्यतीत किया। अपने माता–पिता की मृत्यु के पश्चात उन्होंने अपने बड़े भाई नंदिवर्धन की आज्ञा लेकर गृह त्याग दिया। इस अवसर पर उन्होंने अपनी पालकी में बैठकर सेना एवं सवारी के साथ कुंडग्राम के हजारों महलों के मध्य से होते हुए ज्ञातृकों के षड़वन नामक उद्यान पहुंचकर अशोक

टिप्पणी

वृक्ष के नीचे विश्राम किया तथा अलंकरण विहीन होकर दो दिन तक उपवास किया और केश मुंडित कराकर श्रमण हो गए। उन्होंने कठोर तपस्या एवं साधना का जीवन व्यतीत किया। जैन ग्रन्थ आचारांगसूत्र उनके कठोर तपश्चर्या एवं कायाक्लेश का बड़ा ही रोचक विवरण प्रस्तुत करता है जो इस प्रकार है– 'प्रथम 13 महीनों में उन्होंने कभी भी अपना वस्त्र नहीं बदला। सभी प्रकार के जीव–जन्तु उनके शरीर पर रेंगते थे। तत्पश्चात् उन्होंने वस्त्र का पूर्ण त्याग कर दिया तथा नग्न घूमने लगे। शारीरिक कष्टों की उपेक्षा कर वे अपनी साधना में रत रहे। लोगों ने उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किए, उन्हें पीटा। किन्तु उन्होंने न तो कभी धैर्य खोया और न ही अपने उत्पीड़कों के प्रति मन में द्वेष अथवा प्रतिशोध रखा। वे मौन एवं शान्त रहे।.....' इसी प्रकार भ्रमण करते हुए वे राजगृह पहुंचे जहां के लोगों ने उनका सम्मान किया। वे नालन्दा गए जहां उनकी भेंट मक्खलिपुत्त गोशाल नामक संन्यासी से हुई। वह उनका शिष्य बन गया किन्तु 6 वर्षों के बाद उनका साथ छोड़कर उसने 'आजीविक' नामक नए संप्रदाय की स्थापना की। 12 वर्षों की कठोर तपस्या तथा साधना के पश्चात् जृम्भिक ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर एक साल के वृक्ष के नीचे उन्हें कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त हुआ। ज्ञान–प्राप्ति के पश्चात् वे 'केवलिन्', 'जिन' (विजेता), 'अर्हत्' (योग्य) तथा 'निर्ग्रन्थ' (बन्धन–रहित) कहलाए। अपनी साधना में अटल रहने तथा अतुल पराक्रम दिखाने के कारण उन्हें 'महावीर' नाम से सम्बोधित किया गया।

कैवल्य–प्राप्ति के पश्चात् महावीर धर्मोपदेश देकर लोगों को अपने मत में दीक्षित करते हुए स्थान–स्थान पर घूमते रहे। अपने इस भ्रमण के दौरान उन्हें अपार कष्ट सहना पड़ा। इन्हें उद्यानशाला, नगर–श्मशान, आवास स्थानों में दुष्ट जन एवं ग्राम के रक्षा पुरुषों तथा शक्तिधारी सैनिकों से, गृहस्थी के प्रलोभनों, शीत के घोर कष्ट आदि को सहना पड़ा। पश्चिम बंगाल (राढ़) के मार्ग रहित प्रदेश, ब्रज भूमि, वीर भूमि आदि में यात्रा करते समय उन्हें घोर कष्ट सहना पड़ा। इन स्थानों पर लोगों ने उनसे हिंसात्मक व्यवहार किया। उन पर कुत्ते छोड़े तथा अपशब्दों का प्रयोग किया। वे आठ महीने विचरण करते तथा वर्षा ऋतु के शेष चार महीनों में पूर्वी भारत के विभिन्न नगरों में विश्राम करते। जैन ग्रन्थों में ऐसे नगर चम्पा, वैशाली, मिथिला, राजगृह, श्रावस्ती आदि गिनाए गए हैं। वे अनेक बार बिम्बिसार और अजातशत्रु से मिले तथा सम्मान प्राप्त किया। वैशाली का लिच्छवि प्रमुख चेटक उनका मामा था तथा जैन धर्म के प्रचार में मुख्य योगदान उसी का रहा। जैन–साहित्य के अनुसार उसकी कन्याओं का विवाह सौवर, अंग, वत्स, अवन्ति तथा मगध के राजाओं के साथ हुआ था। इन सभी ने महावीर के मत के प्रचार–प्रसार में अवश्य ही सहायता प्रदान की होगी। समाज के कुलीन वर्ग के लोगों ने उनकी शिष्यता ग्रहण की। राजगृह में उपालि नामक गृहस्थ उनका प्रमुख शिष्य था। अजातशत्रु के समय में उनके मत की बहुत उन्नति हुई। महावीर के कुछ अनुयायियों ने उनका विरोध किया। सर्वप्रथम उनके दामाद जामालि ने उनके कैवल्य के चौदहवें वर्ष में एक विद्रोह का नेतृत्व किया। इसके दो वर्ष पश्चात् तिस्सगुप्त ने उनका विरोध किया। किन्तु शीघ्र ही वे दोनों शान्त कर दिए गए। अब उनकी ख्याति काफी बढ़ गई तथा दूर–दूर के लोग और राजागण उनके उपदेशों को सुनने के लिए आने लगे। उन्होंने 30 वर्षों तक अपने मत का प्रचार किया। 468 ई. पू. में लगभग 72 वर्ष की आयु में राजगृह के निकट स्थित पावापुरी नामक स्थान में उन्होंने शरीर त्याग दिया।

टिप्पणी

महावीर स्वामी की शिक्षाएं तथा जैन दर्शन

महावीर का अपने पूर्वगामी तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ से दो बातों को लेकर मतभेद था। पार्श्वनाथ ने भिक्षुओं के लिए केवल चार व्रतों का विधान किया था–अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) तथा अपरिग्रह (धन संचय का त्याग), परन्तु महावीर ने इसमें एक पांचवां व्रत ब्रह्मचर्य भी जोड़ दिया तथा उसका पालन करना अनिवार्य बताया। दूसरा मतभेद यह था कि पार्श्वनाथ ने भिक्षुओं को वस्त्र धारण करने की अनुमति प्रदान की परन्तु महावीर ने उन्हें नग्न रहने का उपदेश दिया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रहाचर्य–ये पांच महाव्रत हैं। ये पांचों–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य जब जैन श्रमणों पर लागू होते हैं तो इनकी प्रकृति कठोर हो जाती है और इन्हें महाव्रत कहा जाता है तथा जब ये जैन उपासकों के लिए मान्य होते हैं तो इनका सरलीकरण हो जाता है जिससे इन्हें अणुव्रत कहा जाता है। इनका विवरण इस प्रकार है–

अहिंसा

यह जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है जिसमें सभी प्रकार की अहिंसा के पालन पर बल दिया गया है। जैन धर्म में हिंसा जीवों तक सीमित न होकर मन, वचन, कर्म तीनों क्षेत्रों में विस्तृत है तथा इसके पालन के लिए स्पष्ट नियम विधान हैं जिन्हें निम्न भागों में बांटा जा सकता है–

(1) इर्या समिति– संयम से चलना ताकि मार्ग में कीटाणु न मरें।

(2) भाषा समिति– संयम से बोलना ताकि कटु वचन से किसी को कष्ट न पहुंचे।

(3) एषणा समिति– भोजन में जीव हिंसा को रोकना।

(4) आदान–निक्षेप समिति– किसी वस्तु को उठाने तथा रखने के समय विशेष सावधानी बरतना जिससे जीव की हत्या न हो जाए।

(5) व्युत्सर्ग समिति– मल–मूत्र का त्याग ऐसे स्थान पर करना जहां किसी जीव की हिंसा होने की आशंका न रहे।

सत्य

इसमें सदैव सत्य बोलने पर बल दिया गया है। इसका आचरण निम्नवत् है–

(1) सोच–विचार कर बोलना चाहिए (अनुविम भाषी)।

(2) क्रोध आने पर शान्त रहना चाहिए (क्रोधं परिजानाति)।

(3) लोभ होने पर मौन रहना चाहिए (लोभं परिजानाति)।

(4) हंसी में भी झूठ नहीं बोलना चाहिए (हासं परिजानाति)।

(5) भय होने पर भी झूठ नहीं बोलना चाहिए (भयं परिजानाति)।

अस्तेय

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें बताई गई हैं–

(1) किसी की अनुमति के बिना उसकी कोई भी वस्तु न लेना।

(2) बिना आज्ञा किसी के घर में प्रवेश न करना।

टिप्पणी

(3) गुरु की आज्ञा बिना भिक्षा में प्राप्त अन्न को ग्रहण न करना।

(4) बिना अनुमति के किसी के घर में निवास न करना।

(5) यदि किसी के घर में रहना हो तो उसकी आज्ञा के बिना उसकी किसी भी वस्तु का उपयोग न करना।

अपरिग्रह

इसमें किसी भी प्रकार की सम्पत्ति एकत्रित न करने पर जोर दिया गया है क्योंकि सम्पत्ति से मोह और आसक्ति का उदय होता है। इसके उपनियम निम्न हैं–

(1) श्रोत्रेन्द्रिय– शब्द के प्रति अनासक्त भाव।

(2) चक्षुर्न्द्रिय– रूप के प्रति अनासक्त भाव।

(3) घ्राणेन्द्रिय– गन्ध के प्रति अनासक्त भाव।

(4) रसनेन्द्रिय– रस के प्रति अनासक्त भाव।

(5) स्पर्शेन्द्रिय– स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का विधान महावीर स्वामी की देन मानी जाती है। इसके अन्तर्गत भिक्षु को निम्नलिखित निर्देश दिए गए हैं–

(1) किसी स्त्री से बातें न करना।

(2) किसी स्त्री को न देखना।

(3) किसी स्त्री के संसर्ग की बात कभी न सोचना।

(4) शुद्ध एवं अल्प भोजन ग्रहण करना।

(5) ऐसे घर में न जाना जहां कोई स्त्री अकेली रहती हो।

महावीर ने गृहस्थों के लिए उपयुक्त व्रतों को सरल ढंग से पालन करने का विधान प्रस्तुत किया। इसी कारण गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में इन्हें 'अणुव्रत' कहा गया है। इनमें अतिवादिता एवं कठोरता का अभाव है।

'अनेकान्तवाद' अथवा 'स्याद्वाद'

गौतम बुद्ध के समान महावीर ने भी वेदों की अपौरुषेयता को अस्वीकार कर दिया तथा धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों और पाखण्डों का विरोध किया। उन्होंने आत्मवादियों तथा नास्तिकों के एकान्तिक मतों को छोड़कर बीच का मार्ग अपनाया जिसे 'अनेकान्तवाद' अथवा 'स्याद्वाद' कहा गया है। इस मत के अनुसार किसी वस्तु के अनेक धर्म (पहलू) होते हैं (अनन्तधर्मक वस्तु) तथा व्यक्ति अपनी सीमित बुद्धि द्वारा केवल कुछ ही धर्मों को जान सकता है। जैन धर्म में ऐसे ही सात संभावनात्मक विचारों के अनुसार सात प्रमाणित भंगिमाएं अथवा 'सप्तनय' मानी गई हैं। जो इस प्रकार हैं–

(1) स्याद् अस्ति : शायद यह वस्तु है।

(2) स्याद् नास्ति : शायद यह नहीं है।

(3) स्याद् अस्ति च नास्ति : शायद यह है भी तथा नहीं भी है।

(4) स्याद् अव्यक्तम् : शायद यह अव्यक्त है।

टिप्पणी

(5) स्याद् अस्ति अव्यक्तम् : शायद यह है तथा अव्यक्त है।

(6) स्याद् नास्ति अव्यक्तम् : शायद यह नहीं है और अव्यक्त है।

(7) स्याद् अस्ति च नास्ति च अव्यक्तम् : शायद यह है, नहीं है और अव्यक्त है।

पूर्ण ज्ञान तो 'केवलिन्' के लिए ही सम्भव है। अतः उनका मानना था कि सभी विचार अंशतः सत्य होते हैं। यह उनकी बौद्धिक सहिष्णुता का परिचायक है। समस्त विश्व जीव तथा अजीव नामक दो नित्य एवं स्वतन्त्र तत्वों से मिलकर बना है। जीव चेतन तत्व है जबकि अजीव अचेतन जड़ तत्व है। यहां जीव से तात्पर्य उपनिषदों की सार्वभौम आत्मा से न होकर मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मा से है। उनके मतानुसार आत्माएं अनेक होती हैं। चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण है। वे सृष्टि के कण–कण में जीवों का वास मानते थे। इसी कारण उन्होंने अहिंसा पर विशेष बल दिया।

इस अतिशय अहिंसा ने जैनियों को मनुष्य जीवन के सुरक्षा की अपेक्षा पशु, जीवाणु, वनस्पति एवं बीजों की सुरक्षा के प्रति अधिक सचेत बना दिया है। अजीव में जागृत अवस्था नहीं पाई जाती है। यह अचेतन है। अजीव का विभाजन पांच भागों में किया गया है–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। यहां धर्म तथा अधर्म गति और स्थिति के सूचक हैं। पुद्गल से तात्पर्य उस तत्व से है जिसका संयोग तथा विभाजन किया जा सके। शब्द 'पुद्' की व्याख्या संयोग से तथा 'गल' की व्याख्या विभाजन से की जाती है। किसी भी पदार्थ का विभाजन संभव है। इसका सबसे छोटा भाग 'अणु' कहा जाता है। अणुओं में जीव निवास करते हैं। सभी भौतिक पदार्थ अणुओं के ही संयोग से निर्मित होते हैं। स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण–ये पुद्गल के गुण हैं जो समस्त पदार्थों में दिखाई देते हैं।

महावीर स्वामी पुनर्जन्म तथा कर्मवाद में भी विश्वास करते थे परन्तु ईश्वर के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था। जैन दर्शन में सृष्टिवाद का विरोध किया गया है। ईश्वर के द्वारा सृष्टि का निर्माण, विनाश एवं पुनर्निर्माण नहीं किया जा सकता है। अतः ईश्वर को जैन धर्म में सृजक नहीं माना जाता है, न ही वह अच्छे कर्मों का फल प्रदान करता है और बुरे कर्मों के लिए दंड देता है। यहां ईश्वर का स्वरूप एक कैवल्य ज्ञान युक्त पुरुष की भांति है। ईश्वर मानदंड का रूप है जिसे व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है। जीवन का चरम लक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति है। जीव अपने शुद्ध रूप में चैतन्य एवं स्वयं प्रकाशमान है तथा वह अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है।

कर्म बन्धन का कारण है। यहां कर्म को सूक्ष्मतत्व भूततत्व के रूप में स्वीकार किया गया है जो जीव में प्रवेश कर उसे नीचे संसार की ओर खींच लाता है। क्रोध, लोभ, मोह तथा माया आदि हमारी कुप्रवृत्तियां (कषाय) हैं जो अज्ञानता के कारण उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार जैन धर्म बौद्ध तथा वेदान्त की ही भांति अज्ञानता को ही बंधन का कारण मानता है। इसके कारण कर्म जीव की ओर आकर्षित होने लगता है। इसे 'आस्रव' कहते हैं। कर्म का जीव के साथ संयुक्त हो जाना बन्धन है। जैसे ताप लौह से तथा जल दूध से संयुक्त हो जाता है उसी प्रकार कर्म जीव से संयुक्त हो जाता है। प्रत्येक जीव अपने पूर्व संचित कर्मो के अनुसार ही शरीर धारण करता है। मोक्ष के लिए उन्होंने ये तीन साधन आवश्यक बताए हैं–

(1) सम्यक् श्रद्धा अथवा दर्शन– जैन तीर्थङ्करों और उनके उपदेशों में दृढ़ विश्वास ही सम्यक् श्रद्धा या दर्शन है। इसके आठ अङ्ग माने गए हैं–सन्देह

टिप्पणी

से दूर रहना, सांसारिक सुखों की इच्छा का त्याग करना, शरीर के मोह राग से दूर रहना, भ्रामक मार्ग पर न चलना, अधूरे विश्वासों से विचलित न होना, सही विश्वासों पर अटल रहना, सबके प्रति प्रेम का भाव रखना, जैन सिद्धान्तों को सर्वश्रेष्ठ समझना। इनके अतिरिक्त लौकिक अन्धविश्वासों, पाखण्डों आदि से दूर रहने का भी निर्देश दिया गया है।

(2) **सम्यक् ज्ञान**– जैन धर्म और उसके सिद्धान्तों का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सम्यक् ज्ञान के पांच प्रकार बताए गए हैं–मति अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान, श्रुति अर्थात् सुनकर प्राप्त किया गया ज्ञान, अवधि अर्थात् कहीं रखी हुई किसी भी वस्तु का दिव्य अथवा अलौकिक ज्ञान, मनःपर्याय अर्थात् अन्य व्यक्तियों के मन की बातें जान लेने का ज्ञान तथा कैवल्य अर्थात् पूर्ण ज्ञान जो केवल तीर्थङ्करों को प्राप्त है।

(3) **सम्यक् आचरण**– जो कुछ भी जाना जा चुका है और सही माना जा चुका है उसे कार्यरूप में परिणत करना ही सम्यक् आचरण है। इसके अन्तर्गत भिक्षुओं के लिए पांच महाव्रत तथा गृहस्थों के लिए पांच अणुव्रत बताए गए हैं। इसके अतिरिक्त सच्चरित्रता एवं सदाचरण पर विशेष बल दिया गया है। इन तीनों को जैन धर्म में 'त्रिरत्न' 'रत्नत्रय' की संज्ञा दी जाती है। त्रिरत्नों का अनुसरण करने से कर्मों का जीव की ओर बहाव रुक जाता है जिसे 'संवर' कहते हैं। इसके बाद पहले से जीव में व्याप्त कर्म समाप्त होने लगते हैं। इस अवस्था को 'निर्जरा' कहा गया है। जब जीव से कर्म का अवशेष पूर्णतः समाप्त हो जाता है तब वह मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार कर्म का जीव से संयोग बन्धन है तथा वियोग ही मुक्ति है। महावीर ने मोक्ष के लिए कठोर तपस्या एवं कायाक्लेश पर भी बल दिया। मोक्ष के पश्चात् जीव आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है तथा वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख की प्राप्ति कर लेता है। इन्हें जैन शास्त्रों में 'अनन्त चतुष्ट्य' की संज्ञा प्रदान की गई है।

नय और नयाभास

जैन दर्शन में सम्यक् एकांत को नय और मिथ्या एकांत को नयाभास कहते हैं। इसी प्रकार सम्यक् एकांत को प्रमाण और मिथ्या एकांत को प्रमाणाभाव कहा गया है।

स्वपर्याय और परपर्याय

स्वपर्याय वे गुण हैं जो उस वस्तु का परिचय देते हों या उस वस्तु की पहचान करने में सहायक हों, जैसे किसी मनुष्य के लिए उसका आकार–प्रकार, रंग, रूप, कुल, गोत्र, जाति, व्यवसाय, जन्म स्थान और निवास स्थान, आयु, स्वास्थ्य, शिक्षा और कृति आदि। स्वपर्याय को भावात्मक धर्म भी कहते हैं। परपर्याय दूसरे के धर्मों की अनुपस्थिति सूचित करता है। इसे अभावात्मक धर्म भी कहते हैं। इसमें किसी वस्तु का अलग होने का पता चलता है। उदाहरणस्वरुप अमुक मनुष्य, कायर, स्वार्थी, आलसी और धूर्त है। परपर्यायों की संख्या अधिक है क्योंकि इससे किसी व्यक्ति को औरों से अलग करना होता है। अनेकान्तवाद की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है–

टिप्पणी

(1) विश्व सीमित और अनंत दोनों हैं। अपेक्षा भेद से विश्व सीमित है क्योंकि संख्या में एक है। एक होने का अर्थ है सीमित होना। वस्तु सीमित होती है। वह अनंत इसलिए है कि वस्तुओं में धर्म अनंत होते हैं। अनंत सीमित होना असीमित होने का लक्षण है। विश्व सीमाहीन है अतः अंतहीन है।

(2) शरीर आत्मा से भिन्न है और अभिन्न भी। आत्मा से भिन्न होने पर शरीर अचेतन और क्रियाहीन हो जाता है किंतु अभिन्न होने पर चेतन और क्रियाशील।

(3) जीव की शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों ही अवस्थाएं संभव हैं। शुद्धावस्था में जीव कर्मविहीन होता है किंतु अशुद्धावस्था में कर्म करना पड़ता है। शुद्धावस्था या सिद्धावस्था में वह अमर है किंतु अशुद्धावस्था या संसारावस्था या कर्मावस्था में मरणशील। इसी प्रकार द्रव्य एवं क्षेत्र घिरे होने के कारण जीवन सीमित है और काल तथा भाव की अपेक्षा से अनंत है। अपेक्षा भेद से महावीर स्वामी ने द्रव्य के एकत्व और अनेकत्व को स्वीकार किया और उनके बाद उमास्वाति और आचार्य कुन्द ने भी अनेकान्तवाद पर गंभीरतापूर्वक विचार किया।

जैन धर्म का विकास

स्वामी महावीर की शिक्षा जनता के मध्य अत्यंत लोकप्रिय हुई और समाज के विभिन्न वर्ग इसकी ओर आकर्षित हुए। बौद्ध धर्म की भांति, जैन धर्म में भी समय–समय पर परिवर्तन होते रहे। अब हम देखेंगे कि इस धर्म के विकास में किन कारकों ने योगदान दिया और क्या विकास हुए।

महावीर के 11 शिष्य थे जिन्हें गन्धर्व या संप्रदायों का प्रमुख कहा जाता था। आर्य सुधर्मा स्वामी एकमात्र ऐसा गन्धर्व था जो महावीर की मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहा और जो जैन धर्म का प्रथम 'थेरा' या मुख्य उपदेशक हुआ। उसकी मृत्यु महावीर की मृत्यु के 20 वर्ष पश्चात् हुई। राजा नन्द के काल में जैन धर्म के संचालन का कार्य दो 'थेरो' (आचार्यों) द्वारा किया जाता

(1) सम्भूता विजय, और

(2) भद्रबाहु

छठे थेरा (आचार्य), मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे।

धीरे–धीरे महावीर के समर्थक समस्त भारत में फैल गए। जैन धर्म को शाही संरक्षण भी प्राप्त हुआ। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयन, जैन धर्म का अनुयायी था। सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के समय जैन भिक्षुओं को सिन्धु नदी के किनारे भी पाया गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य जैन धर्म का अनुयायी था और उसने भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर प्रवास किया तथा जैन धर्म का प्रचार किया। पहली सदी ई. में मथुरा एवं उज्जैन जैन धर्म के प्रमुख केंद्र बन गए।

बौद्ध धर्म की तुलना में जैन धर्म की सफलता शानदार थी। इसकी सफलता का एक मुख्य कारण था कि महावीर स्वामी एवं उसके अनुयायियों ने संस्कृत के स्थान पर जनसाधारण की भाषा प्राकृत का प्रयोग किया। इस धर्म के सरल एवं घरेलू निर्देशों

टिप्पणी

ने लोगों को आकर्षित किया। जैन धर्म को राजाओं के द्वारा संरक्षण दिए जाने के कारण भी लोगों के मस्तिष्क में इसका स्थान बना।

जैन संगितियां

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल के पश्चात् दक्षिण बिहार में भयंकर अकाल पड़ा जो 12 वर्षों तक चला। भद्रबाहु और उनके शिष्यों ने कर्नाटक राज्य में श्रवणबेलगोला की ओर प्रस्थान किया। प्रवासी जैन ने दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रसार किया। अन्य जैन मुनि स्थूलबाहुभद्र के नेतृत्व में मगध में ही रह गए। उन्होंने पाटलिपुत्र में 300 ई. पू. के आस–पास सभा का आयोजन किया। इस सभा में महावीर स्वामी की पवित्र शिक्षाओं को 12 अंगों में विभाजित किया गया। दूसरी जैन सभा का आयोजन 512 ई. में गुजरात में वल्लभी नामक स्थान पर देवर्धिमणी क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य धार्मिक शास्त्रों को एकत्र एवं उनको पुनः क्रम से संकलित करना था। किन्तु प्रथम सभा में संकलित बारहवां अंग इस समय खो गया था। शेष बचे हुए अंगों को अर्धमगधी में लिखा गया।

संप्रदाय

जैन धर्म में फूट पड़ने का समय लगभग 300 ई. पू. माना जाता है। महावीर स्वामी के समय में ही एक वस्त्र धारण करने को लेकर मतभेद स्पष्ट होने लगे थे। श्रवणबेलगोला से मगध वापस लौटने के पश्चात् भद्रबाहु के अनुयायियों ने इस निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया कि 14 पर्व खो गए थे। मगध में ठहरने वालों तथा प्रस्थान करने वालों में मतभेद बढ़ते चले गए। मगध में ठहरने वाले सफेद वस्त्रों को धारण करने के अभ्यस्त हो चुके थे और वे महावीर स्वामी की शिक्षाओं से दूर होने लगे जबकि पहले वाले नग्न अवस्था में रहते और कठोरता से महावीर की शिक्षाओं का अनुसरण करते। जैन धर्म का प्रथम विभाजन दिगम्बर (नग्न रहने वालों) और श्वेताम्बर (सफेद वस्त्र धारण करने वालों) के बीच हुआ। अगली शताब्दियों में पुनः दोनों संप्रदायों में अनेक विभाजन हुए। इनमें महत्वपूर्ण वह संप्रदाय था जिसने मूर्ति–पूजा को त्याग दिया और ग्रंथों की पूजा करने लगे। वे श्वेताम्बर संप्रदाय में 'तेरापन्थी' कहलाए और दिगम्बर संप्रदाय में 'समणास' कहलाए। यह संप्रदाय छठी ई. में अस्तित्व में आया।

जैन धर्म का योगदान

जैन धर्म का प्रभाव भारत में उतना व्यापक नहीं हुआ जितना कि बौद्धधर्म का तथा यह कुछ ही भागों तक सीमित रहा, परन्तु भारत के सांस्कृतिक जीवन में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा। जैनियों की विशेष देन साहित्य एवं कला के क्षेत्र में रही। जैन साहित्य में महाकाव्य, पुराण, उपन्यास एवं नाटक सम्मिलित हैं। जैन विद्वानों ने विभिन्न कालों में लोक भाषाओं के माध्यम से अपनी कृतियों की रचना करके इनके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, तेलुगू आदि में जैन साहित्य मिलते हैं। प्राकृत भाषा को विकसित करने में जैन लेखकों के कार्य सराहनीय हैं। इस भाषा से अनेक क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ, विशेष रूप से शौरसेनी, जिससे मराठी भाषा विकसित हुई। पूर्व–मध्यकाल में हेमचन्द्र आदि विद्वानों ने काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, छन्दशास्त्र आदि विविध विषयों पर प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में साहित्य लिखकर इनका बहुमुखी विकास किया। दक्षिण में कन्नड़ एवं

टिप्पणी

तेलुगू में भी इनके साहित्य हैं। तमिल ग्रन्थ 'कुरल' के कुछ भागों की रचना जैनियों ने की है। इसके अतिरिक्त कुछ जैन ग्रन्थ संस्कृत में भी मिलते हैं। इस प्रकार जैनियों ने अनेक प्रादेशिक भाषाओं का विकास किया।

प्राचीन भारतीय कला एवं स्थापत्य को विकसित करने में भी जैनियों का महत्वपूर्ण योगदान है। जैन–ग्रन्थों पर खींचे हुए हस्तलिखित चित्र पूर्व मध्य–युगीन चित्रकला के सुन्दर नमूने हैं। प्रारम्भ में, बौद्धों की भांति, जैन, मूर्ति पूजक नहीं थे परन्तु कालांतर में वे महावीर और 23 तीर्थंकरों की पूजा करने लगे। मध्यभारत, उड़ीसा, गुजरात, राजस्थान आदि से अनेक जैन–मन्दिर, मूर्तियां, गुहास्थापत्य आदि के उत्कृष्ट नमूने प्राप्त हुए हैं। उड़ीसा की उदयगिरि पहाड़ी में अनेक जैन गुफाएं मिलती हैं। खजुराहों, सौराष्ट्र, राजस्थान से भव्य–जैन मन्दिर प्राप्त होते हैं। खजुराहों में अनेक तीर्थङ्करों जैसे–पार्श्वनाथ, आदिनाथ के मन्दिर हैं। राजस्थान के आबू पर्वत पर दिलवाड़ा के मंदिर आज भी जैन मंदिरों के सुंदर नमूने कहे जाते हैं। कर्नाटक स्थित श्रवणबेलगोला नामक स्थान से भी अनेक जैन मन्दिर मिलते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय कला को समृद्धशाली बनाने में जैन धर्म ने उल्लेखनीय योगदान दिया है।

भारतीय समाज के विकास में जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इससे जाति प्रथा को आघात लगा तथा जाति–पाति के बंधन शिथिल हो गए। समाज में ब्राह्मणों का सम्मान कम होने लगा। इस धर्म ने जनता को अंधविश्वासों से हटाकर ठीक मार्ग पर खड़ा कर दिया। जैन धर्म ने लोगों में अहिंसा एवं सदाचार का प्रचार किया तथा संयमित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का सिद्धान्त विभिन्न मतों एवं संप्रदायों के मध्य भेदभाव मिटाकर समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है। ऐसा करके उसने समन्वय एवं सहिष्णुता के भारतीय दृष्टिकोण को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। यदि आज भी हम इन सिद्धान्तों का अनुकरण करें तो आपसी भेदभाव एवं धार्मिक कलह बहुत सीमा तक दूर हो जायेगा तथा संसार में शान्ति, बंधुत्व, प्रेम एवं सहिष्णुता का वातावरण बनेगा। इस प्रकार महावीर स्वामी की शिक्षायें कुछ अंशों में आधुनिक युग में भी समान रूप से श्रद्धेय एवं अनुकरणीय है।

अपनी प्रगति जांचिए

4. महावीर स्वामी का जन्म कब हुआ था?

   (क) 520 ई.पू. में (ख) 530 ई.पू. में

   (ग) 540 ई.पू. में (घ) 550 ई.पू. में

5. महावीर स्वामी का बचपन का नाम क्या था?

   (क) वर्धमान (ख) सिद्धार्थ

   (ग) अजातशत्रु (घ) नंदिवर्धन

6. महावीर स्वामी ने भिक्षुओं के लिए कितने प्रकार के महाव्रतों को अनिवार्य बताया है?

   (क) तीन (ख) चार

   (ग) पांच (घ) छह

टिप्पणी

5.4 चार्वाक दर्शन

यहां चार्वाक दर्शन के विषय में विस्तार से विवेचन किया गया है।

चार्वाक दर्शन की उत्पत्ति एवं अर्थ

भारतीय विचारधारा के संदर्भ में भौतिकवाद या जड़वाद का उल्लेख होते ही सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन का नाम आता है। भौतिकवादी विचारधारा वह है जिसमें पदार्थ या जड़ को ही मूल तत्व माना जाता है तथा जड़ पदार्थ से ही आत्मा, मन एवं अन्य सभी सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति मानी जाती है। यद्यपि भौतिकवादी मान्यताओं का उल्लेख वैदिक काल से ही प्राप्त होता है तथापि भारतीय परंपरा में इसे तार्किक आधार पर व्यवस्थित करने का श्रेय चार्वाक दर्शन को ही जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार चार्वाक शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'चर्व' धातु से हुई है, इसका अर्थ है चबाना या भोजन करना क्योंकि चार्वाक मत में खाने–पीने और मौज उड़ाने को ही व्यक्ति का परम पुरुषार्थ माना जाता है, अतः इसे चार्वाक कहा जाता है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार चार्वाक शब्द की उत्पत्ति 'चारु वाक्' (मीठी बोली बोलने वाले) से हुई है। जो मधुर वाणी का प्रयोग करते थे, इस विचारधारा को चार्वाक कहा गया। चार्वाक सिद्धांतों के लिए बौद्ध पिटकों में 'लोकायत' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ 'दर्शन की वह प्रणाली है जो इस लोक में विश्वास करती है और स्वर्ग, नरक अथवा मुक्ति की अवधारणा में विश्वास नहीं रखती है'। चार्वाक या लोकायत दर्शन का उल्लेख तो महाभारत में भी मिलता है लेकिन इसका कोई भी मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं।

परंपरा से ऐसा स्वीकार किया जाता है कि देवताओं के गुरु बृहस्पति इसके प्रवर्तक थे और उन्होंने इस दर्शन का प्रसार दानवों के बीच उनके विनाश के लिए किया था। माध्वाचार्य विद्यारण्य ने चार्वाक का परिचय बृहस्पतिमतानुयायी कहकर दिया है। वर्तमान में इस विचारधारा का प्रतिपादन करने वाला कोई स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं होता है। शास्त्रीय प्रमाण के रूप में जो बृहस्पति के सूत्र कहे जाते रहे हैं वे अब विलुप्त हो गए हैं। सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक का मत मिलता है। पद्मपुराण में लिखा है कि असुरों को बहकाने के लिए बृहस्पति ने वेदविरुद्ध मत प्रकट किया था। वाल्मीकि रामायण अयोध्या कांड में महर्षि जाबालि ने रामचंद्र को वनवास छोड़ अयोध्या लौट जाने के लिए जो उपदेश दिया है वह भी चार्वाक के मत से बिलकुल मिलता है। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि निरीश्वरवादी मत बहुत प्राचीन है। सांख्य दर्शन, जो एक आस्तिक दर्शन है, वह भी निरीश्वरवादी मत है।

भारतीय विचारधारा में चार्वाक दर्शन कभी भी सम्माननीय नहीं रहा बल्कि उपहास का विषय रहा है। चार्वाक दर्शन ने वैदिक परंपरा का कटु प्रत्याख्यान किया है। संभवतः यह एक महत्वपूर्ण कारण रहा होगा कि चार्वाक आस्तिक दर्शनों में विशेष रूप से उपहास को प्राप्त हुआ। जनसाधारण के मध्य सम्मान न प्राप्त कर पाने का विशेष हेतु इसका दुर्बल नैतिक पक्ष रहा है जिसने सामाजिक व्यवस्था और नैतिक उत्तरदायित्व की बुनियाद को बहुत गहराई से प्रभावित किया। इसने अध्यात्म और परंपरा के निषेध के साथ मानव जीवन के आधारभूत मूल्यों का निषेध किया। मानव जीवन के आधारभूत मूल्यों की स्वीकृति ने वेद के विरोध एवं ईश्वर के निषेध के

बावजूद जैन एवं बौद्ध धर्म की लोकप्रियता को बनाए रखा था लेकिन चार्वाक द्वारा मानव मूल्यों का निषेध इसके असम्मान का मुख्य कारण सिद्ध हुआ।

टिप्पणी

चार्वाक दर्शन का साहित्य

चार्वाक दर्शन के साहित्य में जयराशि भट्ट का तत्वोपप्लवसिंह नामक ग्रंथ महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इस मत का कोई और मौलिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता है। कृष्णपति मिश्र ने प्रबोधचंद्रोदय नामक अपने नाटक के द्वितीय अंक में चार्वाक सिद्धांतों का वर्णन कुछ इस प्रकार से किया था– लोकायत एकमात्र शास्त्र है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चार महाभूत हैं, इंद्रिय सुखोपभोग ही मानव जीवन का लक्ष्य है, परलोक नहीं है, मृत्यु ही मोक्ष है, तथाकथित 'आत्मा' जड़त्व का ही विकार है। माध्वाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' के प्रथम अध्याय में चार्वाक दर्शन का उल्लेख किया गया है। इसमें माध्वाचार्य के समय तक के सभी प्रमुख संप्रदायों के दर्शनों का संग्रह और विवेचन है। इसमें उपर्युक्त सिद्धांतों के प्रति वेदों की निंदा, कर्मकांड की निंदा, यागादि, श्राद्ध आदि की व्यर्थता आदि भी चार्वाक मत के अंतर्गत वर्णित किए गए हैं। बृहस्पति के कुछ सूत्र जो विविध दार्शनिक ग्रंथों में उद्धृत हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ही तत्व हैं।
2. इनके समुदाय से शरीर, इंद्रिय और विषय बनते हैं।
3. जिस प्रकार अंगूर आदि के रस में विकार उत्पन्न करके मदिरा बनाई जाती है– प्रारम्भ में उसमें मादक शक्ति नहीं होती, बाद में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जड़ तत्वों से उनके विविध अनुपातों के मिश्रण से जीवित शरीर में चैतन्य उत्पन्न होता है।
4. काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है।
5. मरण ही मोक्ष है।

चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त

विश्व के विभिन्न तत्वों के संदर्भ में चार्वाक का मत उनके प्रमाण संबंधी विचारों पर आश्रित है क्योंकि वे प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। इसलिए वे केवल उन्हीं वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार सकते हैं जिनका कि प्रत्यक्ष हो सकता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, अदृष्ट आदि विचारों को वे नहीं मान सकते क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। केवल द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष होता है इसलिए केवल उन्हीं को ही स्वीकार कर सकते हैं। उन्होंने उन्हीं चीजों का अस्तित्व स्वीकार किया जिन्हें इन्द्रियों और अंगो द्वारा मानव अनुभव कर सके। एक प्रकार से चार्वाक जड़वाद का प्रतिपादन करता है। इनके अनुसार जड़ ही एकमात्र तत्व है।

(1) संसार चार भूतों से निर्मित है

अन्य भारतीय दर्शनिक मतों में पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल, आकाश इन पंचभूतों को सृष्टि का मूल कारण माना गया है किंतु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नहीं मानता। यह शून्य मात्र है, क्योंकि इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता है। इन चार तत्वों से मात्र निर्जीव ही नहीं बल्कि सजीव तत्वों की भी उत्पत्ति हुई है। प्राणियों का जन्म तत्वों के सहयोग से होता है और मृत्यु के बाद वे फिर भूतों में ही विलीन हो जाते हैं। चार महाभूतों का मूलकारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर चार्वाकों

टिप्पणी

के पास नहीं है। यह विश्व अकस्मात अलग–अलग रूपों एवं भिन्न–भिन्न मात्राओं में मिलने वाले चार महाभूतों का संग्रह मात्र है।

(2) उत्पत्ति विचार

पृथ्वी, अग्नि, वायु तथा जल नामक चार भूतों का विविध अनुपात में सम्मिश्रण होने से बाह्य जगत, भौतिक शरीर, इंद्रियां आदि उत्पन्न होते हैं। चेतना भी भौतिक तत्वों के सम्मिश्रण से जीवित शरीर में उत्पन्न होती है। अतः जीवित शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। जड़ तत्वों के संयोग से किसी वस्तु का निर्माण होता है। यह संभव है कि तत्वों में यदि किसी गुण विषय का अभाव भी रहे तो उसकी उत्पत्ति उस निर्मित वस्तु में हो सकती है। पान, चूना, सुपारी में लाल रंग का अभाव है किंतु इनको जब एक साथ चलाया जाता है उसमें लाल रंग उत्पन्न हो जाता है। एक ही वस्तु को अलग–अलग परिस्थितियों में रखने से भी उस में नए–नए गुणों का आविर्भाव होता है। गुड़ में मादकता का अभाव है, किंतु सड़ जाने पर वह मादक हो जाता है। इसी प्रकार जड़ तत्वों का सम्मिश्रण यदि एक विशेष ढंग से हो तो शरीर की उत्पत्ति होती है और उसमें एक नए गुण चेतना की उत्पत्ति होती है।

(3) अनात्मवाद

चार्वाक के भैतिकवादी दर्शन में कोई जीव शरीर से भिन्न नहीं है। चातुरभौतिक शरीर ही जीव या आत्मा है। जब तक शरीर जीवित रहता है तब तक उसमें चैतन्य का आविर्भाव होता है और जब शरीर जीवित नहीं रहता तब चैतन्य भी जीवित नहीं रहता। फलतः शरीर का विनाश जब मृत्यु के उपरान्त दाह संस्कार होने के बाद हो जाता है तब जीव या जीवात्मा भी विनष्ट हो जाती है। पुनः व्यक्ति अपने शरीर को ही आत्मा मानता है, जब वह कहता है कि मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं, मैं दुःखी हूं आदि। 'मैं' और 'शरीर' का तादात्म्य यहां पर प्रत्यक्षतः सिद्ध है। चार्वाक का विचार है कि चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है किंतु वे यह नहीं मानते कि चैतन्य किसी भौतिक तत्व अर्थात आत्मा का गुण है। आत्मा का प्रत्यक्ष तो कभी नहीं होता। हमारा शरीर जिन जड़ तत्वों से निर्मित है केवल उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है। चैतन्य हमारे शरीर के अंतर्गत है इसलिए चैतन्य को शरीर का ही गुण स्वीकार करना चाहिए। चेतन शरीर को ही आत्मा कहना चाहिए, 'चैतन्यविशिष्टो देहः एव आत्मा'। आत्मा एवं शरीर के तादात्म्य का ज्ञान हमें दैनिक अनुभवों से भी प्राप्त हो जाता है।

भले ही चैतन्य के भिन्न–भिन्न भौतिक घटक चेतना रहित हैं किंतु जब उनका एक विशेष अनुपात में जीवित शरीर में सम्मिश्रण होता है तो उनसे चैतन्य गुण उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार मदिरा के विभिन्न घटकों में से किसी में भी मादकता नहीं होती है किंतु जब उनमें विशेष प्रक्रिया से विकार उत्पन्न किया जाता है तो मदिरा में मादकता नाम के गुण की उत्पत्ति हो जाती है।

चार्वाक के भूतचैतन्यवाद का अन्य दार्शनिकों द्वारा जोरदार खंडन किया गया है। यदि चैतन्य का अर्थ स्वचैतन्य से है, जैसा कि मानवों में है तो इसका तादात्म्य जीवित शरीर से नहीं किया जा सकता । पशुओं में जीवित शरीर तो है किंतु उनके पास विवेक का अभाव है। चार्वाक का मानना है कि ऐसा उत्कृष्ट सम्मिश्रण केवल मानव शरीर में ही मिलता है और उनमें भी विभिन्न अनुपातों में, उनमें भी स्वचैतन्य की अभिव्यक्ति का भिन्न–भिन्न तारतम्य होता है। किंतु यह केवल चार्वाक की कल्पना

टिप्पणी

है। अगर चैतन्य जीवित शरीर का गुण है तो दोनों की वियुक्ति नहीं होनी चाहिए, जैसा कि चार्वाक मानता है। किंतु मूर्छा, निद्रा आदि में जीवित शरीर में चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। दूसरी ओर जब व्यक्ति स्वप्न देखता है और स्वप्न में अपने शरीर को विविध कार्य करते हुए देखता है तो उसका स्वप्न शरीर जीवित भौतिक शरीर नहीं है किंतु स्वप्न दृष्टा के चैतन्य से सृष्ट है। जागने पर वह व्यक्ति अपने स्वप्न शरीर को मिथ्या जान लेता है किंतु स्वप्न चैतन्य को जाग्रत अवस्था में भी सत्य जानता है। स्वप्न दृष्ट पदार्थों की जाग्रत अवस्था में बात हो जाती है किंतु चेतन स्वप्न द्रष्टा ने स्वप्न में पदार्थों का विषय रूप में अनुभव किया, इस अनुभव की जाग्रत में भी बात नहीं होती। वास्तविक रूप में किसी विषय का अनुभव नहीं होता किंतु अविद्या से आवृत्त आत्मा की सत्ता बनी रहती है इसलिए जागने पर भी व्यक्ति निद्रा से पहले के अनुभवों से जुडा रहता है। इनसे सिद्ध है कि चैतन्य की सत्ता जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में बनी रहती है। चेतन का स्वतःसिद्ध और स्व प्रकाश है और वह कभी विषय नहीं बन सकता।

जीव प्रमाता, भोक्ता और कर्ता है। शरीर प्रमेय, भोग्य और कार्य है। पुनश्च यह तथ्य कि जीवित शरीर के बिना चेतना की अनुभूति नहीं होती, यह सिद्ध नहीं करता कि जीवित शरीर चैतन्य का कारण है। अगर चैतन्य शरीर का गुण है तो सब लोगों को उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए, किंतु चैतन्य तो पूर्णतया व्यक्तिगत है। यह अपने ही चैतन्य का अनुभव कर सकता है, अन्य व्यक्ति के चैतन्य का नहीं और यदि हम मान भी लें कि मृत्यु के बाद आत्मा की सत्ता बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती तो यह भी उतना ही सत्य है क्योंकि मृत्यु के पश्चात आत्मा की सत्ता का अभाव भी बुद्धि द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए चार्वाक का भूतचैतन्य निम्न कोटि का विचार समझा जाता है।

(4) चार्वाक दर्शन का प्रमाण विचार

चार्वाक दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान का एक ही प्रामाणिक साधन है और वह है प्रत्यक्ष (प्रत्यक्षमेकं प्रमाणम्)। चार्वाक मतानुयायी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य परमाणु की वैधता को नहीं मानते हैं। चार्वाकों की प्रत्यक्ष के संदर्भ में कोई परिभाषा भी नहीं मिलती। आम तौर पर विभिन्न भारतीय दार्शनिकों की भांति वे यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञानेंद्रिय एवं विषय के संपर्क से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि हमारी ज्ञानेंद्रियां पांच हैं (आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा)। अतः इनसे क्रमशः रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श का ज्ञान होता है।

चार्वाक का विचार है कि अनुमान प्रमाण नहीं है बल्कि अनुमान ज्ञान का एक प्रमुख साधन है। इसमें पक्ष में हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर उसमें अदृश्य साध्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जैसे, किसी स्थान–विशेष में उठते हुए धुएं को देखकर वहां अदृष्ट अग्नि का ज्ञान अनुमिति प्रमा है और इस प्रमा का असाधारण साधन अनुमान प्रमाण है। सामान्यतः भारतीय परंपरा में अनुमान (परार्थानुमान) का निम्नलिखित स्वरूप है–

प्रतिज्ञा– पर्वत पर धुआं है।

हेतु– क्योंकि वहां अग्नि है।

उदाहरण– जहां–जहां धुआं होता है वहां अग्नि होती है। जैसे– रसोई घर में।

उपनय– पर्वत पर धुआं है।

निगमन– अतः पर्वत पर अग्नि है।

टिप्पणी

अनुमान का आधार व्याप्ति माना जाता है। व्याप्ति का अर्थ है– व्याप्य, व्यापक अर्थात दो वस्तुओं का नियत साहचर्य, एक के साथ अन्य की लगातार नियामकता। दूसरे शब्दों में, उपाधिहीन सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त अनुमान में पर्वत पर अग्नि के ज्ञान में दो कारक हैं– प्रथम, पर्वत पर धुएं का प्रत्यक्ष ज्ञान (पक्षधर्मता) और द्वितीय, धुएं और अग्नि का नियत साहचर्य संबंध का ज्ञान जिसे व्याप्ति कहते हैं। वस्तुतः व्याप्ति अनुमान का प्रमाण है। चार्वाक के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के सभी संप्रदाय अनुमान प्रमाण की वैधता को स्वीकार करते हैं। चार्वाक दार्शनिक अनुमान प्रमाण का खंडन करने के लिए उसके आधारभूत सिद्धांत व्याप्ति को अवैध सिद्ध करने का प्रयास करते हैं क्योंकि हेतु और साध्य का व्याप्य–व्यापक भाव अनुमान का आधार है। उनका कथन है कि धुएं और अग्नि के बीच व्याप्य–व्यापक भाव और तत्सदृश अन्य व्याप्तियों की कल्पना निराधार एवं तर्कविरुद्ध है क्योंकि हमारे पास इस प्रकार के सर्वव्यापी तर्कवाक्यों को प्राप्त करने का कोई वैध साधन नहीं है। चूंकि व्याप्ति हेतु और साध्य का व्याप्य–व्यापक संबंध है।

अतः चार्वाकों की मान्यता है कि अनुमान तभी निश्चयात्मक और निर्दोष हो सकता है जब व्याप्ति निर्दोष एवं वास्तविक हो। किंतु इसके विषय में निश्चित रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जहां धुआं होता है वहां आग होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा व्याप्ति ज्ञान नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष के अनुसार भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कालगत विषयों का ज्ञान संभव नहीं है। प्रत्यक्ष द्वारा ब्रह्मविषय का ही ज्ञान होता है। हम इस व्याप्ति ज्ञान को केवल तभी निश्चयात्मक एवं प्रामाणिक मान सकते हैं जब हम प्रत्यक्ष से धुएं से युक्त सभी पदार्थों को अग्नियुक्त जान सकें। किंतु यह बिल्कुल असंभव है कि हम स्वयं एवं भविष्य के सभी पदार्थो को अग्नियुक्त देख सकें। प्रत्यक्ष का संबंध केवल वर्तमान से है, और हम वर्तमान समय में भी सभी धूमवान पदार्थों को अग्नियुक्त नहीं जान सकते। अगर इस प्रकार की व्याप्ति आज सत्य भी हो तो भविष्य में भी सत्य होगी इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव का क्षेत्र अत्यंत सीमित है, परिणामस्वरुप वह हमें किसी भी सामान्य सबंध (व्याप्ति) का ज्ञान नहीं करा सकता।

व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि हेतु और साध्य का अविनाभाव सम्बन्ध सोपाधिक कभी न हो। अगर अविनाभाव सम्बन्ध सोपाधिक रूप में होगा तो व्याप्ति अर्थ विहीन हो जाएगी। जैसे जहां–जहां अग्नि है वहां–वहां धुआं है, यह व्याप्ति निरर्थक है, क्योंकि धुआं तो लकड़ी में गीलापन तथा जलांश के रहने पर भी उत्पन्न होता है। जब उसमें आर्द्रता नहीं रहती है तो धूमभाव हो जाता है, वहां अग्नि तो रहती ही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अविनाभाव सम्बन्ध की समस्त उपाधियों तथा उनकी अनुपस्थिति का मानना अत्यधिक दुःसाध्य है। अतः अविनाभाव सम्बन्ध की समस्त उपाधियां व्यापक प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

7. चार्वाक दर्शन किस विचारधारा से संबंधित है?
   (क) अनेकान्तवादी (ख) भौतिकवादी
   (ग) ईश्वरवादी (घ) ब्रह्मवादी
8. चार्वाक दर्शन को अन्य किस नाम से जाना जाता है?
   (क) अर्हत् (ख) तर्कशास्त्र
   (ग) लोकायत (घ) स्याद्वाद
9. चार्वाक दर्शन के मत में यथार्थ ज्ञान का प्रमाणिक साधन क्या है?
   (क) प्रत्यक्ष (ख) अनुमान
   (ग) उपमान (घ) शब्द प्रमाण

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (ख)
4. (ग)
5. (क
6. (ग)
7. (ख)
8. (ग)
9. (क)

5.6 सारांश

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का काल धार्मिक दृष्टि से क्रान्ति अथवा महान परिवर्तन का काल माना जाता है। इस काल में अनेक अनीश्वरवादी संप्रदायों का उदय हुआ जिनमें बौद्ध धर्म और जैन धर्म बहुत लोकप्रिय हुए। बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध का जन्म क्षत्रियों की शाक्य नामक शाखा में कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन में 566 ई. पूर्व में हुआ था। उनके पिता का नाम शुद्धोधन था तथा माता का नाम महामाया था। उनके बचपन का नाम सिद्धार्थ था। 16 वर्ष की अल्प आयु में ही सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नामक राजकुमारी से करा दिया गया। उनके घर एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया। 29 वर्ष की आयु में सिद्धार्थ ने गृह त्याग दिया और सत्य की खोज में निकल पड़े। 35 वर्ष की आयु में उन्हें बोधगया में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई। उन्होंने अपना पहला उपदेश सारनाथ में दिया जिसे धर्मचक्र परिवर्तन कहा जाता है। महात्मा बुद्ध ने इसी तरह 45 वर्षों तक मगध, कौशल, कौशाम्बी, वैशाली आदि

टिप्पणी

केंद्रों में अपने उपदेशों का प्रचार किया। 80 वर्ष की आयु में 486 ई.पू. में कुशीनगर में महात्मा बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। ज्ञान–प्राप्ति के पश्चात् गौतम बुद्ध ने अपने मत के प्रचार का निश्चय किया। सर्वप्रथम उन्होंने चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया– दुःख, दुःख समुदय, दुख निरोध एवं दुख निरोधगामिनी प्रतिपदा। सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने का मूल साधन 'अष्टांगिक मार्ग' (मध्यम–मार्ग) है। महात्मा बुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित वेदों की अपौरुषेयता एवं आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को नहीं मानते थे । किन्तु आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने पर भी वे पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। गौतम बुद्ध ने वैदिक अनुष्ठानों, यज्ञीय कर्मकाण्डों तथा पशु बलि जैसी बुराइयों का जमकर विरोध किया। वे मानव जाति की समानता के अनन्य पोषक थे। गौतम बुद्ध के जीवन काल में ही बड़ी संख्या में लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। संघ बौद्ध मत की धार्मिक व्यवस्था थी। यह भली–भांति संगठित एवं शक्तिशाली संस्था थी और इसने बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाया। बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में चार बौद्ध सभाओं अथवा संगतियों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध संघ के सदस्यों में मतभेदों को दूर करने के लिए बौद्ध धर्म में समय–समय पर सभाएं आयोजित की गई। बौद्ध दर्शन से अभिप्राय उस दर्शन से है जो भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म के विभिन्न संप्रदायों द्वारा विकसित किया गया। कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म दो संप्रदायों में विभक्त हो गया–हीनयान और महायान। कालांतर में उपर्युक्त दोनों संप्रदायों के अन्तर्गत भी दो–दो संप्रदाय बन गए। हीनयान के प्रमुख संप्रदाय है–वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक। महायान के संप्रदाय हैं–शून्यवाद (माध्यमिक) तथा विज्ञानवाद (योगाचार)। बाद में वज्रयान नामक एक अन्य संप्रदाय का उदय हुआ। 12वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म भारत से लगभग विलुप्त हो गया। अनेक कारणों से इसका पतन हुआ जैसे– हिन्दू धर्म में सुधार, बौद्ध धर्म में जटिलता, संस्कृत भाषा का प्रयोग, बौद्ध धर्म में विभाजन, मठों में भ्रष्टाचार, हूणों और तुर्कों के आक्रमण इत्यादि। एक संगठित धर्म के रूप में लुप्त होने के बावजूद, बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभाव छोड़ा। बौद्ध धर्म ने भारतीय राजनीति, समाज, धर्म तथा संस्कृति को पूरी तरह प्रभावित किया। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध संघों की स्थापना करके लोकतांत्रिक प्रणाली की नींव रखी। बौद्ध धर्म ने लोगों का नैतिक स्तर ऊंचा उठाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बौद्ध धर्म ने अहिंसा और सहनशीलता का पाठ पढ़ाया। बौद्ध धर्म ने भारतीय कला, शिक्षा एवं साहित्य को काफी प्रभावित किया। इस धर्म से प्रभावित होकर अनेक राजाओं जैसे– अशोक, कनिष्क और हर्षवर्धन ने जनकल्याणकारी कार्य किए।

जैन श्रुतियों के अनुसार, जैन धर्म की उत्पत्ति एवं विकास के लिए 24 तीर्थंकर उत्तरदायी थे। इनमें से पहले 22 की ऐतिहासिकता संदिग्ध है, परन्तु अन्तिम दो तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर की ऐतिहासिकता को बौद्ध ग्रंथों ने प्रमाणित किया है। महावीर स्वामी का जन्म वैशाली के निकट कुण्डग्राम के ज्ञातृक कुल के प्रधान सिद्धार्थ के यहां 540 ई.पू. में हुआ। इनकी माता त्रिशला थी। इनकी पत्नी का नाम यशोदा था। महावीर स्वामी जैन धर्म के वास्तविक संस्थापक थे। इनका वास्तविक नाम वर्धमान था। वर्धमान के बङे भाई का नाम नंदिवर्धन था। इनके एक बेटी भी थी, जिसका नाम अणोज्जा (प्रियदर्शना) था जिसका विवाह जामालि से हुआ था, जामालि महावीर का प्रथम शिष्य था। 30 वर्ष की आयु में गृह त्याग कर 12 वर्ष की कठोर

टिप्पणी

तपस्या में संलग्न रहने के बाद 42 वर्ष की आयु में महावीर को जृम्भिक ग्राम के समीप ऋजुपालिका नदी के तट पर साल वृक्ष के नीचे कैवल्य (सर्वोच्च ज्ञान) प्राप्त हुआ। कैवल्य प्राप्त हो जाने के बाद महावीर स्वामी को केवलिन्, जिन (विजेता), अर्ह (योग्य), निर्ग्रन्थ (बंधन रहित) कहा गया। 468 ई. पू. में लगभग 72 वर्ष की आयु में राजगृह के निकट स्थित पावापुरी नामक स्थान पर महावीर स्वामी ने शरीर त्याग दिया। पार्श्वनाथ ने भिक्षुओं के लिए केवल चार व्रतों का विधान किया था–अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) तथा अपरिग्रह (धन संचय का त्याग), परन्तु महावीर ने इसमें एक पांचवां व्रत ब्रह्मचर्य भी जोड़ दिया। महावीर ने आत्मवादियों तथा नास्तिकों के एकान्तिक मतों को छोड़कर बीच का मार्ग अपनाया जिसे 'अनेकान्तवाद' अथवा 'स्याद्वाद' कहा गया है। इस मत के अनुसार किसी वस्तु के अनेक धर्म (पहलू) होते हैं (अनन्तधर्मक वस्तु) तथा व्यक्ति अपनी सीमित बुद्धि द्वारा केवल कुछ ही धर्मों को जान सकता है। जैन धर्म के अनुसार कर्म बंधन से मुक्त होने और निर्वाण की प्राप्ति के लिए त्रिरत्नों का पालन करना चाहिए– सम्यक् श्रद्धा अथवा दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण। जैन दर्शन में सम्यक् एकांत को नय और मिथ्या एकांत को नयाभास कहते हैं। स्वपर्याय वे गुण हैं जो उस वस्तु का परिचय देते हों या उस वस्तु की पहचान करने में सहायक हों। परपर्याय दूसरे के धर्मों की अनुपस्थिति सूचित करता है। स्वामी महावीर की शिक्षा जनता के मध्य अत्यंत लोकप्रिय हुई और समाज के विभिन्न वर्ग इसकी ओर आकर्षित हुए। धीरे–धीरे महावीर के समर्थक समस्त भारत में फैल गए। जैन धर्म को शाही संरक्षण भी प्राप्त हुआ। जैन धर्म की सफलता का एक मुख्य कारण था कि महावीर स्वामी एवं उसके अनुयायियों ने संस्कृत के स्थान पर जनसाधारण की भाषा प्राकृत का प्रयोग किया। पाटलिपुत्र में 300 ई. पू. के आस–पास जैन सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में महावीर स्वामी की पवित्र शिक्षाओं को 12 अंगों में विभाजित किया गया। दूसरी जैन सभा का आयोजन 512 ई. में गुजरात में वल्लभी नामक स्थान पर देवर्धिमणी क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में किया गया। जैन धर्म का प्रथम विभाजन दिगम्बर (नग्न रहने वालों) और श्वेताम्बर (सफेद वस्त्र धारण करने वालों) के बीच हुआ। अगली शताब्दियों में पुनः दोनों संप्रदायों में अनेक विभाजन हुए। जैन धर्म का भारत के सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण योगदान रहा। जैनियों की विशेष देन साहित्य एवं कला के क्षेत्र में रही। जैन साहित्य में महाकाव्य, पुराण, उपन्यास एवं नाटक सम्मिलित हैं। भारतीय समाज के विकास में जैन धर्म का योगदान उल्लेखनीय था।

500 ई.पू. और 300 ई. के बीच विस्तृत अर्थव्यवस्था और समाज में भौतिकवादी दर्शन पर बल दिया गया। नए पर्यावरण ने वैज्ञानिक और भौतिक दृष्टिकोण को जन्म दिया, जो मुख्यतः चार्वाक के दर्शन में परिलक्षित हुए हैं और अन्य कई पारम्परिक दार्शनिक धाराओं में भी पाए गए। भौतिकवादी विचारधारा वह है जिसमें पदार्थ या जड़ को ही मूल तत्व माना जाता है तथा जड़ पदार्थ से ही आत्मा, मन और अन्य सभी सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति मानी जाती है। चार्वाक सिद्धांतों के लिए बौद्ध पिटकों में 'लोकायत' शब्द का प्रयोग किया जाता है। परंपरा से ऐसा स्वीकार किया जाता है कि देवताओं के गुरु बृहस्पति इसके प्रवर्तक थे और उन्होंने इस दर्शन का प्रसार दानवों के बीच उनके विनाश के लिए किया था। भारतीय विचारधारा में चार्वाक दर्शन कभी भी सम्माननीय नहीं रहा बल्कि उपहास का विषय रहा है। चार्वाक दर्शन

टिप्पणी

ने वैदिक परंपरा का कटु प्रत्याख्यान किया है। चार्वाक दर्शन के साहित्य में जयराशि भट्ट का तत्वोपप्लवसिंह नामक ग्रंथ महत्वपूर्ण है। कृष्णपति मिश्र ने प्रबोधचंद्रोदय नामक अपने नाटक के द्वितीय अंक में चार्वाक सिद्धांतों का वर्णन किया था। माध्वाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' के प्रथम अध्याय में चार्वाक दर्शन का उल्लेख किया गया है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। वे ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, अदृष्ट आदि विचारों को नहीं मान सकते क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। उन्होंने उन्हीं वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार किया जिन्हें इन्द्रियों और अंगो द्वारा मानव अनुभव कर सके। चार्वाक के अनुसार संसार पृथ्वी, अग्नि, जल एवं वायु नामक चार भूतों से निर्मित है। चारों भूतों का विविध अनुपात में सम्मिश्रण होने से बाह्य जगत, भौतिक शरीर, इंद्रियां आदि उत्पन्न होते हैं। चेतना भी भौतिक तत्वों के सम्मिश्रण से जीवित शरीर में उत्पन्न होती है। चार्वाक के भौतिकवादी दर्शन में कोई जीव शरीर से भिन्न नहीं है। चातुरभौतिक शरीर ही जीव या आत्मा है। चार्वाक का मानना था की चेतन शरीर को ही आत्मा कहना चाहिए। आत्मा एवं शरीर के तादात्म्य का ज्ञान हमें दैनिक अनुभवों से भी प्राप्त हो जाता है। चार्वाक दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान का एक ही प्रामाणिक साधन है और वह है प्रत्यक्ष। वे प्रत्यक्ष के अलावा अन्य परमाणु की वैधता को नहीं मानते हैं। चार्वाक का विचार है कि अनुमान प्रमाण नहीं है बल्कि अनुमान ज्ञान का एक प्रमुख साधन है। भारतीय परंपरा में अनुमान का आधार व्याप्ति माना जाता है। चार्वाक दार्शनिक अनुमान प्रमाण का खंडन करने के लिए उसके आधारभूत सिद्धांत व्याप्ति को अवैध सिद्ध करने का प्रयास करते हैं क्योंकि हेतु और साध्य का व्याप्य–व्यापक भाव अनुमान का आधार है। चार्वाकों की मान्यता है कि अनुमान तभी निश्चयात्मक और निर्दोष हो सकता है जब व्याप्ति निर्दोष एवं वास्तविक हो। व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि हेतु और साध्य का अविनाभाव सम्बन्ध सोपाधिक कभी न हो।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **सापेक्षवाद** : वह सिद्धांत या विचारधारा जिसमें दो वस्तुओं या दो बातों को एक–दूसरे का अपेक्षक माना जाता है।
- **निर्वाण** : पीड़ा या दुख से मुक्ति पाने की स्थिति है।
- **काया क्लेश** : इसके अंतर्गत उपवास द्वारा प्राण त्याग का विधान है।
- **शाश्वतवाद** : गौतम बुद्ध के समय में प्रचलित वह दार्शनिक सिद्धान्त है जो मानता है कि आत्मा एक रूप, चिरन्तन और नित्य है, उसका न तो कभी नाश होता है और न कभी उसमें कोई विकार होता है।
- **उच्छेदवाद** : यह आत्मा के भी नष्ट हो जाने का सिद्धांत है। प्राचीन काल में अजित केशकंबली के सिद्धांत को उच्छेदवाद के नाम से जाना जाता था। इस सिद्धांत के अनुसार मृत्यु के बाद कोई भी पदार्थ स्थायी नहीं रहता।
- **प्रत्यक्षवाद** : इसका अर्थ सामाजिक घटनाओं का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण करके किसी निष्कर्ष तक पहुंचना है।
- **अपौरुषेयता** : जो पौरुषेय या मनुष्य का बनाया हुआ न हो, बल्कि ईश्वर या देवताओं का बनाया हुआ हो।

टिप्पणी

- **गोत्र** : मोटे तौर पर उन लोगों के समूह को कहते हैं जिनका वंश एक मूल पुरुष पूर्वज से अटूट क्रम में जुड़ा है।
- **कैवल्य** : उच्च या आनंदित अस्तित्व की स्थिति।
- **संसर्ग** : संग रहने की क्रिया या स्त्री आदि के साथ पुरुष आदि का समागम।
- **अविनाभाव** : दो वस्तुओं में होने वाला ऐसा पारस्परिक अनिवार्य संबंध जो कभी टूटता न हो।
- **आस्तिक** : वेदों को मानने वाले।
- **नास्तिक** : वेदों को न मानने वाले।
- **प्रत्यक्ष** : सामने (आंखों के सम्मुख) ।
- **प्रमाता** : जानने वाला।
- **सोपाधिक** : जिसमें कोई शर्त लगी हो अथवा किसी विशिष्ट सीमा, मर्यादा आदि में बंधा हुआ।

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. गौतम बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों का वर्णन कीजिए।
2. बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धांतों का विश्लेषण कीजिए।
3. बौद्ध धर्म के विकास का अवलोकन कीजिए।
4. बौद्ध दर्शन के विभिन्न पहलुओं का विवरण दीजिए।
5. बौद्ध धर्म के पतन के क्या कारण थे?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. बौद्ध धर्म के महत्व और प्रभावों का विस्तार से उल्लेख कीजिए।
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिए–
   (क) प्रतीत्यसमुत्पाद
   (ख) बौद्ध संगितियां
   (ग) हीनयान तथा महायान
   (घ) माध्यमिक (शून्यवाद) संप्रदाय
3. महावीर स्वामी के जीवन की प्रमुख घटनाओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. जैन धर्म के संस्थापक महावीर जैन की शिक्षाओं और जैन दर्शन का अवलोकन कीजिए।
5. जैन धर्म का विकास किस प्रकार हुआ? विस्तार से विवेचित कीजिए।
6. भारतीय संस्कृति के विकास में जैन धर्म का क्या योगदान था?

टिप्पणी

7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–
   (क) स्याद्वाद
   (ख) त्रिरत्न
   (ग) जैन संगितियां
   (घ) जैन संप्रदाय
8. चार्वाक दर्शन की उत्पत्ति एवं अर्थ को विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिए।
9. चार्वाक दर्शन के साहित्य का विवेचन कीजिए।
10. चार्वाक दर्शन के सिद्धांतों के बारे में आप क्या जानते हैं? विस्तार से बताइए।
11. चार्वाक दर्शन के अनात्मवाद सिद्धान्त की चर्चा कीजिए।
12. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–
   (क) अनात्मवाद
   (ख) चार्वाक दर्शन का प्रमाण विचार

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अरुण कुमार तिवारी, 2020, "गौतम बुद्ध", प्रभात प्रकाशन।
2. एंड्रू स्किलटन, 1998, "ए कंसाईज हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म", विंडहोर्स पब्लिकेशन, सेकेण्ड एडिशन।
3. एडवर्ड जे. थामस, 2002, "द हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट थॉट", डोवर पब्लिकेशंस।
4. डेविड ज.कालूपहाना, 1984, "बुद्धिस्ट फिलोसोफीः ए हिस्टोरिकल एनालिसिस", युनिवर्सिटी ऑफ हवाई प्रेस।
5. आर.एस शर्मा, 2018, "भारत का प्राचीन इतिहास", ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।
6. के.सी श्रीवास्तव, 2019–20, "प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति", यूनाइटेड बुक डिपो।
7. ए. के वार्डर, 1991, "इंडियन बुद्धिज्म", मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, सेकेण्ड एडिशन।
8. कनाई लाल हजरा, 1996, "द राइज एंड डिक्लाइन ऑफ बुद्धिज्म इन इंडिया", मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स।
9. आनंद सिंह, 2010, "प्राचीन भारतीय धर्मः उद्भव एवं स्वरूप", हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
10. डॉ. कमला पंत, 2015, "जैनधर्म और दर्शन", वाइट फाल्कन सेल्फ पब्लिशिंग प्लेटफार्म।
11. डॉ. सागरमल जैन, 2006, "जैन धर्म–दर्शन एवं संस्कृति", पार्श्वनाथ विद्यापीठ।
12. जेफ्री डी लांग, 2009, "जैनिज्म : एन इंट्रोडक्शन", आई.बी टॉरिस।
13. आर.एस शर्मा, 2018, "भारत का प्राचीन इतिहास", ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

टिप्पणी

14. के.टी.स सराओ, जेफ्री डी. लांग, 2017, "बुद्धिज्म एंड जैनिज्म (एन्साइक्लोपीडिया आफ इंडियन रिलीजन्स), स्प्रिंगर।
15. अरविन्द शर्मा, 2019, "एन्साइक्लोपीडिया आफ इंडियन रिलीजन्स", स्प्रिंगर।
16. बलदेव उपाध्याय, 1993, "संस्कृत वांगमय का बृहद इतिहास (दर्शन खण्ड)", उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ
17. एस.राधाकृष्णन (अनु.) नन्दकिशोर गोभिल, 2010, "भारतीय दर्शन", राजपाल एंड संस, दिल्ली
18. बच्चूलाल अवस्थी, 2004, "भारतीय दर्शन बृहत्कोष", शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
19. जयदेव वेदालंकार, 2004, "भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास (न्याय–वैशेषिक)", न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली
20. एस.एन दासगुप्ता, कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार, 2003, "भारतीय दर्शन का इतिहास", राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, (तृतीय संस्करण)

इकाई 6 भारतीय दर्शन के छह संप्रदायों की रूपरेखा

टिप्पणी

संरचना

6.0 परिचय

6.1 उद्देश्य

6.2 सांख्य दर्शन

- 6.2.1 सांख्य दर्शन का अर्थ तथा प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख
- 6.2.2 सांख्य दर्शन के सिद्धांत

6.3 योग दर्शन

- 6.3.1 योग दर्शन का साहित्य
- 6.3.2 योग का अर्थ
- 6.3.3 चित्त तथा उसकी वृत्तियाँ
- 6.3.4 अष्टांग योग
- 6.3.5 ईश्वर

6.4 न्याय दर्शन

- 6.4.1 न्याय दर्शन का अर्थ
- 6.4.2 न्याय दर्शन का साहित्य
- 6.4.3 न्याय दर्शन के तत्वों का विचार
- 6.4.4 ईश्वर या परमात्मा

6.5 वैशेषिक दर्शन

- 6.5.1 वैशेषिक दर्शन का अर्थ
- 6.5.2 वैशेषिक दर्शन का साहित्य
- 6.5.3 वैशेषिक दर्शन के तत्वों का विचार

6.6 पूर्व मीमांसा दर्शन

- 6.6.1 पूर्व मीमांसा दर्शन का अर्थ
- 6.6.2 पूर्व मीमांसा दर्शन का साहित्य
- 6.6.3 पूर्व मीमांसा दर्शन के तत्वों का विचार

6.7 उत्तर मीमांसा–शंकर और रामानुज का दर्शन

- 6.7.1 उत्तर मीमांसा दर्शन का अर्थ
- 6.7.2 उत्तर मीमांसा दर्शन का साहित्य
- 6.7.3 शंकराचार्य का अद्वैत वेदांत
- 6.7.4 रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदांत

6.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

6.9 सारांश

6.10 मुख्य शब्दावली

6.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

6.12 सहायक पाठ्य सामग्री

6.0 परिचय

दर्शन तर्क की उपज है। इसका स्वरूप समालोचनात्मक होता है और यह सुविचारित अनुभव के परिपक्वतम फल पर आधारित होता है। हिन्दू धर्म में दर्शन बहुत प्राचीन परम्परा रही है। वैदिक दर्शनों में षड्दर्शन (छः दर्शन) अधिक प्रसिद्ध और प्राचीन हैं।

ये सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त के नाम से जाने जाते हैं। इनके प्रवर्तक कपिल, पतंजलि, गौतम, कणाद, जैमिनि और बादरायण थे। इनके आरंभिक संकेत उपनिषदों में भी मिलते हैं। प्रत्येक दर्शन का आधारग्रंथ एक दर्शनसूत्र है।

टिप्पणी

मोक्ष प्राप्त करने के लिए, विभिन्न मुद्राओं में शारीरिक व्यायाम किया जाता है जिसे आसन कहते हैं और श्वास व्यायाम को प्राणायाम कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि इन साधनों के माध्यम से, मन सांसारिक कार्यों से दूर हटकर एकाग्रचित होता है।

'नीयते अनेन इति न्यायः' अर्थात् न्याय वह प्रक्रिया है जो परमतत्व की ओर ले जाती है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार 'प्रमाणे अर्थपरीक्षणं न्याय' अर्थात् प्रमाणों की सहायता से वस्तु–तत्व का परीक्षण करने की व्यवस्था ही न्याय कहलाती है। न्याय की इस विचार–प्रक्रिया का मूल कौटिल्य के अर्थशास्त्र, चरकसंहिता तथा सुश्रुतसंहिता में उपलब्ध होता है जहाँ इसे 'आन्वीक्षिकी के रूप में जाना जाता है। क्योंकि यह दर्शन तर्क विद्या का प्रतिपादन करता है, इसलिए यह तर्कशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। इस दर्शन को प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या, आन्वीक्षिकी विद्या आदि के नाम से भी जाना जाता है। न्याय दर्शन को विद्वानों ने मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया है–प्राचीन न्याय, मध्य न्याय तथा नव्य–न्याय। दूसरी शताब्दी ई.पू. से छठी शताब्दी ई. तक का काल प्राचीन न्याय का है। मध्यन्याय का समय छठी से बारहवीं शताब्दी तक है। बारहवीं शताब्दी एवं उसके बाद का समय नव्य–न्याय का है। बारहवीं शताब्दी के गंगेश उपाध्याय ने नव्य–न्याय की आधारशिला रखी थी। अन्य दर्शनों की भाँति न्याय दर्शन का भी मुख्य उद्देश्य दुखों से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करना ही है। न्याय दर्शन के अनुसार मुक्ति तत्वज्ञान से अर्थात द्वादश प्रमेयों के ज्ञान से प्राप्त होती है। तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट होता है, जिससे राग–द्वेष नष्ट होते हैं और मुक्ति प्राप्त होती है।

उपनिषदों की मोक्ष–परक शिक्षाओं को बादरायण (तृतीय शताब्दी ई.पू) ने अपने वेदान्त सूत्र (या ब्रह्मसूत्र) में सूत्रबद्ध किया। वेदों के उत्तर भाग पर आधारित होने के कारण इसे उत्तर– मीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार सम्पूर्ण मीमांसा दर्शन 16 अध्यायों में समाहित सूत्रों पर आधारित है जिनमें से पहले 12 अध्याय पूर्व–मीमांसा और परवर्ती 4 अध्याय उत्तर–मीमांसा या वेदान्त–सूत्र कहलाते हैं। आचार्य शंकर दोनों प्रतिपादन करते है। रामानुज, मध्व इत्यादि आचार्य भी अपने–अपने भाष्यों में वेदान्त सूत्रों का अपने अभीष्ट के अनुसार अर्थ करते हैं।

इस इकाई में भारतीय दर्शन के छह संप्रदायों की रूपरेखा का वर्णन विस्तार से किया गया है।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- सांख्य दर्शन का अर्थ तथा सिद्धांतों की विवेचना कर पाएंगे;
- योग दर्शन का साहित्य, योग का अर्थ, अष्टांग योग तथा ईश्वर के महत्व की विवेचना कर पाएंगे;

टिप्पणी

- न्याय दर्शन का अर्थ, साहित्य, न्याय दर्शन के तत्वों का विचार तथा न्याय दर्शन में ईश्वर के महत्व को समझ पाएंगे;
- वैशेषिक दर्शन का अर्थ, साहित्य तथा वैशेषिक दर्शन के तत्वों के विचार की विवेचना कर पाएंगे;
- पूर्व मीमांसा दर्शन का अर्थ, साहित्य तथा तत्वों का वर्णन कर पाएंगे;
- उत्तर मीमांसा दर्शन का अर्थ, शंकराचार्य का अद्वैत वेदांत तथा रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत वेदांत की विवेचना कर पाएंगे।

6.2 सांख्य दर्शन

सांख्य, जिसका अर्थ 'संख्या या गिनती' होता है, पहले उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। प्रारम्भिक सांख्य दर्शन के अनुसार, सृष्टि के निर्माण के लिए दिव्य शक्ति आवश्यक नहीं है। सृष्टि के निर्माण का श्रेय भगवान की तुलना में प्रकृति को अधिक जाता है। यह तर्कसंगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण था। चौथी शताब्दी के आस–पास प्रकृति के अतिरिक्त पुरुष या आत्मा को सांख्य प्रणाली में एक तत्व के रूप में प्रस्तुत किया गया और सृष्टि का निर्माण इन दोनों से मिलकर बताया गया है। नए दृष्टिकोण के अनुसार, प्रकृति और आध्यात्मिक तत्व एक साथ सृष्टि का निर्माण करते हैं। इस प्रकार, आरम्भ में दर्शन की सांख्य शाखा भौतिकवादी थी, लेकिन बाद में यह अध्यात्मवादी बन गई। प्रारम्भ में, इस शाखा के अनुसार, एक व्यक्ति वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के माध्यम से अपना उद्धार कर सकता है और उसका दुःख हमेशा के लिए समाप्त हो सकता है। इस ज्ञान को अनुभूति (प्रत्यक्ष), अवधारणा (अनुमान), और श्रवण (शब्द) के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। आज यही तीनों साधन आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति की भी विशेषताएं हैं।

कपिल मुनि का जीवन परिचय

कपिल मुनि प्राचीन भारत के एक प्रभावशाली ऋषि थे। इन्हें सांख्यशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है जिसके मान्य अर्थों के अनुसार विश्व का उद्‌भव विकासवादी प्रक्रिया से हुआ है। कुछ लोग इन्हें अनीश्वरवादी मानते हैं लेकिन गीता में इन्हें श्रेष्ठ मुनि कहा गया है। कपिल मुनि ने सर्वप्रथम विकासवाद का प्रतिपादन किया और संसार को एक क्रम के रूप में देखा।

संसार को स्वाभाविक गति से उत्पन्न मानकर इन्होंने संसार के किसी अति प्राकृतिक कर्ता का निषेध किया। सुख–दुःख प्रकृति की देन है तथा पुरुष अज्ञान में बद्ध है। अज्ञान का नाश होने पर पुरुष और प्रकृति अपने–अपने स्थान पर स्थित हो जाते हैं। अज्ञान के नाश के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है अतः कर्मकाण्ड निरर्थक है। ज्ञानमार्ग का यह प्रवर्तन भारतीय संस्कृति को कपिल की देन है। आस्तिक दार्शनिकों में से वेदान्त और योग दर्शन स्पष्ट रूप में सांख्य के त्रिगुणवाद और विकासवाद को अपनाते हैं। इस प्रकार कपिल मुनि द्वारा प्रवर्तित सांख्य का प्रभाव प्रायः सभी दर्शनों पर पड़ा है।

तत्वसमाससूत्र के टीकाकार उसको कपिल मुनि की रचना मानते हैं। तत्वसमाससूत्र के टीकाकार भावागणेश कहते हैं कि उन्होंने टीका लिखते समय

टिप्पणी

पंचशिख द्वारा लिखित टीका से सहायता ली है। रिचर्ड गार्वे के अनुसार पंचशिख का काल प्रथम शताब्दी का होना चाहिए। अतः भगवज्जुकीयम् तथा भावागणेश की टीका को यदि प्रमाण मानें तो 'तत्वसमाससूत्र' का काल ईसा की पहली शताब्दी माना जा सकता है। सांख्यप्रवचनसूत्र को भी कुछ टीकाकार कपिल की रचना मानते हैं। कौमुदीप्रभा के कर्ता 'सांख्यप्रवचनसूत्र' को पंचशिख की कृति मानते हैं और कहते हैं कि यह ग्रन्थ कपिल द्वारा निर्मित इसलिए माना गया है क्योंकि कपिल सांख्य के प्रवर्तक हैं। यही बात 'तत्वसमास सूत्र' के बारे में भी कही जा सकती है।

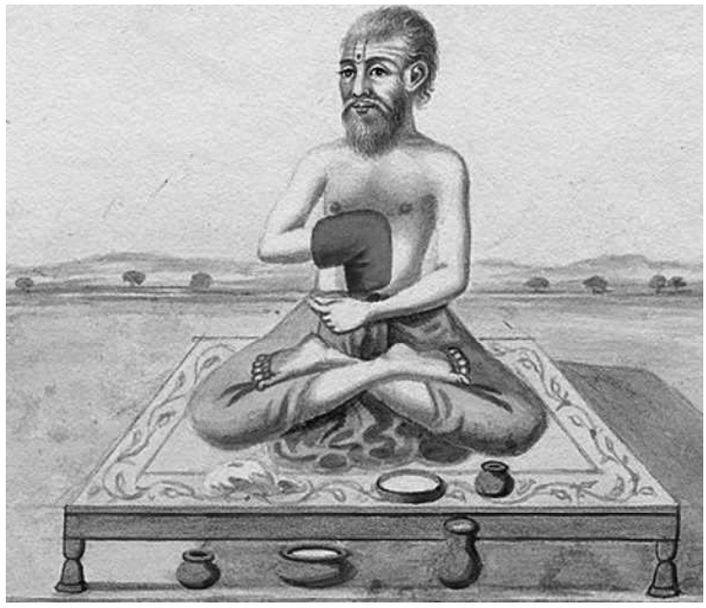

कपिल मुनि

कपिल मुनि के समय और जन्मस्थान के बारे में निश्चय नहीं किया जा सकता। पुराणों तथा महाभारत में इनका उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि प्रत्येक कल्प के आदि में कपिल जन्म लेते हैं। जन्म के साथ ही इनको सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसीलिए इनको आदिसिद्ध और आदिविद्वान् कहा जाता है। इनका शिष्य कोई आसुरि नामक वंश में उत्पन्न वर्षसहस्रयाजी श्रोत्रिय ब्राह्मण बताया गया है। परम्परा के अनुसार उक्त आसुरि को निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर इन्होंने तत्वज्ञान का उपदेश दिया था। निर्माणचित्त का अर्थ होता है सिद्धि के द्वारा अपने चित्त को स्वेच्छा से निर्मित कर लेना। इससे ज्ञात होता है कि, कपिल मुनि ने आसुरि के सामने साक्षात् उपस्थित होकर उपदेश ही नहीं दिया अपितु आसुरि के ज्ञान में इनके प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्फुरण हुआ, अतः ये 'आसुरि' के गुरु कहलाए। महाभारत में ये सांख्य के वक्ता कहे गए हैं। कर्दम और देवहूति से इनकी उत्पत्ति मानी गई है। बाद में इन्होंने अपनी माता देवहूति को सांख्यज्ञान का उपदेश दिया जिसका विशद वर्णन श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध में मिलता है।

कपिलवस्तु, जहाँ बुद्ध पैदा हुए थे, कपिल के नाम पर बसा हुआ नगर था और सगर के पुत्र को सागर के किनारे कपिल ने शाप दिया था तथा बाद में वहीं

टिप्पणी

गंगा का सागर के साथ संगम हुआ। इससे मालूम होता है कि कपिल का जन्मस्थान संभवतः कपिलवस्तु और तपस्या का क्षेत्र गंगासागर था। इससे यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि बुद्ध के पहले कपिल का नाम फैल चुका था। यदि हम कपिल के शिष्य आसुरि को शतपथ ब्राह्मण के आसुरि से अभिन्न मानें तो कह सकते हैं कि कम–से–कम ब्राह्मणकाल में कपिल की स्थिति रही होगी। इस प्रकार 700 वर्ष ई.पू. कपिल का काल माना जा सकता है।

सांख्यशास्त्र का मुख्य उद्देश्य तत्वज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञकर्म के द्वारा अपवर्ग की प्राप्ति बताई गई है। सांख्य दर्शन में कर्मकाण्ड के विपरीत ज्ञानकाण्ड को महत्व दिया गया है। उपनिषदों में ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ माना गया है। यद्यपि अधिकांश उपनिषदों में ब्रह्म को परम सत्ता और संसार को उसी का परिणाम या विवर्त बताया गया है; तथापि कुछ उपनिषदों में, मुख्य रूप से श्वेताश्वतर उपनिषद में सांख्य के सिद्धांतों का प्रतिपादन मिलता है। परन्तु यह प्रतिपादन क्रमबद्ध रूप में नहीं है, यह केवल कुछ ऐसे सिद्धान्तों की ओर संकेत करता है जिनका आगे चलकर सांख्य सिद्धान्त में समावेश हो गया। कपिल को आदिसिद्ध कहने का अर्थ यह है कि सम्भवतः कपिल ने ही सर्वप्रथम ध्यान और तपस्या का मार्ग बताया था। इनसे पूर्व कर्म ही एक मार्ग था और ज्ञान केवल चर्चा तक सीमित था। ज्ञान को साधना का रूप देकर कपिल ने त्याग, तपस्या एवं समाधि को भारतीय संस्कृति में पहली बार प्रतिष्ठित किया।

6.2.1 सांख्य दर्शन का अर्थ तथा प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख

भारतीय दर्शन चिंतन धारा में सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है। महर्षि कपिल सांख्य दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। कुछ लोग महर्षि कपिल को विष्णु का अवतार मानते हैं, कुछ ब्रह्मा का रूप तो कुछ लोग अग्नि देवता के रूप में स्वीकार करते हैं। कपिल का काल महात्मा बुद्ध के एक शताब्दी पूर्व माना जाता है। महाभारत के पंचशिक्षा जनक संवाद में सांख्य के मूल सिद्धांतों का वर्णन किया गया है। मनुस्मृति में सांख्य सिद्धांत के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है और भगवद् गीता में तो सांख्य और योग दर्शन का स्पष्टतः उल्लेख है। उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर सांख्य के मूल तत्वों का उल्लेख मिलता है। छांदोग्य उपनिषद् में सर्वप्रथम सत्कार्यवाद का उल्लेख 'सदैव सोम्येदम् एकमेवाद्वितीयम्' नामक मंत्र में मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् को तो विद्वान सांख्य उपनिषद् मानते हैं। प्रकृति के तीनों गुणों तथा पुरुष से उसकी भिन्नता की अत्यंत सुंदर व्यवस्था इसी उपनिषद् के निम्न मंत्र में दृष्टिगोचर होती है–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो हि एको जुषामाणो अनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोअन्यः।।

–श्वेताश्वतरोपनिषद मंत्र (4.5)

सांख्य शब्द गिनती वाचक है क्योंकि इस शास्त्र में तत्वों की संख्या पच्चीस मानी गई है, इसलिए इसे सांख्य कहा गया है। श्रीधराचार्य ने अपनी श्रीमद्भागवत की टीका में सांख्य शब्द का यही अर्थ बताया है। दूसरे विचार के अनुसार सांख्य शब्द ज्ञानवाची है जिसका प्रयोग ख्यानम् (सम्यक् विचार) के अर्थ से होता है। सांख्य

टिप्पणी

के इस सम्यक ज्ञान अर्थ को लेकर ही गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग किया गया है। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने अपने भगवद्गीता भाष्य में सांख्य शब्द का यही अभिप्राय बताया है। इसका प्रवर्तन महर्षि कपिल ने ही किया था। कपिल ने ही तत्व समाज एवं सांख्य सूत्र संज्ञक की रचना की जो अनुपलब्ध माना जाता है। इनके द्वारा प्रतिपादित सांख्य दर्शन निरीश्वर माना जाता है। कपिल के शिष्यों में आसुरि एवं पंचशिखाचार्य ने सांख्य साहित्य को समृद्ध बनाया था। परंतु इनकी भी भौतिक रचनाएं विलुप्त हो गई हैं।

श्री कृष्ण द्वारा रचित सांख्यकारिका इस दर्शन का प्राचीन एवं प्रामाणिक उपलब्ध ग्रंथ है। सांख्यसप्तति, सुवर्णसप्तति, कनकसप्तति, गौड़पाद की सांख्यकारिकाभाष्य, वाचस्पति की तर्ककौमुदी, विज्ञानभिक्षु द्वारा रचित सांख्य प्रवचन भाष्य एवं सांख्यसार प्रभूति इस दर्शन के प्रमुख ग्रंथ हैं।

6.2.2 सांख्य दर्शन के सिद्धांत

सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धांत निम्न हैं–

(1) सत्कार्यवाद

यह सांख्य का मुख्य आधार है। सत्कार्यवाद से अभिप्राय यह है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान (सत्) रहता है। जो सम्प्रदाय इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते उन्हें असत्कार्यवादी कहा जाता है। इनमें बौद्ध, न्याय, वैशेषिक आदि प्रमुख हैं, जिनकी मान्यता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं होता तथा उसकी उत्पत्ति सर्वथा नयी होती है। किन्तु सांख्य मत इसका खंडन करते हुये सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करता है, और इसके समर्थन में उसने कई तर्क प्रस्तुत किये हैं, जो निम्नलिखित हैं–

यदि कार्य उत्पत्ति से पहले कारण में विद्यमान न रहे तो किसी भी प्रकार से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। बालू से तेल नहीं निकल सकता। वह केवल तिल से ही निकल सकता है, क्योंकि उसमें तेल पहले से विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य वस्तुतः कारण की अभिव्यक्ति मात्र है। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति प्रत्येक वस्तु से नहीं होती, बल्कि वह किसी विशेष वस्तु से ही होती है। जैसे तेल केवल तिल से तथा दही केवल दूध से ही उत्पन्न हो सकता है। इससे सत्कार्यवाद के सिद्धांत की पुष्टि होती है।

केवल योग्य कारण से ही अभीष्ट कार्य उत्पन्न होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कार्य का अस्तित्व सूक्ष्म रूप से अपने कारण में बना रहता है। उत्पत्ति, कारण का प्रत्यक्षीकरण मात्र है। यदि ऐसा नहीं होता तो पानी से दही तथा बालू से तेल उत्पन्न हो जाता। कार्य अपने कारण का सार है। कार्य तथा कारण वस्तुतः समान प्रक्रिया के व्यक्ति एवं अव्यक्त रूप हैं। कपडा धागों में, तेल तिल में, दही दूध में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। जब उत्पत्ति के मार्ग की बाधाओं को दूर कर दिया जाता है, तो कारण कार्य को प्रकट कर देता है।

इन सभी युक्तियों के आधार पर सांख्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है, कि कार्य मूलतः अपने कारण में विद्यमान रहता है। सत्कार्यवाद के दो भेद स्वीकार्य हैं–

टिप्पणी

परिणामवाद तथा विवर्तवाद। परिणामवाद से तात्पर्य यह है, कि कारण वास्तविक रूप में कार्य में बदल जाता है, जैसे तिल तेल में, दूध दही में बदल जाता है । विवर्तवाद के अनुसार परिवर्तन वास्तविक न होकर आभास मात्र होता है, जैसे रज्जु में सर्प का आभास। सांख्य मत प्रथम अर्थात् परिणामवाद का समर्थक है। विवर्तवाद का समर्थन अद्वैत वेदांती करते हैं। सांख्य दर्शन द्वैतवादी माना गया है। इसमें प्रकृति एवं पुरुष नामक दो स्वतंत्र शक्तियों की सत्ता को स्वीकार किया गया है, जो मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति करती हैं ।

(2) प्रकृति

प्रकृति सृष्टि का अभिकरण है, जिसे प्रधान तथा अव्यक्त की संज्ञा दी गयी है। यह नित्य एवं निरपेक्ष है। इसका कोई कारण नहीं होता, क्योंकि यही समस्त कार्यों का मूल स्रोत है। इसके तीन गुण होते हैं– सत, रज एवं तम। इन तीनों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। ये गुण प्रकृति के अंगभूत तत्व हैं। इनसे मिलकर बनी होने पर भी प्रकृति इन पर आश्रित नहीं रहती। यहाँ गुण से मतलब साधारण गुण या धर्म से नहीं है। गुण का अर्थ धर्म, सहकारी तथा रस्सी की डोरी होता है। प्रकृति के तीन तत्व रस्सी की तीन डोरियों की भाँति मिलकर पुरुष को बाँधते हैं, अतः इन्हें गुण कहा जाता है। पुरुष के उद्देश्य साधने में सहायक होने के कारण ये गुण कहे गये हैं। सत प्रकाश तथा प्रसन्नता, रज क्रियाशीलता तथा तम स्थिरता, अवरोध एवं मोह का सूचक है। ये तीनों गुण सभी सांसारिक वस्तुओं में दिखाई देते हैं, क्योंकि वे सभी प्रकृति से उत्पन्न हुई हैं। सत,रज तथा तम को क्रमशः शुक्ल, रक्त तथा कृष्ण वर्ण में कल्पित किया गया है। तीनों का परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध है। ये हमेशा एक साथ रहते हैं तथा किसी एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता और न कोई कार्य ही कर सकता है। तीनों गुणों की तुलना तेल, बत्ती तथा दीपक से की गयी है, जो परस्पर भिन्न होते हुये भी एक साथ मिलकर प्रकाश उत्पन्न करते हैं। तीनों गुणों में जो प्रबल होता है, उसी के अनुसार वस्तु का स्वरूप निर्धारित होता है। शेष उसमें गौण रूप में विद्यमान होते हैं। गुण परिवर्तनशील हैं तथा तथा ये परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं–

(क) **सरूप परिणाम** : इस स्थिति में सत–सत में, रज–रज में तथा तम–तम में परिणत होता है। इस अवस्था में किसी प्रकार की उत्पत्ति नहीं होती है। इस समय गुणों की साम्यावास्था रहती है। इसी को प्रकृति कहते हैं। यह परिवर्तन प्रलय की अवस्था में दिखाई देता है, जबकि तीनों गुण स्वयं अपने आप में परिवर्तित हो जाते हैं।

(ख) **विरूप परिणाम** : प्रलय के पश्चात् जब कोई एक गुण शक्तिशाली हो जाता है, तथा अन्य उसके अधीन हो जाते हैं, तब सृष्टि का विकास प्रारंभ होता है। इसे विरूप परिणाम अथवा परिवर्तन कहा गया है। इस समय गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, तथा साम्यावस्था उद्विग्न हो जाती है। ऐसा तभी होता है, जब प्रकृति, पुरुष के संसर्ग में आती है।

(3) पुरुष

पुरुष (आत्मा) सांख्य दर्शन का दूसरा प्रधान तत्व है। इसका स्वरूप नित्य, सर्वव्यापी एवं शुद्ध चैतन्य है। चैतन्य आत्मा का स्वभाव ही है। यह शरीर, इन्द्रिय, मन अथवा बुद्धि से भिन्न है। आत्मा सदैव ज्ञाता के रूप में रहती है और यह ज्ञान का विषय

नहीं हो सकती। इसे निस्त्रैगुण्य, उदासीन, अकर्त्ता, केवल, मध्यस्थ, साक्षी, द्रष्टा, सदा प्रकाशस्वरूप, ज्ञाता आदि कहा गया है। इसमें किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं होता, बल्कि विकार या परिवर्तन तो प्रकृति के धर्म हैं।

टिप्पणी

सांख्य दर्शन में अनेकात्मवाद का समर्थन किया गया है, जिसके अनुसार आत्मा एक न होकर अनेक हैं। प्रत्येक जीव में भिन्न–भिन्न आत्मा रहती है। इस प्रकार जहाँ प्रकृति एक है वहाँ पुरुष (आत्मा) अनेक माने गये हैं।

(4) सृष्टि की उत्पत्ति तथा विकास

जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग में आती है, तो गुणों की साम्यावस्था विकृत हो जाती है, जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इनमें से अकेला कोई भी तत्व सृष्टि रचना में समर्थ नहीं होता। पुरुष के अभाव में प्रकृति के अस्तित्व का कोई प्रयोजन नहीं रहता है। सृष्टि का उद्देश्य पुरुष का हित साधन करना होता है। पुरुष को भोग तथा कैवल्य दोनों के लिये प्रकृति की आवश्यकता होती है। प्रकृति को ज्ञात होने के निमित्त पुरुष की आवश्यकता पड़ती है। सृष्टि द्वारा पुरुष के भोग के लिये वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। जब पुरुष अपने स्वरूप को पहचान कर प्रकृति से अपना विभेद स्थापित कर लेता है तब उसे मुक्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार अंधे तथा लंगङे आपस में मिलकर एक–दूसरे की सहायता से जंगल पार कर लेते हैं, उसी प्रकार जड़, प्रकृति तथा चेतन पुरुष परस्पर भिन्न होते हुए भी एक–दूसरे के सहयोग से सृष्टि की रचना करते हैं।

पुरुष के संपर्क से प्रकृति के गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है। सबसे पहले रज क्रियाशील होता है तथा फिर दूसरे गुणों में उद्वेग पैदा होता है। प्रत्येक एक–दूसरे पर अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे प्रकृति में एक महान आंदोलन होता है। तीनों गुणों के संयोग से विभिन्न वस्तुएँ पैदा होती हैं।

पुरुष की क्रियाशीलता के लिए बुद्धि सबसे महत्वपूर्ण अन्तः कारण माना जाता है। प्रकृति में जब विकार उत्पन्न होता है, सर्वप्रथम बुद्धि का ही निर्माण होता है जिसे महत् भी कहते हैं। गुणों में जब सत की प्रधानता होती है तब इसका उदय होता है। यह बाह्य जगत् की वस्तुओं का विशाल बीज है, तथा यही सभी जीवधारियों में बुद्धि रूप में विद्यमान है। यही ज्ञाता और ज्ञेय का भेद कराती है तथा इसी के द्वारा हम किसी वस्तु के विषय में निर्णय कर पाते हैं। बुद्धि के स्वाभाविक गुण धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य माने गए हैं। तमोगुण द्वारा विकृत होने पर इन गुणों का स्थान इनके विरोधी गुण जैसे– अधर्म, अज्ञान तथा अशक्ति ग्रहण कर लेते हैं। बुद्धि की सहायता से ही प्रकृति तथा पुरुष से विभेद स्थापित होता है।

बुद्धि से अहंकार का जन्म होता है। बुद्धि में 'मैं' तथा 'मेरा' भाव ही अहंकार है। इसका कार्य अभिमान को उत्पन्न करना है। पुरुष भ्रमवश अपना तादात्म्य इसके साथ स्थापित कर लेता है तथा स्वयं को कर्त्ता, भोक्ता, कामी और स्वामी मानने लगता है। अहंकार के तीन भेद हैं– सात्विक, तामस एवं राजस। सात्विक में सत्व की प्रधानता होती है, जिससे मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (मुख, हाथ, पैर, मलद्वार एवं जननेन्द्रिय) उत्पन्न होती हैं। तामस में तम की प्रधानता होती है, जिससे मन, पाँच तन्मात्राएं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध उत्पन्न होते हैं। पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है, जो हैं–आकाश,

वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी। राजस में रज की प्रधानता होती है। यह सात्विक तथा तामस को गति प्रदान करता है।

टिप्पणी

इस प्रकार सृष्टि का विकास प्रकृति से प्रारंभ होता है तथा महाभूतों तक समाप्त होता है। यह चौबीस तत्वों की ही रचना है। पुरुष को मिलाकर सांख्य दर्शन में कुल पच्चीस तत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। पुरुष इस विकास की परिधि से बाहर रहकर इसका द्रष्टामात्र होता है। वह न तो कारण है और न ही कार्य। प्रकृति कारण मात्र है। महत्, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राएं कार्य तथा कारण दोनों ही हैं, जबकि पाँच महाभूत तथा मन कार्य मात्र होते हैं।

(5) बंधन तथा मोक्ष (कैवल्य)

सांख्य दर्शन संसार को दुखों से परिपूर्ण मानता है। जिन्हें हम सुख समझते हैं, वे भी अन्ततः दुःख ही प्रदान करते हैं। दुःखों के तीन प्रकार माने जाते हैं–

(क) **आध्यात्मिक दुःख**– इसके अंतर्गत वे दुःख हैं, जो जीवन के अपने मन या शरीर से उत्पन्न होते हैं, जैसे– रोग, क्रोध, संताप, क्षुधा आदि। इस प्रकार आध्यात्मिक दुःख से अभिप्राय सभी प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक दुःखों से है।

(ख) **आधिभौतिक दुःख**– इसमें बाहरी भौतिक पदार्थों जैसे– मनुष्य, पशु,पक्षियों, कांटों आदि के द्वारा उत्पन्न दुःख आते हैं।

(ग) **आधिदैविक दुःख**– इसमें अलौकिक कारणों से उत्पन्न दुःख आते हैं, जैसे– भूत–प्रेतों का उपद्रव, ग्रह–पीड़ा आदि।

मनुष्य के जीवन का उद्देश्य इन तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना है। मोक्ष का अर्थ है, सभी प्रकार के दुःखों से मुक्ति। यही अपवर्ग अथवा पुरुषार्थ है। बंधन का कारण अविवेक अथवा ज्ञान है, जिससे हमें विभिन्न प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं। पुरुष स्वतंत्र तथा शुद्ध चैतन्यस्वरूप होता है। यह देश, काल तथा कारण की सीमाओं से परे हैं तथा निर्गुण और निष्क्रिय है। शारीरिक तथा मानसिक विकार इसे प्रभावित नहीं करते। सुख–दुःख मन के विषय हैं, पुरुष के नहीं। परंतु अज्ञानता के कारण पुरुष, प्रकृति के विकार, बुद्धि तथा अहंकार से अपना तादात्म्य स्थापित कर बैठता है। यह स्वयं को ही शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि मान लेता है। यह स्वयं को कर्त्ता और भोक्ता मानने लगता है तथा दुःखों को प्राप्त होता है। इस प्रकार अज्ञानता ही दुःखों का कारण तथा विवेक ज्ञान इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय है। विवेकज्ञान का अर्थ है पुरुष द्वारा स्वयं को प्रकृति के विकारों से अलग समझ लेना। विवेकज्ञान की प्राप्ति निरंतर साधना से होती है। इस साधना का विवरण योगदर्शन के अंतर्गत मिलता है, जो सांख्य का व्यावहारिक पक्ष है।

सांख्य दर्शन दो प्रकार की मुक्ति स्वीकार करता है– जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। जीवनमुक्ति ज्ञान प्राप्ति से ही मिल जाती है, तथा भौतिक शरीर के बने रहने पर भी पुरुष (आत्मा) स्वयं को उससे पृथक एवं अलिप्त मानता है। उसे दैहिक, दैविक तथा भौतिक सुख–दुःख बाधित नहीं करते। विदेहमुक्ति शरीर के विनाश के पश्चात् प्राप्त होती है। जबकि स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों से छुटकारा मिल जाता है। सांख्य के मोक्ष का अर्थ तीनों प्रकार के दुःखों का पूर्ण विनाश है, जिसमें पुरुष अपने शुद्ध

टिप्पणी

चैतन्यस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह स्थिति आनंदमय नहीं है, क्योंकि जहाँ कोई दुःख नहीं है, वहाँ कोई सुख भी नहीं हो सकता। सुख या आनंद सतोगुण की देन है तथा मोक्ष त्रिगुण निरपेक्ष होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष का बंधन में बंधना मात्र एक भ्रम है। वस्तुतः यह बंधन तथा मोक्ष की सीमाओं से परे है। केवल प्रकृति ही बंधनग्रस्त तथा मुक्त होती है।

ईश्वर की सत्ता के बारे में सांख्य दर्शन के समर्थकों में मतभेद है। प्रारंभ में यह मत ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता था। उसके अनुसार यह संसार कार्य–कारण शृंखला का परिणाम है, जिसके विकास के लिये प्रकृति तथा पुरुष ही समर्थ हैं। इसमें ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता,क्योंकि वह तो नित्य एवं निर्विकार होता है। किन्तु कालांतर में विज्ञानभिक्षु आदि सांख्य दार्शनिकों ने वेदान्त तथा योग के प्रभाव से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया तथा यह मत दिया कि ईश्वर के सान्निध्य से ही प्रकृति का विकास होता है। जिस प्रकार चुम्बक के सान्निध्य से लोहे में गति आती है, उसी प्रकार ईश्वर के सान्निध्य से प्रकृति में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. सांख्य दर्शन का प्रवर्तक किसे माना जाता है–

   (क) महर्षि वाल्मीकि (ख) महर्षि कपिल

   (ग) महर्षि गौतम (घ) महर्षि पतंजलि

2. सांख्य दर्शन में कुल कितने तत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है?

   (क) 10 (ख) 15

   (ग) 20 (घ) 25

6.3 योग दर्शन

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित दर्शन योग दर्शन कहलाता है। भारतीय दर्शन परंपरा में योग का अत्यधिक महत्व माना जाता है। योग के महत्व को नास्तिक दर्शनों में भी स्वीकार किया गया है। योग शाखा के अनुसार, एक व्यक्ति ध्यान और शारीरिक व्यायाम के माध्यम से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर नियंत्रण का अभ्यास इस प्रणाली का मूल आधार है।

महर्षि पतंजलि का जीवन परिचय

एक किंवदन्ती के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है, कि प्रातःकाल नदी में अचानक से सूर्य को अर्घ्य देते समय कोई बालक एक ब्राह्मण की अंजलि में आ गया और उस दृष्टान्त के कारण इनका नाम पतंजलि पड़ गया। बाद में उसी ब्राह्मण के यहां इनकी शिक्षा–दीक्षा हुई। कुछ विद्वान इन्हें शुंगवंशीय महाराज पुष्यमित्र के दरबारी पण्डित के रूप में भी बताते हैं। इस आधार पर इनका समय द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। यद्यपि इनके समय के विषय में भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती है लेकिन फिर

टिप्पणी

भी अधिक से अधिक सन्दर्भ हमें यही समय बताते हैं।

महर्षि पतंजलि काशी में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में चर्चा में थे। इनका जन्म गोनारद्य (गोनिया) में हुआ था लेकिन कहते हैं कि ये काशी में नागकूप में बस गये थे। एक अन्य प्रचलित मान्यता के आधार पर इन्हें शेषनाग का अवतार माना जाता है। विद्वानों का मत है कि ये कश्मीर में रहने वाले नागू जाति के ब्राह्मणों के बीच पैदा हुए थे और उनके मुखिया थे। अद्‌भुत शास्त्रज्ञान और विभिन्न भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण इनको सहस्रजिह्‌वत्व (एक हजार जीभ वाला) की कल्पना में शेषनाग के अवतार के रूप में प्रसिद्धि मिल गयी होगी। इसी कारण कुछ स्थानों पर ऐसा विवरण भी मिलता है कि पतंजलि अपने शिष्यों को पर्दे के पीछे छिपकर पढ़ाते थे, और शिष्यों के लिए कड़ा निर्देश था कि पर्दे को उठाकर न देखा जाए। इस दुःसाहस का परिणाम बड़ा गंभीर हो सकता है। एक दिन अत्यन्त जिज्ञासावश एक शिष्य ने दुःसाहस कर दिया और पतंजलि ने क्रुद्ध होकर अपनी एक हजार जिह्‌वाओं से अग्नि फेंककर सब कुछ नष्ट कर दिया। भाग्यवश एक शिष्य वहाँ से बचकर भाग गया जिसने बाद में उनके द्वारा दिए गए उपदेशों का संग्रह किया।

यह भी माना जाता है कि वे व्याकरणाचार्य पाणिनि के शिष्य थे।

महर्षि पतंजलि

पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपनी टीका लिखी जिसे महाभाष्य कहा जाता है। इसका काल लगभग 200 ई.पू. माना जाता है। पतंजलि ने इस ग्रन्थ की रचना कर पाणिनि के व्याकरण की प्रमाणिकता पर अंतिम मोहर लगा दी थी। महाभाष्य व्याकरण का ग्रन्थ होने के साथ–साथ तत्कालीन समाज का विश्वकोश भी है।

टिप्पणी

महर्षि पतंजलि एक महान चिकित्सक थे और कुछ विद्वान उन्हें 'चरक संहिता' का प्रणेता भी मानते हैं। महर्षि पतंजलि रसायन विद्या के विशिष्ट आचार्य थे, अभ्रक, धातुयोग और लौहशास्त्र इनकी देन है। महर्षि पतंजलि संभवतः पुष्यमित्र शुंग के शासन काल में थे। राजा भोज ने इन्हें तन के साथ मन का भी चिकित्सक कहा है। पतंजलि के योग का महत्व इसलिये अधिक है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने ही योग विद्या को सुव्यवस्थित रुप दिया। पतंजलि के अष्टांग योग में धर्म और दर्शन की समस्त विद्या का समावेश तो है ही साथ ही शरीर और मन के विज्ञान को भी पतंजलि ने योगसूत्र में व्यक्त किया है।

रचनाएं

भारतीय दर्शन साहित्य में पतंजलि के लिखे हुये 3 प्रमुख ग्रन्थ मिलते हैं– योगसूत्र, अष्टाध्यायी पर भाष्य और आयुर्वेद पर ग्रन्थ। विद्वानों में इन ग्रन्थों के लेखक को लेकर मतभेद है कुछ मानते हैं कि तीनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति ने लिखे, अन्य की धारणा है कि ये विभिन्न व्यक्तियों की कृतियाँ हैं। महर्षि पतंजलि योगसूत्र के रचनाकार हैं, यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण शास्त्र है। इसमें योग के 195 सूत्र हैं।

1. **समाधिपाद** – इस ग्रन्थ के पहले पाद में योग के लक्षण, स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए चित्त की वृत्तियों के पांच भेद और उनके लक्षण बताये गये हैं। इस पाद में मुख्य रूप से समाधि के स्वरूप का वर्णन है, इस कारण इसे समाधिपाद कहते हैं।
2. **साधनपाद** – इस पाद में समाधि के साधनों का वर्णन है इस कारण इसे साधनपाद कहते हैं। निर्बीज समाधि वही साधक प्राप्त कर सकता है जिसका अन्तःकरण स्वभाव से ही शुद्ध हो गया है। अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक निर्बीज–समाधि प्राप्त करने के उपाय साधनापाद में बताए गए हैं।
3. **विभूतिपाद** – विभूतिपाद के पहले सूत्र में 'धारणा', दूसरे में 'ध्यान' तथा तीसरे में 'समाधि' के बारे में बताते हुऐ ऋषि ने उक्त तीनों को अन्तरंग साधन बताया है। चित्त की वृत्तियों, भूत–भविष्य की घटनाओं का ज्ञान होने, साधक को मृत्यु का पूर्व ज्ञान होने एवं साधक को प्राप्त होने वाली विभिन्न सिद्धियों का ज्ञान हो जाने के बारे में विस्तार से बताया गया है।
4. **कैवल्यपाद** – कैवल्यपाद में ऋषि ने जात्यान्तरण की बात कही है जिसमें मनुष्य की वृत्ति बदल जाती है। तमोगुण से सतोगुण वृत्ति हो जाती है। उपरोक्त तीनों पादों में समाधि के वास्तविक फल (कैवल्य) का वर्णन प्रसंगानुसार हुआ है किन्तु विवेचनापूर्ण नहीं हुआ, अतः उसका अच्छी तरह वर्णन इस पाद में किया गया है इसलिये इसका नाम 'कैवल्यपाद' रखा गया है।

   योग दर्शन के साहित्य को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

6.3.1 योग दर्शन का साहित्य

योगदर्शन का साहित्य निम्न प्रकार है–

(1) **योगसूत्र** : योगसूत्र महर्षि पतंजलि की रचना है तथा इसका समय लगभग 200 ई. पू. माना जाता है। योगसूत्र चार पादों में विभक्त है तथा इसमें कुल 195 सूत्र हैं।

टिप्पणी

(2) **योगभाष्य** : महर्षि पतंजलि के योगसूत्रों पर महर्षि व्यास ने भाष्य ग्रन्थ की रचना की है जो योगभाष्य, व्यासभाष्य, पातंजलभाष्य आदि नामों से प्रसिद्ध है।

(3) **तत्ववैशारदी** : आचार्य व्यास द्वारा रचित योगभाष्य पर 9वीं शताब्दी के महान दार्शनिक आचार्य वाचस्पति मिश्र ने एक टीका का प्रणयन किया जो तत्ववैशारदी नाम से विख्यात है। यह टीका व्यास भाष्य के गूढ रहस्यों का सहजता से उद्घाटन करती है। प्रतिपादन शैली, विषय–गाम्भीर्य, भाषा एवं भाव सभी दृष्टियों से यह योगशास्त्र की सर्वोत्तम टीका मानी जाती है।

(4) **राजमार्तण्डवृत्ति** : 11वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य भोजराज ने योगसूत्रों पर एक वृत्ति ग्रन्थ की रचना की है जो राजमार्तण्डवृत्ति' नाम से प्रसिद्ध है। यह वृत्ति अत्यन्त स्पष्टता से योगदर्शन के सिद्धान्तों और मन्तव्यों का ख्यापन करती है।

(5) **योगवार्तिक** : योगभाष्य पर आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक नामक महनीय ग्रन्थ की रचना की। इसका समय 16वीं शताब्दी का है। योगवार्तिक एक विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ है जो योगभाष्य के रहस्यों को समझने में बहुत उपयोगी है।

(6) **अन्य ग्रन्थ** : विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने योगसूत्र पर वृत्ति की रचना की है जिसका समय 17वीं शताब्दी का है। प्रसिद्ध व्याकरण नागोजीभट्ट की छाया व्याख्या, रामानन्द यति की मणिप्रभा, नारायण तीर्थकृत सूत्रार्थबोधिनी तथा हरिहरानन्द आरण्य की भास्वती टीका योगदर्शन के अन्य महत्वपूर्ण व्याख्यान ग्रन्थ हैं।

6.3.2 योग का अर्थ

योग शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। योग का शाब्दिक अर्थ है– मिलन अर्थात् आत्मा का परमात्मा के साथ मिल जाना योग कहलाता है। योग शब्द का अर्थ संयुक्त अर्थात एकत्रित करना भी है और योग का अर्थ समाधि भी है। कभी–कभी योग शब्द का प्रयोग संयोजित करने के लिए भी किया गया है। भगवद् गीता में समत्व को योग कहा गया है, जिसे प्राप्त हुआ व्यक्ति दुःख–सुख, हानि–लाभ, जय–पराजय आदि सभी में समभाव रखता है। पतंजलि ने शरीर, इन्द्रिय तथा मन पर नियंत्रण स्थापित करके पूर्णता प्राप्त करने के लिये किये गये आध्यात्मिक प्रयास को योग बताया है। इस दर्शन में सांख्य द्वारा प्रतिपादित पच्चीस तत्वों के साथ–साथ ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। सांख्य के विवेक ज्ञान को भी यह मानता है। इसी कारण कभी–कभी योग को ईश्वर सांख्य भी कहा जाता है। योग दर्शन कैवल्य प्राप्ति के लिये व्यावहारिक मार्ग का निर्देश करता है। उपनिषद् में आत्मा के विषय में कहा गया है कि वह अपनी सांसारिक और पापमय अवस्था में सर्वोपरि आत्मा से विरक्त रहती है। दुःख तथा पाप से छुटकारा पाने के लिए हमें आध्यात्मिक एकत्व अर्थात् एक के अन्दर दो की भावना अर्थात् योग को प्राप्त करना चाहिए। योग दर्शन में वृत्तियों के निरोध को योग कहा है जो कि पुरुष और प्रकृति के मध्य वियोग है। यह मान्यता है कि हमें अतीन्द्रिय अहम् के स्वरूप को जानकर कैवल्य की प्राप्ति करना है। इसका अर्थ प्रयत्न, कठोर परिश्रम और सतत् साधना भी होता है। इस प्रकार इसका प्रयोग इन्द्रिय तथा मन के निग्रह के अर्थ में होने लगा।

टिप्पणी

6.3.3 चित्त तथा उसकी वृत्तियाँ

योगसूत्र में चित्त वृत्तियों के निरोध का नाम योग है। चित्त से अभिप्राय बुद्धि, अहंकार तथा मन से है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है, जिसमें सत्व की प्रधानता रहती है। चित्त स्वभाव से जड़ है, किन्तु पुरुष (आत्मा) के निकटतम होने के कारण चेतना ज्ञात होती है। जब चित्त का किसी विषय से संपर्क होता है, तो यह उसी का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इस स्वरूप परिवर्तन को ही वृत्ति कहा जाता है। पुरुष के चैतन्य के प्रकाश को, जो वृत्ति को प्रकाशित करता है, ज्ञान कहते हैं। पुरुष मूलतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तथा प्रकृति द्वारा बाधित नहीं है। किन्तु भ्रमवश वह अपना समीकरण चित्त में अपने प्रतिबिम्ब के साथ स्थापित कर लेता है तथा इसमें परिवर्तन का आभास होने लगता है। जैसे नदी की हिलती हुई तरंगों में प्रतिबिम्बित होने पर चंद्रमा हिलता हुआ दिखाई देता है तथा तरंगें प्रकाशयुक्त लगती हैं, उसी प्रकार चित्त के प्रतिबिम्ब से अपने को समीकृत करने पर पुरुष का स्वरूप परिवर्तनशील हो जाता है तथा चित्त के प्रतिबिम्ब के साथ उसका संबंध टूट जाता है, जिससे प्रतिबिम्ब समाप्त हो जाता है तथा चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है। चित्तवृत्ति के इसी निरोध का नाम योग है, जिसमें पुरुष अपने विशुद्ध चैतन्य रूप में आ जाता है।

पांच प्रकार की चित्त वृत्तियां मानी गई हैं– प्रमाण (सत्य ज्ञान), विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा और स्मृति। ये पांचों प्रकार की चित्त वृत्तियां सुख और दुःख की उत्पादक हैं। जिन चित्त वृत्तियों से क्लेश उत्पन्न होने के कारण बनते हैं वे क्लिष्ट कहलाती हैं। प्रमाण के तीन भेद हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। किसी वस्तु के संबंध में मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं, जैसे रस्सी में सर्प ज्ञान। विकल्प मात्र एक कल्पना है जैसे आकाश–कुसुम। निद्रा से अभिप्राय मन के विकार से है। स्मृति भूतकाल के अनुभवों की मानसिक प्रतीति है।

पुरुष का चित्त की वृत्तियों या विकारों के साथ भ्रमवश अपना तादात्म्य स्थापित कर लेना ही बंधन कहलाता है। इस अवस्था में पुरुष स्वयं को कर्त्ता, भोक्ता आदि समझने लगता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है, कि पुरुष का ही जन्म तथा मरण होता है, और वही विभिन्न दुःख झेलता है। क्लेश या दुःख पांच प्रकार के बताए गए हैं हैं– अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग (आसक्ति), द्वेष (ईर्ष्या) तथा अभिनिवेश (मृत्यु का भय)। मनुष्य को कर्म के फलों के अनुसार जन्म लेकर आयु व्यतीत करनी पड़ती है तथा भोग भोगना पड़ता है। इन सबसे बचने और मोक्ष प्राप्त करने का उपाय योग है। क्रमशः योग के अंगों का साधन करते हुए मनुष्य सिद्ध हो जाता है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। विवेकज्ञान के उदय होने पर पुरुष तथा प्रकृति के बीच विभेद स्थापित हो जाता है तथा अंत में चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। योग का उद्देश्य इसी अवस्था को प्राप्त करना है।

चित्त (मन) की पाँच अवस्थायें मानी गयी हैं– क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध। इनका अंतर विभिन्न गुणों के प्रभाव से होता है। क्षिप्त अवस्था में चित्त पर रजोगुण का प्रभाव रहता है, उसमें स्थिरता नहीं होती और वह एक से दूसरे विषय पर दौड़ता है। मूढ अवस्था तम प्रधान होती है। यह काम–क्रोध–लोभ तथा मोह के कारण होती है। इसमें मनुष्य की अवस्था अज्ञानमय होने के कारण समाधिस्थ नहीं हो पाती। इससे निद्रा, आलस्य, अंधकार आदि का उदय होता है। विक्षिप्तावस्था में

टिप्पणी

सतगुण प्रधान होता है, किन्तु कभी–कभी रज भी क्रियाशील हो जाता है, जिससे चित्त अधिक समय तक एक विषय पर टिका रहता है। इसमें पूर्णतया सत्व का प्रभाव होता है तथा रज एवं तम नियंत्रित हो जाते हैं। ये तीनों अवस्थाएं योग के अनुकूल नहीं हैं। एकाग्र एवं निरुद्ध योग के अनुकूल मानी गई हैं। एकाग्रावस्था का मनुष्य सत्व गुण प्रधान होता है। इस अवस्था में चित्त देर तक किसी विषय पर टिका होता है। इसमें रज और तम गुण आंशिक मात्रा में रहते हैं। निरुद्ध सर्वोच्च अवस्था है जिसमें चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है तथा वह स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है।

6.3.4 अष्टांग योग

अष्टांग योग अर्थात योग के आठ अंग। पतंजलि ने योग की समस्त विद्याओं को आठ अंगों में श्रेणीबद्ध कर दिया है। महात्मा बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग भी योग के उक्त आठ अंगों का ही हिस्सा है। हालांकि योग सूत्र के अष्टांग योग बुद्ध के बाद की रचना है। योग शरीर, मन तथा इन्द्रियों को नियंत्रण में रखने का उपदेश देता है। इन्द्रिय जनित राग एवं आसक्ति मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में बाधक हैं। इन पर विजय प्राप्त करने के लिए यहाँ आठ साधन बताये गये हैं जिन्हें अष्टांग योग कहा जाता है। ये निम्नलिखित हैं–

यम– इससे अभिप्राय निवृत्ति से है। इसके पाँच अंग हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (असंचय)। जैन दर्शन के ये पाँच महाव्रत हैं। इनका पालन न करने से व्यक्ति का जीवन और समाज दोनों ही दुष्प्रभावित होते हैं।

नियम– इससे तात्पर्य सदाचार के पालन से है। इनका विधान मनुष्य को कर्तव्य परायण बनाने तथा जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए किया गया है। इनके अंतर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर ध्यान का समावेश है। शौच में बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार की शुद्धि समाविष्ट है।

आसन– यह शरीर की क्रिया है, जिसमें उसे एक निश्चित स्थिति में रखा जाता है। पतंजलि ने स्थिर तथा सुखपूर्वक बैठने की क्रिया को आसन कहा है। यह शारीरिक अनुशासन है। इसके कई प्रकार हैं– पद्मासन, शीर्षासन, वीरासन आदि।

प्राणायाम– योग की यथेष्ट भूमिका के लिए नाड़ी साधन और उनके जागरण के लिए किया जाने वाला श्वास और प्रश्वास का नियमन प्राणायाम कहलाता है। यह श्वास नियंत्रण है, जिसमें श्वास भीतर खींचकर कुछ देर तक रोका जाता है तथा फिर नियमित विधि से बाहर फेंका जाता है। यह शरीर तथा मस्तिष्क के लिये स्वास्थ्यकर है। इसका अभ्यास किसी योग्य गुरु के निर्देशन में होना चाहिये। मन की चंचलता और विक्षुब्धता पर विजय प्राप्त करने के लिए प्राणायाम अत्यंत सहायक है।

प्रत्याहार– इन्द्रियों पर नियंत्रण कर उन्हें अपने वश में रखना ही प्रत्याहार है। इंद्रियाँ मनुष्य को बाह्याभिमुख किया करती हैं। प्रत्याहार के इस अभ्यास से साधक योग के लिए परम आवश्यक अन्तर्मुखिता की स्थिति प्राप्त करता है। इसमें इन्द्रियों का विषयों से लगाव स्पष्ट हो जाता है तथा वे मन की ओर लग जाती हैं। यह बहुत कठिन अवस्था है।

टिप्पणी

धारणा– चित्त को एक स्थान विशेष पर केंद्रित करने को धारणा कहते हैं, जैसे नासिका के अग्रभाग, किसी देवता, सूर्य आदि पर। इसमें मन की उपमा वातरहित स्थान में जलते हुए दीपक की लौ से दी गयी है।

ध्यान– यह धारणा के बाद की अवस्था है, जिससे ध्येय विषय का निरंतर चिन्तन–मनन किया जाता है। इसमें इष्ट विषय को लेकर विचारों का निरंतर प्रवाह प्रवाहित होता रहता है, जिससे उस विषय का वास्तविक ज्ञान मिल जाता है। पूर्ण ध्यान की स्थिति में किसी अन्य वस्तु का ज्ञान अथवा उसकी स्मृति चित्त में प्रविष्ट नहीं होती।

समाधि– इससे अभिप्राय है मन की एकाग्रता। यह योगाभ्यास की अंतिम अवस्था है, जिसमें मन ध्येय विषय में पूरी तरह लीन होकर अपना अस्तित्व मिटा देता है। ध्यान में ध्येय विषय मन से अलग रहता है, किन्तु समाधि में दोनों एकाकार हो जाते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति का बाह्य जगत से संबंध टूट जाता है तथा सभी मानसिक विकारों का निरोध हो जाता है। यही मानव जीवन का परम ध्येय है। योग दर्शन समाधि के द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति को संभव मानता है।

अष्टांग मार्ग में प्रथम पाँच– यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार बाह्य साधन हैं तथा तीन– धारणा, ध्यान एवं समाधि, अंतरंग साधन हैं। प्रथम में बुद्धि की क्रियाशीलता किसी न किसी रूप में बनी रहती है, किन्तु द्वितीय में यह बंद हो जाती है। प्रथम को एकाग्र तथा द्वितीय को निरुद्ध कहा जाता है। समाधि दो प्रकार की होती है–

संप्रज्ञात– इसमें बुद्धि की क्रियाशीलता किसी न किसी रूप में विद्यमान होती है। इसको एकाग्र कहा गया है। अतः चित्त की एकाग्रावस्था को सम्प्रज्ञात योग माना जाता है। एकाग्रावस्था में रजो गुण और तमो गुण युक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है जिससे चित्त निर्मल हो जाता है।

असंप्रज्ञात– सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध हो जाने पर जिस विवेक ख्याति का उदय होता है वह असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। सम्प्रज्ञात समाधि में साधक, साध्य और साधन का ज्ञान बना रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि में सब वृत्तियां लीन हो जाती हैं, संस्कार मात्र शेष रहता है। परमवैराग्य के द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह कैवल्य की स्थिति है। निरुद्ध का चरण है। बुद्धि की क्रियाशीलता बंद हो जाती है। सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा जो समापत्ति अर्थात् सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि के परिणाम कहे जाते हैं।

6.3.5 ईश्वर

योग दर्शन में यह स्पष्ट किया गया है कि परमसत्ता ईश्वर की ही है। ईश्वर के साक्षात्कार से ही कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। योग दर्शन के प्रणेता पतंजलि ने ईश्वर को एक ऐसा विशिष्ट पुरुष बताया है, जो क्लेश, कर्म, परिणाम, आशय (संस्कार) आदि से अप्रभावित रहता है। वह नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वह सर्वविध परिपूर्ण है। ईश्वर का प्रतीक "ओऽम्" है और इसी का जप, ध्यान आदि करना चाहिए। ईश्वर–भक्ति समाधि प्राप्त करने का एक सुनिश्चित साधन है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित प्रमाण दिये गये हैं–

टिप्पणी

(1) वेद ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

(2) सभी सांसारिक वस्तुओं की अल्पतम तथा अधिकतम सीमा होती है। अतः ज्ञान और शक्ति की भी एक सीमा होनी चाहिये। इनकी सर्वोच्च सीमा अर्थात् सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर ही है।

(3) पुरुष और प्रकृति के मध्य संयोग एवं विच्छेद स्थापित करने वाला ईश्वर ही होता है। ईश्वर के सहयोग के बिना जड़ प्रकृति तथा चेतन पुरुष में संयोग तथा वियोग संभव नहीं है।

(4) योग दर्शन में ईश्वर को कर्त्ता, धर्ता एवं संहर्ता नहीं माना गया है। वह केवल पुरुष विशेष है। वह मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता, बल्कि उसका कार्य केवल साधक के मार्ग से सभी बाधाओं को दूर करना है। पुरुष के बंधन अथवा मोक्ष से उसका कोई सीधा संबंध नहीं है। मानव जीवन का उद्देश्य ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना नहीं, बल्कि पुरुष का प्रकृति से संबंध–विच्छेद करना है। योग का ईश्वर विषयक विचार संतोषप्रद नहीं है। पतंजलि का योग दर्शन आध्यात्मिक अनुशासन की एक महान पद्धति है, जिसे चार्वाक के अलावा सभी भारतीय दर्शनों में स्थान दिया गया है। यह हमें आत्मशुद्धि तथा आत्म–नियंत्रण के व्यावहारिक मार्ग का ज्ञान कराता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. राजमार्तण्डवृत्ति ग्रंथ की रचना किसने की?

(क) आचार्य भोजराज (ख) आचार्य विज्ञानभिक्षु

(ग) आचार्य वाचस्पति मिश्र (घ) आचार्य पतंजलि

4. निम्न में से चित्त (मन) की कौन सी अवस्थाएं मानी जाती हैं?

(क) क्षिप्त (ख) मूढ़

(ग) विक्षिप्त एवं एकाग्र (घ) उपरोक्त सभी

6.4 न्याय दर्शन

न्याय दर्शन का इतिहास बहुत पुराना है। न्याय दर्शन को प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठा के साथ देखा जाता है।

महर्षि गौतम का जीवन परिचय

महर्षि गौतम सप्तर्षियों में से एक हैं। वे वैदिक काल के एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। ऋग्वेद में उनके नाम से अनेक सूक्त हैं। पौराणिक कथाओं के अनुसार उनकी पत्नी अहिल्या थीं। अहिल्या ब्रह्मा की मानस पुत्री थी जो विश्व मे सुंदरता में अद्वितीय थी। हनुमान जी की माता अंजनी गौतम ऋषि और अहिल्या की पुत्री थी। दैत्य गुरु शुक्राचार्य ने देवताओं द्वारा तिरस्कृत होने के बाद अपनी दीक्षा गौतम ऋषि से पूर्ण की थी। ऋषियों के ईर्ष्या वश गोहत्या का झूठा आरोप लगाने के बाद बारह ज्योतिर्लिंगों में महत्वपूर्ण त्रयम्बकेश्वर महादेव नासिक भी गौतम ऋषि की कठोर तपस्या का फल है जहाँ गंगा माता गौतमी अथवा गोदावरी नाम से प्रकट हुईं।

टिप्पणी

राजस्थान के प्रतापगढ़ जिले में स्थित गौतमेश्वर महादेव तीर्थ में स्थित मंदाकिनी गंगा कुंड के बारे में भी मान्यता है कि इसी कुंड में स्नान करने के पश्चात महर्षि गौतम को गौ हत्या के दोष से मुक्ति मिली थी। इसके पश्चात महर्षि गौतम ने यहाँ महादेव की आराधना करके एक स्वयंभू शिवलिंग प्रकट किया था जो आज भी उन्हीं के नाम पर गौतमेश्वर महादेव के नाम से प्रसिद्ध है।

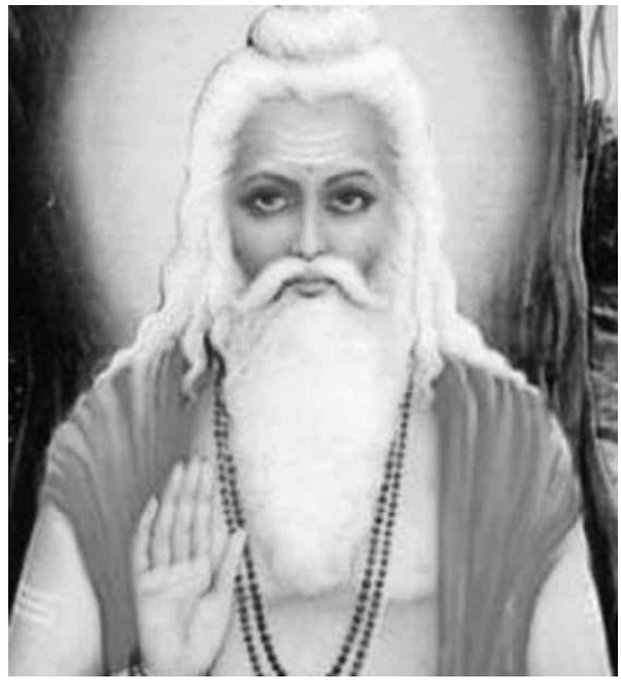

महर्षि गौतम

अक्षपाद अर्थात महर्षि गौतम को न्यायसूत्र के रचयिता माना जाता है। प्रख्यात न्यायसूत्रों के निर्माता का नाम पद्मपुराण, स्कंदपुराण तथा विश्वनाथ की न्यायवृत्ति में महर्षि गौतम ठहराया गया है। इसके विपरीत न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका तथा न्यायमंजरी आदि प्रसिद्ध न्यायशास्त्रीय ग्रंथों में अक्षपाद इन सूत्रों के लेखक माने गए हैं। महाकवि भास के अनुसार न्यायशास्त्र के रचयिता का नाम मेधातिथि है (प्रतिमानाटक, पंचम अंक)। इन विभिन्न मतों की एक वाक्यता सिद्ध की जा सकती है। महाभारत (शांति पर्व, अ. 265) के अनुसार गौतम मेधातिथि दो विभिन्न व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति हैं (मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः)।

नैयायिक आचार्य गौतम के बारे में अनेक विद्वानों ने लिखा है। महामहोपाध्याय पं. हरिप्रसाद शास्त्री का कहना है कि चीनी भाषा में निबद्ध प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अनुवाद के आधार पर महर्षि गौतम, महात्मा बुद्ध के पहले हुए थे किंतु उनके नाम पर प्रचलित न्यायसूत्र ईसा की दूसरी शताब्दी की रचना है। सतीशचंद्र विद्याभूषण का मत है कि गौतम धर्मसूत्र तथा न्यायसूत्र के कर्ता एक ही गौतम रहे होंगे। ये बुद्ध के समकालीन रहे होंगे तथा इनका समय छठी शताब्दी ईसा पूर्व हो सकता है। प्रो. याकोबी के अनुसार न्यायसूत्र शून्यवाद के नागार्जुन (200 ई.) द्वारा प्रतिष्ठापित हो जाने के बाद और विज्ञानवाद (500 ई.) के विकास के पहले लिखा गया होगा क्योंकि इसमें शून्यवाद का तो खंडन मिलता है पर विज्ञानवाद का खंडन नहीं मिलता। शबरस्वामी ने मीमांसासूत्र भाष्य में उपवर्ष से उद्धरण दिया है जिससे ऐसा लगता है

टिप्पणी

कि उपवर्ष न्याय से परिचित थे। यदि यह उपवर्ष महापद्म नंद के मंत्री ही हैं तो गौतम को 400 ई.पू. का मानना ही पड़ेगा। प्रो. सुआली के अनुसार ये सूत्र 300–350 ई. के काल के हैं। रिचर्ड गार्वे के अनुसार आस्तिक दर्शनों में न्याय सबसे बाद का है क्योंकि ईस्वी सन् के आरंभ के पहले इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः ये सूत्र 100–300 ई. के बीच लिखे गए होंगे। इन मतों में कौन–सा मत सही है यह कहना असंभव है।

न्यायसूत्रों की रचना तथा महर्षि गौतम का काल इन दो प्रश्नों पर अलग–अलग विचार किया जाना चाहिए। जहाँ तक न्यायसूत्रों का प्रश्न है, निश्चय ही ये सूत्र बौद्धदर्शन का विकास हो जाने पर लिखे गए हैं। इस न्यायसूत्र में समय–समय पर संशोधन तथा परिवर्धन होते रहे हैं। परतु गौतम का नाम इन सूत्रों से इसलिये संबंधित नहीं है क्योंकि ये सभी सूत्र अपने वर्तमान रूप में गौतम द्वारा ही विरचित हैं। गौतम को हम सिर्फ न्यायशास्त्र का प्रवर्तक कह सकते हैं, सूत्रों का रचयिता नहीं। हो सकता है, गौतम ने कुछ सूत्र लिखे हों, परंतु वे सूत्र अन्य सूत्रों में इतने घुलमिल गए हैं कि उनको अलग करना हमारे लिये असंभव है।

गौतम को अक्षपाद भी कहते हैं। विद्याभूषण गौतम को अक्षपाद से पृथक् मानते हैं। न्यायसूत्र के भाष्यकार तथा अन्य व्याख्याताओं ने अक्षपाद और गौतम को एक माना है। 'अक्षपाद' शब्द का अर्थ होता है 'जिसके पैरों में आँखें हों'।

न्यायसूत्र में पाँच अध्याय हैं और ये ही न्याय दर्शन या आन्वीक्षिकी के मूल आधार हैं। इनकी समीक्षा से पता चलता है कि न्यायदर्शन आरंभ में अध्यात्म प्रधान था अर्थात् आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। यह तर्क तथा युक्ति का सहारा अवश्य लेता था, परंतु आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिचय इन साधनों के द्वारा कराना ही इसका मुख्य तात्पर्य था। उस युग का सिद्धांत था कि जो प्रक्रिया आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करा सकती है वही उचित तथा मान्य है। उससे वितरीप मान्य नहीं होती।

परंतु आगे चलकर न्याय दर्शन में उस तर्क प्रणाली की विशेषतः उद्भावना की गई जिसके द्वारा अनात्मा से आत्मा का पृथक् रूप भली–भाँति समझा जा सकता है और जिसमें निर्णय; वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति आदि साधनों का प्रयोग होता है। इन तर्कप्रधान न्यायसूत्रों के रचयिता अक्षपाद प्रतीत होते हैं। वर्तमान न्यायसूत्रों में दोनों युगों के चिंतनों की उपलब्धि का स्पष्ट निर्देश है। न्यायदर्शन के मूल रचयिता गौतम मेधातिथि हैं और उसके प्रति संस्कृत–नवीन विषयों का समावेश कर मूल ग्रंथ के संशोधक अक्षपाद हैं।

इस संप्रदाय का मूल ग्रंथ न्यायसूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में विभाजित है। सूत्रों की संख्या ५३० है। पहले अध्याय में सामान्यतः उन १६ विषयों का वर्णन किया गया है जिनका विस्तृत प्रतिपादन बाद के चार अध्यायों में हुआ है। दूसरे अध्याय में संशय तथा प्रमाणों का विवेचन है। तीसरे अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं आत्मा, शरीर, इंद्रिय, इंद्रियों के विषय, ज्ञान तथा मन। चौथा अध्याय इच्छा, दुःख, क्लेश और मोक्ष के स्वरूप का विवेचन करते हुए भ्रम के स्वरूप तथा अवयव एवं अवयवी के संबंध पर भी प्रकाश डालता है। पाँचवें अध्याय

टिप्पणी

में जाति (असत् तर्क) और निग्रहस्थान (प्रतिवादी के तर्क को निगृहीत करना) का विवेचन किया गया है।

6.4.1 न्याय दर्शन का अर्थ

अनेक विद्वानों के अनुसार न्याय दर्शन का जन्म अनेक विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ के फलस्वरूप हुआ। प्राचीन काल में उपनिषदों के श्रुति वचनों के अर्थों को लेकर शास्त्रार्थ हुआ करते थे। मनु ने इसका समावेश श्रुति के अंतर्गत किया है। याज्ञवल्क्य ने भी इसे वेद के चार अंगों में से एक माना है। न्याय विद्या के लिए भी प्राचीन काल से न्याय शब्द का प्रयोग होता रहा है। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार न्याय विद्या विशेष रूप में अनुमान का विवेचन करती है। न्याय का शाब्दिक अर्थ तर्क या निर्णय है। इसका प्रवर्तन अक्षपाद गौतम के द्वारा किया गया। यह दर्शन मुख्यतः बौद्धिक, विश्लेषणात्मक तथा तार्किक है। गौतम कृत न्याय सूत्र इस दर्शन का मुख्य स्रोत है। न्याय या विश्लेषण की शाखा, तर्क की एक प्रणाली, तर्कशास्त्र के रूप में विकसित हुई। इसके अनुसार, ज्ञान प्राप्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि तर्क या कथन की सच्चाई का परीक्षण अनुमान, श्रवण (शब्द), और सादृश्यानुमान या उपमान से किया जा सकता है। इस दर्शन में तर्क के उपयोग पर बल दिया गया।

6.4.2 न्याय दर्शन का साहित्य

प्राचीन न्याय (प्रमेय प्रधान) के मुख्य प्रर्वतक

(1) **गौतम** : भारत में तर्क विद्या प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। उपनिषदों, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में भी इसका उल्लेख मिलता है, किन्तु न्याय दर्शन को व्यवस्थित रूप देने तथा एक दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय महर्षि गौतम को जाता है जिनका न्यायसूत्र इस दर्शन का मूल ग्रन्थ माना जाता है। इसमें 5 अध्याय, 10 आह्निक, 84 प्रकरण तथा 528 सूत्र हैं।

(2) **वात्स्यायन** : न्यायसूत्र पर सर्वप्रथम भाष्य वात्स्यायन ने लगभग चौथी शताब्दी में लिखा जो वात्स्यायन भाष्य या 'न्यायभाष्य' के नाम से विख्यात है।

मध्य न्याय (प्रमेय प्रधान) के मुख्य प्रर्वतक

(1) **उद्योतकार** : इन्होंने वात्स्यायन भाष्य पर 'न्यायवार्तिक' नाम की टीका लिखी। इनका काल लगभग 650 ई. कश्मीर में माना जाता है।

(2) **वाचस्पतिमिश्र** : ये मिथिला के निवासी थे तथा इन्हें 'षड्दर्शनीवल्लभ' की उपाधि से जाना जाता है। इन्होंने न्यायवार्तिक पर तात्पर्यटीका लिखी जो 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के नाम से प्रसिद्ध है। इनका समय 841 ई. में माना जाता है।

(3) **जयन्तभट्ट** : इन्होंने न्यायशास्त्र पर एक विशाल ग्रन्थ लिखा जो 'न्यायमञ्जरी' के नाम से विख्यात है। इसमें आह्निकों की संख्या 84 है।

(4) **उदयन** : इनका समय 984 ई. माना जाता है। इन्होंने तात्पर्यटीका पर एक उपटीका लिखी, जो 'न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि' नाम से प्रसिद्ध है। इसके

अतिरिक्त उन्होंने 'न्यायकुसुमांजलि' एवं 'आत्मतत्वविवेक' नामक प्रसिद्ध न्यायग्रंथों की रचना की।

टिप्पणी

नव्य–न्याय (प्रमाण प्रधान) के मुख्य प्रर्वतक

(1) गंगेश उपाध्याय : नव्य–न्याय के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध गंगेश उपाध्याय ने 'तत्वचिन्तामणि' नाम से ग्रन्थ लिखा, जो 4 खण्डों में विभाजित है। इसमें इन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द की विशद् व्याख्या की है। तत्वचिन्तामणि की व्याख्या परम्परा में वर्धमान ने 'प्रकाश' पक्षधर मिश्र ने 'आलोक', शंकरमिश्र ने 'मयूख', रघुनाथ शिरोमणि ने 'दीधिति' मथुरानाथतर्कवागीश ने 'रहस्य' जगदीश तर्कालंकार ने 'दीधितिप्रकाश (जागदीशी)' हरिराम तर्कवागीश ने 'तत्वचिन्तामणिविचार' तथा गदाधर भट्टाचार्य ने 'दीधितिप्रकाशिका' नाम से विस्तृत एवं प्रौढ़ टीकाग्रन्थों की रचना की है।

प्रकरण ग्रन्थ

(1) **भासर्वज्ञ** : दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में आचार्य भासर्वज्ञ ने 'न्यायसार' नामक प्रमाणाधारित प्रकरण ग्रन्थ की रचना की जो कि अपनी मौलिक एवं नवीन उद्भावनाओं के लिए विख्यात है।

(2) **वरदराज** : इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ का नाम 'तार्किकरक्षा' है, तथा इनका समय 1150 ई. का है। यह वैशेषिकपदार्थसमावेष्टा न्याय का प्रकरण ग्रन्थ है।

(3) **केशव मिश्र** : मिथिला के इस प्रसिद्ध नैयायिक ने तेरहवीं शताब्दी में 'तर्कभाषा' की रचना की जिसे न्यायदर्शन में प्रवेश का द्वार माना जाता है।

6.4.3 न्याय दर्शन के तत्वों का विचार

(1) **तत्वविचार**–'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्प–वितण्डाहेत्वाभासच्छल जातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानानिः श्रेयसाधिगमः' के अनुसार प्रमाणादि षोडश पदार्थो के तत्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(2) **प्रमाण विचार**– न्याय दर्शन को प्रमाण प्रधान दर्शन माना जाता है। किसी विषय के यथार्थ को जानने का साधन प्रमाण है। न्याय दर्शन में 16 पदार्थों या तत्वों को तत्वज्ञान मोक्ष की प्राप्ति का साधन माना जाता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन तत्व विचार करने से पहले तत्व को जानने के साधन पर विचार करते हैं। ये साधन ही प्रमाण कहे जाते हैं। प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की प्राप्ति के साधन को प्रमाण कहते हैं– "प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' तथा 'प्रमाकरणं–प्रमाणम्'। प्रमाण के चार प्रकार हैं–

(क) **प्रत्यक्ष प्रमाण**– महर्षि गौतम ने न्यायसूत्र में कहा है–

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्।
अव्यपदेशमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।। (न्यायसूत्र)

इसका अभिप्राय इन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के सन्निकर्ष (समीपता) से उत्पन्न ऐसा ज्ञान, जो भाषा पर आधारित न हो, जो भ्रामक न हो तथा जो अनिश्चित न हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं– लौकिक प्रत्यक्ष तथा अलौकिक प्रत्यक्ष।

टिप्पणी

(ख) **अनुमान प्रमाण**– अनुमान प्रमाण का लक्षण करते हुए न्याय दर्शन में कहा गया है कि जो प्रत्यक्ष अर्थात् व्याप्ति का स्मरण तथा व्याप्ति विशिष्ट हेतु के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं। जो पूर्ववत् (कारण से कार्य का अनुमान), शेषवत् कार्य से कारण का अनुमान, तथा इन दोनों से भिन्न सामान्यतोदृष्ट सामान्य रूप हेतु के देखने से होने वाला। इस प्रकार तीन प्रकार का अनुमान प्रमाण होता है। अनुमान दो शब्दों के मेल से बना है– अनु तथा मान। अनु का अर्थ पश्चात तथा मान का अर्थ है ज्ञान, इसका तात्पर्य हुआ–पूर्वज्ञान के पश्चात होने वाला ज्ञान अनुमान है। न्यायदर्शन में साधारणतया अनुमिति के करण को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। अनुमान प्रमाण के दो भेद किये गये है– स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। स्वार्थानुमान का प्रयोग व्यक्ति स्वयं के लिए करता है। जब किसी अन्य व्यक्ति को समझाने के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग किया जाता है तब उसे परार्थानुमान कहते हैं। यथा– पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वहाँ धुआँ है (हेतु), जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ अग्नि है, जैसे रसोईघर में (उदाहरण,) पर्वत में धुआँ है (उपनय), इसलिए पर्वत में अग्नि है (निगमन)। इस प्रकार से पाँच वाक्यों द्वारा अनुमान की प्रक्रिया संपन्न होती है।

(ग) **उपमान प्रमाण**– सादृश्यता के आधार पर प्राप्त ज्ञान ही उपमान कहलाता है। न्याय सूत्र के अनुसार–'प्रसिद्धसाधनाम् साध्यसाधनमुपमानम्' अर्थात् प्रसिद्ध पदार्थो के समान धर्म से साध्य के साधन को उपमान कहा जाता है। उपमान का लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रमाण से गौ आदि पदार्थ के सादृश्य से किसी अज्ञात गव्यादि पदार्थ के गव्यपद तथा गवयरूप पदार्थ के वाच्य वाचक भाव रूप सम्बन्ध का ज्ञान होता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं।

(घ) **शब्द प्रमाण**– न्याय दर्शन के चतुर्थ प्रमाण के रूप में शब्द प्रमाण को स्वीकार किया जाता है। सूत्रकार ने लक्षण करते हुए कहा है कि सत्य वक्ता अर्थात आप्तपुरूष के द्वारा किये गए उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं। गौतम के अनुसार 'आप्तोपदेश शब्द' कहा गया है अर्थात् आप्त का उपदेश (कथन) ही शब्द प्रमाण है। इनके अनुसार शब्द तभी प्रमाण बनते हैं जब वे यथार्थ, वास्तविक एवं विश्वास के योग्य हों। ऐसे वचनों को व्यक्त करने वाला आप्त कहा गया है।

प्रमेय विचार : प्रमाण के माध्यम से हम जिन पदार्थो के ज्ञान की प्राप्ति करते हैं, उन्हें प्रमेय कहा जाता है। इनकी संख्या 12 है––आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुख एवं अपवर्ग। इन बारह प्रकार के प्रमेयों का तत्वज्ञान कर लेने पर अपवर्ग अर्थात मुक्ति की प्राप्ति होती है। इन प्रमेयों में आत्मा प्रथम है। तर्कभाषा में आत्मा का लक्षण "आत्मत्वसामान्यवानात्मा" दिया गया है, जिसका अर्थ है आत्मत्व नामक सामान्य (जाति) जिस पर रहता है उसे आत्मा कहा गया है। इसके अलावा आत्मा को शरीर से भिन्न, अनेक एवं विभु कहा गया है। शरीर आत्मा को भोगने का साधन है। शरीरसंयुक्त अतीन्द्रिय ज्ञानकरण को 'इन्द्रिय' कहते हैं। इन्द्रियों से भोग

टिप्पणी

करने के जो विषय हैं वे 'अर्थ' कहलाते हैं, जिनकी संख्या 6 है – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। 'अर्थप्रकाशो बुद्धिः' अर्थविषयक प्रकाश को 'बुद्धि' कहते हैं। सुख–दुःखादि की उपलब्धि का साधनभूत अन्तरिन्द्रिय 'मन' कहलाता है। शास्त्रविहित एवं शास्त्रनिषिद्ध कर्मों के आचरण से उत्पन्न होने वाले अदृष्ट (धर्म–अधर्म) को प्रवृत्ति कहते हैं। राग, द्वेष एवं मोह संयुक्त रूप से 'दोष' कहलाते हैं। पुनरुत्पत्ति (मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म का होना) को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं। सुख–दुःख के अनुभवरूप भोग को 'फल' कहा जाता है। पीड़ा (जो सभी को प्रतिकूलवेदनीय हो) को दुःख' कहते हैं। 21 प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति 'अपवर्ग' कहलाती है।

अन्य पदार्थ विचार : एक धर्मी में परस्पर विरोधी अनेक धर्मो का बोध 'संशय' कहलाता है। जिस अर्थ को अधिकृत करके मनुष्य किसी कर्म में प्रवृत्त होता है उसे 'प्रयोजन' कहते हैं। जिस विषय में वादी–प्रतिवादी दोनों एकमत हों, उसे 'दृष्टान्त' कहते हैं । किसी दर्शन द्वारा प्रामाणिक रूप से स्वीकृत अर्थ को 'सिद्धान्त' कहते हैं। अनुमान वाक्य के अंश (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन) 'अवयव' कहलाते हैं। व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप 'तर्क' कहलाता है। निश्चयात्मक ज्ञान को 'निर्णय' कहते हैं। तत्वज्ञान की जिज्ञासा से उत्पन्न होने वाली भावना को 'वाद' कहा जाता है। प्रतिपक्षी को पराजित करने की भावना से जो वाद–विवाद किया जाता है उसे 'जल्प' कहते हैं। जब जल्प विरुद्ध पक्ष की स्थापना से रहित हो, तब वह 'वितण्डा' कहलाती है। जो हेतु, हेतु जैसा प्रतीत हो, परन्तु वास्तव में हेतु न हो, उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं। वादी के वाक्यों का विरोध करना, वादी के अभिमत अर्थात् अर्थ को विकल्प रूप में (विपरितार्थ) में कल्पना करना 'छल' कहलाता है। केवल समान तथा विरुद्ध धर्मों से प्रव्याख्यान करना, जो कि असत् उत्तर देता है, उसे 'जाति' कहते हैं। जिन विरुद्ध ज्ञान तथा अज्ञानादि रूप निग्रह स्थानों से वादी की पराजय होती है उन्हें 'निग्रहस्थान' कहते हैं।

मोक्ष : न्याय दर्शन में मोक्ष को 'अपवर्ग' तथा 'निःश्रेयस' भी कहा गया है। प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन दृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितंडाहेत्वाभासच्छल–जातिनिग्रहस्थानानाम् तत्वज्ञानानिःश्रेयसाधिगमः। (न्यायसूत्र, 1.1.1)

6.4.4 ईश्वर या परमात्मा

न्याय दर्शन में आत्मा के दो भेद बताते गये हैं– जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा अल्पज्ञ, अनित्य एवं बन्धनग्रस्त है, जबकि परमात्मा सर्वज्ञ, नित्य एवं स्वतन्त्र है। इसे ही ईश्वर कहा गया है। ईश्वर की सत्ता सिद्धि हेतु उदयनाचार्य ने 'कुसुमाञ्जलि' में इन हेतुओं से की है–

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।"

(1) **कार्यात्** : जिस प्रकार घटोत्पत्ति का उत्पादक (कर्ता) कुलाल है, उसी प्रकार जगत् के सभी पदार्थों का कर्ता भी ईश्वर ही है।

टिप्पणी

(2) **आयोजनात्** : ईश्वर की सिद्धि हेतु अगली युक्ति कर्म या आयोजन है। इसका अभिप्राय सृष्टि के आदि में परमाणुद्वय के संयोगजनक कर्म से है। जड़ परमाणुओं के संयोग से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। अतः जड़ परमाणुओं का आयोजन भी स्वयं नही हो सकता है। वह चेतन ईश्वर से ही सम्भव है।

(3) **धृत्यादे** : ईश्वर की सिद्धि में तृतीय हेतु धृति अर्थात् धारण है। धृति का अर्थ गुरुत्वयुक्त पदार्थों के पतन का अभाव है अर्थात् यह ब्रह्माण्ड भारी होने पर भी गिरता नहीं, आकाश में पक्षी द्वारा धारण की हुई लकड़ी के समान, अतः इसको धारण करने वाला कोई होना चाहिए, वही परमात्मा या ईश्वर है।

(4) **पदात्** : जिस प्रकार भवनादि का निर्माण किसी कुशल निर्माता के द्वारा ही सम्भव है, उसी प्रकार सृष्टि जैसे गूढ़ कार्य निर्माण भी किसी विशेष चेतनायुक्त ईश्वररूपी कर्ता के द्वारा ही सम्भव हैं।

(5) **प्रत्ययत** : प्रत्यय का अर्थ है प्रामाण्य। श्रुति ही परमप्रमाण है तथा इसका निर्माता ईश्वर ही है। अतः श्रुति का ज्ञान भी ईश्वर का ही परिचायक है।

(6) **श्रुते** : श्रुति अथवा वेद किसी सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत हैं, क्योंकि उनमें वेदत्व है। इनका वेदत्व (अथवा किसी द्वारा रचित होना–पौरुषयत्व) महाजनाभिमत है। अतः वेद के प्रणेता के रूप में भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

(7) **वाक्य** : वेद वाक्यों का समूह है। पुराणों के कर्ता के समान वेदों का भी कर्ता अवश्य ही होगा, जो कि निश्चय ही ईश्वर है।

(8) **संख्या विशेष** : परमाणुओं में द्वित्व संख्या किसी चेतन पुरुष की अपेक्षा बुद्धि द्वारा ही सम्भव है। अतः द्रव्याणुकों में संख्या की उत्पत्ति भी ईश्वर की ही परिचायक है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. न्याय दर्शन का मूल ग्रंथ किसको माना जाता है?

(क) योगसूत्र (ख) न्यायसूत्र

(ग) योगवार्तिक (घ) धर्मसूत्र

6. 'न्यायमंजरी' नामक ग्रंथ की रचना किसने की?

(क) उदयन (ख) उद्योतकर

(ग) जयंत भट्ट (घ) वाचस्पति मिश्र

6.5 वैशेषिक दर्शन

मूल पदार्थ–परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का वर्णन तो ब्रह्मसूत्र में मिलता है। ये तीन पदार्थ ब्रह्म कहलाते हैं। प्रकृति के परिणाम अर्थात् रूपान्तर दो प्रकार के हैं। महत्, अहंकार, तन्मात्रा तो अव्यक्त हैं, इनका वर्णन सांख्य दर्शन में है। परिमण्डल पंच महाभूत तथा महाभूतों से बने चराचर जगत् के सब पदार्थ व्यक्त पदार्थ कहलाते हैं। इनका वर्णन वैशेषिक दर्शन में है। वैशेषिक शाखा भौतिक तत्वों या द्रव्य की चर्चा को महत्व देता है। ये विशेष और सामान्य के बीच एक रेखा खींचते हैं।

टिप्पणी

आचार्य कणाद का जीवन परिचय

महान परमाणुशास्त्री आचार्य कणाद छठी सदी ईसा पूर्व गुजरात के प्रभावी क्षेत्र द्वारका के निकट में जन्मे थे। इन्होंने वैशेषिक दर्शनशास्त्र की रचना की। दर्शनशास्त्र वह ज्ञान है जो परम सत्य और प्रकृति के सिद्धांतों तथा उनके कारणों की विवेचना करता है। माना जाता है कि परमाणु तत्व का सूक्ष्म विचार सर्वप्रथम इन्होंने किया था इसलिए इन्हीं के नाम पर परमाणु का एक नाम कण पड़ा। महर्षि कणाद का कहना था कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिक, काल, मन और आत्मा इन सभी तत्वों को जानना चाहिए। इस परिधि में जड़–चेतन संपूर्ण प्रकृति व जीव आ जाते हैं।

महर्षि कणाद ने न केवल परमाणुओं को तत्वों की ऐसी लघुतम अविभाज्य इकाई माना जिनमें इस तत्व के समस्त गुण उपस्थित होते हैं अपितु उसको 'परमाणु' नाम भी उन्होंने ही दिया तथा यह भी कहा कि परमाणु कभी स्वतंत्र नहीं रह सकते।

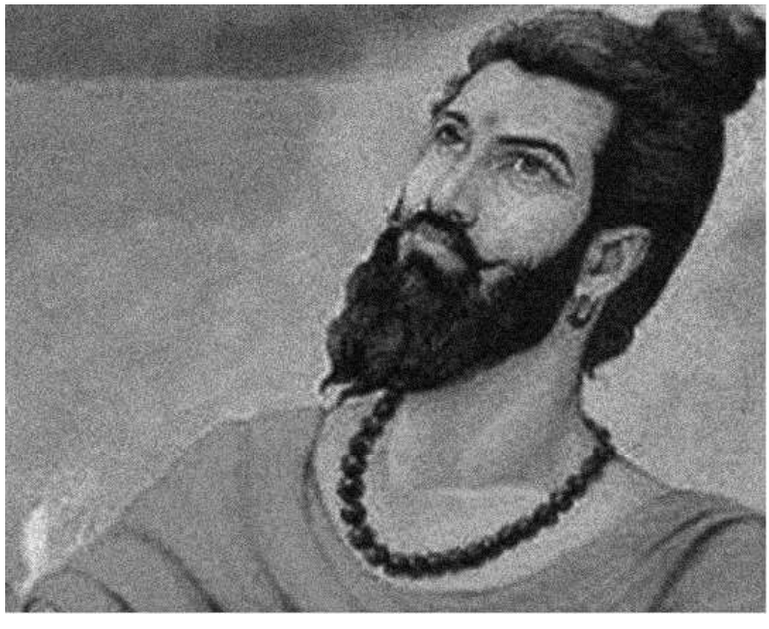

कणाद मुनि

महर्षि कणाद ने यह भी कहा कि एक प्रकार के दो परमाणु संयुक्त होकर 'द्विणुक' का निर्माण कर सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि अलग–अलग पदार्थों के परमाणु भी आपस में संयुक्त हो सकते हैं। वैशेषिक सूत्र में परमाणुओं को सतत गतिशील भी माना गया है तथा द्रव्य के संरक्षण की बात भी कही गई है।

परमाणु विज्ञान की दृष्टि से ब्रह्माण्ड का विश्लेषण सर्वप्रथम एक शास्त्र के रूप में सूत्रबद्ध ढंग से महर्षि कणाद ने आज से हजारों वर्ष पूर्व अपने वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित किया था। कुछ विषयों में महर्षि कणाद का प्रतिपादन आज के पश्चिमी विज्ञान से भी आगे जाता है। महर्षि कणाद कहते हैं कि द्रव्य को छोटा करते जाएंगे तो एक स्थिति ऐसी आएगी जहां से उसे और छोटा नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि उससे अधिक छोटा करने का प्रयत्न किया तो उसके पुराने गुणों का लोप हो जाएगा। दूसरी बात वे कहते हैं कि द्रव्य की दो स्थितियां हैं– एक आणविक और

टिप्पणी

दूसरी महत्। आणविक स्थिति सूक्ष्मतम है तथा महत् यानी विशाल ब्रह्माण्ड। दूसरे, द्रव्य की स्थिति एक समान नहीं रहती है।

द्रव्य जिसमें 'द्रव्यत्व जाति' हो वही द्रव्य है। कार्य के समवायीकारण को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य गुणों का आश्रय है। पृथ्वी, जल, तेजस, वायु, आकाश, काल, दिक, आत्मा तथा मनस् ये नौ 'द्रव्य' कहलाते हैं। इनमें से प्रथम चार द्रव्यों के नित्य और अनित्य, दो भेद हैं। नित्यरूप को 'परमाणु' तथा अनित्य रूप को 'कार्य' कहते हैं। चारों भूतों के उस हिस्से को 'परमाणु' कहते हैं जिसको पुनःद विभाजित न किया जा सके, अतएव यह नित्य है। पृथ्वी परमाणु के अतिरिक्त अन्य परमाणुओं के गुण भी नित्य हैं।

जिसमें गंध हो वह 'पृथ्वी' है, जिसमें शीत स्पर्श हो वह 'जल' है, जिसमें उष्ण स्पर्श हो वह 'अग्नि' है, जिसमें रूप न हो तथा अग्नि के संयोग से उत्पन्न न होने वाला, अनुष्ण और अशीत स्पर्श हो, वह 'वायु', तथा शब्द जिसका गुण हो अर्थात् शब्द का जो समवायीकारण हो, वह 'आकाश' है। ये 'पंचमहाभूत' भी कहलाते हैं।

उनका मत है कि परमाणुओं में एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे एक परमाणु, दूसरे परमाणु से संयुक्त हो जाता है। दो परमाणुओं के संयोग से एक द्वयणुक उत्पन्न होता है। पार्थिव शरीर को उत्पन्न करने के लिए जो दो परमाणु एकत्रित होते हैं वे पार्थिव परमाणु हैं। वे दोनों उत्पन्न हुए 'द्वयणुक' के समवायीकारण हैं। उन दोनों का संयोग असमवायीकारण है और अदृष्ट, ईश्वर की इच्छा, आदि निमित्तकारण हैं। इसी प्रकार जल,अग्नि आदि को शरीर के संबंध में समझना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि सजातीय दोनों परमाणु मात्र ही से सृष्टि नहीं होती। उनके साथ एक विजातीय परमाणु, जैसे जलीय परमाणु भी रहता है। 'द्वयणुक' में अणु–परिमाण है इसलिए वह दिखता नहीं है। 'द्वयणुक' से जो कार्य उत्पन्न होगा वह भी अणुपरिमाण का ही रहेगा और वह भी दृष्टिगोचर नही होगा।

विश्व में जो वस्तु उत्पन्न होती है वह पृथ्वी के सभी जीवों के भोग के लिए ही है। अपने पूर्वजन्म के कर्मों के प्रभाव से जीव इस संसार में जन्म लेता है। उसी प्रकार भोग के अनुकूल उसके शरीर, योनि, कुल, देश, आदि सभी होते हैं। जब वह विशेष भोग समाप्त हो जाता है, तब उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार अपने–अपने भोगों के समाप्त होने पर सभी जीवों की मृत्यु होती है।

महर्षि कणाद का मत है कि कारण का नाश हुए बिना कार्य का नाश नहीं हो सकता। सृष्टि उत्पत्ति की तरह संहार के लिए भी परमाणु में ही क्रिया उत्पन्न होती है और परमाणु तो नित्य है, उसका नाश नहीं होता, किंतु दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है और फिर उससे उत्पन्न 'द्वयणुक' रूप कार्य का तथा उसी क्रम से 'त्र्यणुक' एवं 'चतुरणुक' तथा अन्य कार्यों का भी नाश होता है।

महर्षि कणाद ने परमाणु को समझाने में ही अपना संपूर्ण जीवन दिया, इसे ही सृष्टि का मूल तत्व माना। ऐसा माना जाता है कि जीवन के अंत में उनके शिष्यों ने उनकी अंतिम अवस्था में प्रार्थना की कि कम से कम इस समय तो आप परमात्मा का नाम लें, तब कणाद ऋषि के मुख से निकला पीलवः पीलवः पीलवः अर्थात् परमाणु, परमाणु, परमाणु।

टिप्पणी

6.5.1 वैशेषिक दर्शन का अर्थ

न्याय–दर्शन के समानतन्त्र के रूप में प्रसिद्ध वैशेषिक दर्शन का नाम न्याय के पश्चात लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः यह न्याय से अधिक प्राचीन दर्शन माना जाता है। इसका यह नाम विशेष शब्द से बना है। विशेष को एक पदार्थ मानने के कारण इसे वैशेषिक कहा गया, ऐसा विद्वानों का मत है। वैशेषिक का महत्व विद्वान–मण्डली में एक कथन के द्वारा स्पष्ट होता है, 'कणाद पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्' अर्थात कणाद का वैशेषिक दर्शन और पाणिनि का व्याकरण सब शास्त्रों में उपकारक है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। अन्य भारतीय दर्शनों की भांति इस दर्शन का उद्देश्य भी मोक्ष प्रप्ति है। वैशेषिक के अनुसार धर्म के ज्ञान से जीवात्मा मोक्ष की प्राप्ति करता है। वैशेषिक–सूत्र का प्रथम सूत्र है, 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम्' अर्थात् अब धर्म की व्याख्या करते हैं। दूसरे सूत्र में कहते हैं 'यतोऽभ्युदयनि श्रेयसिद्धिस्स धर्म' अर्थात् जिससे (यथार्थ ज्ञान) अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो, वही धर्म है।

6.5.2 वैशेषिक दर्शन का साहित्य

वैशेषिक दर्शन के साहित्य को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

(1) **महर्षि कणाद** : महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। वैशेषिक सूत्रों की रचना तिथि निश्चित करना कठिन है। संभवतः यह बौद्ध काल से पूर्व की रचना है। वैशेषिक सूत्र में 10 अध्याय, 20 आह्निक तथा 370 सूत्र हैं।

(2) **प्रशस्तपाद** : वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद ने 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह' नामक भाष्य लिखा जो इस दर्शन का बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

(3) **व्योमशिव** : प्रशस्तपादभाष्य पर आचार्य व्योमशिव ने 'व्योमवती' नामक एक टीका की रचना की।

(4) **श्रीधर** : प्रशस्तपादभाष्य पर आचार्य श्रीधर ने 'न्यायकन्दली' नाम की प्रसिद्ध टीका लिखी। 'न्यायकन्दली' अपने प्रसाद गुण और विशद व्याख्या के कारण वैशेषिक दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए श्रेष्ठतम टीका है।

(5) **उदयन** : आचार्य उदयन द्वारा रचित 'किरणावलि' प्रशस्तपादभाष्य की टीका है।

(6) **श्रीवत्साचार्य** : प्रशस्तपादभाष्य पर श्रीवत्साचार्य कृत टीका 'लीलावती' नाम से विख्यात है।

(7) **शंकरमिश्र** : प्रसिद्ध वैशेषिकाचार्य शंकरमिश्र ने वैशेषिक सूत्र पर 'उपस्कारवृत्ति' तथा प्रशस्तपादभाष्य पर 'कणादरहस्य' की रचना की।

(8) **वरदराज** : आचार्य वरदराज ने वैशेषिक परम्परा में 'तार्किकरक्षा' नामक प्रकरण ग्रन्थ लिखा है।

(9) **शिवादित्य** : 10वीं शताब्दी के आचार्य शिवादित्य का ग्रन्थ 'सप्तपदार्थी' नाम से विख्यात है।

(10) **वल्लभाचार्य** : वल्लभाचार्य ने 'न्यायलीलावती' नामक सुप्रसिद्ध कृति की रचना की।

टिप्पणी

(11) **अन्नम्भट्ट** : आचार्य अन्नम्भट्ट द्वारा रचित 'तर्कसंग्रह' वैशेषिक दर्शन का प्रवेशद्वार माना जाता है।

(12) **विश्वनाथ पञ्चानन** : 16वीं शताब्दी के इस प्रसिद्ध विद्वान ने 'भाषापरिच्छेद (कारिकावली)' नामक ग्रन्थ लिखा है जिस पर उनकी अपनी 'मुक्तावली' नामक सुप्रसिद्ध टीका भी है।

6.5.3 वैशेषिक दर्शन के तत्वों का विचार

वैशेषिक दर्शन के अंतर्गत विभिन्न तत्वों पर विचार किया गया है। जिनका विवरण इस प्रकार है–

(अ) पदार्थ : वैशेषिक दर्शन में पदार्थ का अर्थ है– 'पदस्य अर्थः पदार्थः'। जिसका अर्थ शब्द (पद) के द्वारा प्रकाशित किया जा सके अर्थात् पद (नाम) दिया जा सके। जिस वस्तु से किसी पद या शब्द का ज्ञान होता है उसे पदार्थ कहा जाता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ दो प्रकार के हैं–भाव तथा अभाव। भाव का अर्थ उन पदार्थों से है जो विद्यमान हैं। इनकी संख्या 6 है। इनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय आते हैं। अभाव नामक सातवां पदार्थ श्रीधर आचार्य और उदयनाचार्य ने जोड़ा है । मूल वैशेषिक दर्शन में यद्यपि अभाव का वर्णन मिलता है, परन्तु उसे भावात्मक रूप में नहीं माना गया है। वहाँ पर अभाव को भाव पदार्थ के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया प्रतीत होता है। वस्तुतः वहाँ पर अभाव को असत् के रूप में माना है।

(1) **द्रव्य** : वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ प्रकार के द्रव्य माने जाते हैं। सूत्रकार ने द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा है कि जो क्रिया वाले का नाम 'क्रियावत्' गुण वाले का नाम 'गुणवत्' तथा जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है उसका नाम समवायी कारण है। अर्थात् जो क्रियावाला है गुण वाला है उसको द्रव्य कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार जो द्रव्य है उसमें रूप, रंग, शब्दादि गुण तथा चलना, फिरना, देखना, बोलना, सुनना आदि क्रियाओं का आधार अथवा आश्रय किसी न किसी को स्वीकार करना होगा। इसके सिद्धान्त के अनुसार गुण एवं कर्म का यही आश्रय वाला पदार्थ द्रव्य है। यानि केवल क्रियावत्त्वं द्रव्यत्त्वम् अर्थात् जो क्रिया वाला होता है उसे द्रव्य कहते हैं।

(2) **गुण** : वैशेषिक दर्शन में पदार्थों के निरूपण के पश्चात् गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। दर्शन में गुणों का लक्षण करते हुए बतलाया गया है कि–जो द्रव्य के आश्रित द्रव्य से भिन्न और संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में दूसरे की अपेक्षा से रहित कारण रूप कर्म से भिन्न हो उसको गुण कहते हैं। किसी भी द्रव्य का परिचय सामान्यतया उसके माध्यम से ही होता है तथा किसी द्रव्य के गुणों को उसकी विशेषताएँ कहते हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। किन्तु वैशेषिक दर्शन में गुण को भी एक पदार्थ कहा गया है। इस दर्शन में गुण की परिभाषा दी गई है 'द्रव्याश्रयगुणवान्संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण लक्षणम्' अर्थात् गुण द्रव्य पर आश्रित रहता है, इसमें कोई गुण नहीं होते हैं, यह द्रव्य के संयोग अथवा वियोग का कारण नहीं है, यह द्रव्य पर आश्रित तो

टिप्पणी

रहता है किन्तु कर्म के समान वह द्रव्य में निष्क्रिय होकर रहता है। वैशेषिक मत चौबीस गुणों को मान्यता देता है–रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्य, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्वेष, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, तथा अधर्म। सार यह निकला कि जो द्रव्य के आश्रित, द्रव्य तथा कर्म से भिन्न और जाति वाला पदार्थ है उसको 'गुण' कहते हैं।

(3) **कर्म** : कर्म का लक्षण करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि जो एक द्रव्याश्रित गुण से रहित संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में अपने से उत्तरभाषी किसी भाव पदार्थ की अपेक्षा न करता हुआ कारण है उसको कर्म कहते हैं। भाष्यकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि जो संयोग तथा विभाग की भाँति दो द्रव्यों के आश्रित नहीं रहता, किन्तु एक द्रव्य के आश्रित ही रहता है, उसका नाम 'एकद्रव्य' है, जिसमें कोई गुण नहीं रहता उसका नाम 'अगुण' तथा जो संयोग विभाग के उत्पन्न करने में अपनी उत्पत्ति से अनन्तर उत्पन्न होने वाले भाव पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता उसका नाम 'संयोगविभागेष्वनपेक्षकारण' है। इन तीनों के मिलने से कर्म का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि जो दो द्रव्यों के परस्पर संयोग तथा विभाग को उत्पन्न करता है और उनके उत्पन्न करने में समवायी द्रव्य तथा पूर्वसंयोग नाश की अपेक्षा करता हुआ भी अपनी उत्पत्ति से पीछे उत्पन्न होने वाले किसी भाव पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता और सर्वदा नियम से एक द्रव्य के आश्रित रहता है और स्वयं किसी गुण का आश्रय नहीं होता उसको 'कर्म' कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन में कर्म का विभाजन करते हुए कहा गया है कि कर्म पाँच प्रकार का है। ऊपर फेंकने का नाम उत्क्षेपण', नीचे की ओर फेंकने का नाम 'अपक्षेपण', संकोच करने का नाम 'आकुञ्चन', फैलाने का नाम 'प्रसारण' और चलने का नाम 'गमन' है। प्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन, यह पाँचों कर्म गमनात्मक कर्म के अन्तर्भूत हैं, इसलिए पाँच ही प्रकार के कर्म हैं, अधिक नहीं। वैशेषिक दर्शन के उत्तरवर्ती आचार्यों ने इन उपर्युक्त पाँच प्रकार के कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है कि ये पाँचों प्रकार के कर्म तकनीकी अर्थ में कहे गए हैं।

(4) **सामान्य** : 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' अर्थात् जो नित्य एवं एक होते हुए अनेकों में अनुगत हो उसे सामान्य कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार यह सार्वजनिक अनुभव का विषय है क्योंकि बाहरी जगत् की वस्तुओं में अनेकता एवं एकता, भिन्नता, विविधता एवं समानता दोनों प्रकार की प्रतीतियाँ होती हैं। जहाँ एक और हमारे अनुभवों की विविधता से जागतिक वस्तुओं की अनेकता सिद्ध होती है, (चूंकि जगत की विविधरूपात्मक प्रतीतियाँ वस्तुओं की अनेकता के बिना असम्भव है), वही दूसरी ओर यह भी सत्य है कि उन विविध जागतिक वस्तुओं में एक आन्तरिक समानता भी अवश्य ही अनुस्यूत रहती है। अतः जिस प्रकार हमारी विविध प्रतीतियों से वस्तुओं की अनेकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार उन प्रतीतियों का सम्भव होना, इस बात का प्रमाण है, कि भिन्न–भिन्न होते हुए भी उन वस्तुओं के मध्य कुछ अन्तर्निहित साम्य भी अवश्य है, चूंकि यदि संसार

टिप्पणी

की सभी वस्तुएं एक दूसरे से सर्वथा विचित्र होती और उनमें कोई साम्य नहीं होता, तो उनका ज्ञान मानव–मस्तिष्क के सामर्थ्य से बाहर ही होता। इसलिए, यह अनिवार्य हो जाता है कि हम संसार की वस्तुओं में कुछ समान तत्व मानें, जिनके आधार पर उन्हें वर्गीकृत करके एक सामान्य अभिधान दिया जा सके। ये समान तत्व या साधर्म्य ही वैशेषिक दर्शन की शास्त्रीय पदावली में 'सामान्य' कहे जाते हैं। जिनके कारण संसार की असंख्य वस्तुएं कुछ समान वर्गों में बंट जाती हैं। ये 'सामान्य' उसी प्रकार सत्य हैं जैसे कि वे विशिष्ट व्यक्ति या वस्तुएं, जिनमें आश्रित होकर ये रहते हैं। अतः सामान्य की वास्तविकता को नकारने का तात्पर्य होगा सभी प्रकार के ज्ञान की संभावना का निषेध।

(5) **विशेष** : वैशेषिक दर्शन की पदार्थोदेश्य सूची में आने वाला पांचवां पदार्थ 'विशेष' है। यह पदार्थ केवल इसी दर्शन की मौलिक कल्पना है, अतः इसी के आधार पर इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ा है। इसकी मूल मान्यता है कि दार्शनिक चिन्तन–विश्लेषण प्रक्रिया में साधर्म्य–वैधर्म्य का आश्रय लेना अत्यंत अनिवार्य एवं उपयोगी है। प्रथम अध्याय के चतुर्थ सूत्र में ही कणाद ने कहा है कि साधर्म्य–वैधर्म्यानुगत तत्वज्ञान से ही मोक्ष या निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। अतः जगत् की वस्तुओं के व्याख्या–प्रसंग में जहाँ उन वस्तुओं की समानतायें प्रत्यक्ष हों, वहाँ उनका साधर्म्यपरक अध्ययन करना चाहिए तथा जहाँ अनुभव की विचित्रता दृष्टिगत हो वहाँ वैधर्म्य को आश्रय मानकर उन वस्तुओं की विभिन्नता का ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ऐसा करने से ही उन वस्तुओं का ज्ञान तात्त्विक एवं समग्र हो सकता है। न्याय–दर्शन में अध्ययन–विश्लेषण की इन्हीं दोनों रीतियों को 'अन्वय–विधि' एवं 'व्यतिरेक–विधि' का नाम दिया गया है। आधुनिक तर्कशास्त्र में ये दोनों विधियाँ क्रमशः 'आगमन' एवं 'निगमन' के नाम से जानी जाती हैं।

सूत्रकार कणाद ने इस पदार्थ का कोई स्पष्ट लक्षण न देकर इसे केवल 'अन्त्यविशेष' कहा है। जिससे इतना ही स्पष्ट होता है कि यह विशेष पदार्थ द्रव्यत्वादि परस्पर सामान्य विशेषों से भिन्न है तथा अन्त्य है। 'अन्त्य' कहने से आशय यह है कि ये अन्त में रहते हैं, तथा इनसे भिन्न, और कोई विशेष नहीं होते, चूंकि वैशिष्ट्य का समापन इन्हीं में हो जाता है। दशपदार्थीकार मतिचन्द्र के अनुसार विशेष पदार्थ द्रव्यों में आश्रित होकर रहते हैं, किसी एक द्रव्य में रहते हैं तथा उसे अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त करते हैं, आकाश, काल एवं दिशा में भी रहते हैं, नित्य हैं, गुण एवं कर्म से रहित हैं, अवयवों से भी रहित हैं, सत्ता, शक्ति, अशक्ति, सामान्य विशेष एवं विशेष पदार्थ में ही रहते हैं एवं एक से अधिक होते हैं। चूंकि वैशिष्ट्य का समापन इन्हीं में हो जाता है। दशपदार्थीकार मतिचन्द्र का यह मानना है कि विशेष पदार्थ द्रव्यों में आश्रित होकर रहते हैं, किसी एक द्रव्य में रहते हैं तथा उसे अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त करते हैं।

(6) **समवाय** : समवाय पद का अर्थ है–अत्यन्त समीप आना अर्थात् यह वह सम्बन्ध है जो पदार्थ के नष्ट होने तक उसमें अवस्थित रहता है। शास्त्रीय दृष्टि से महर्षि कणाद ने समवाय का लक्षण इस प्रकार किया है कि 'कारण तथा कार्य

टिप्पणी

में, यहाँ (कारण में) यह (कार्य) है'– इस प्रकार की प्रतीति जिससे संभव होती है, वही समवाय है। वैदिक वृत्तिकार के शब्दों में इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि जिसके द्वारा असर्वगत, अन्यत्व में अधिगत पदार्थों का अपृथक् अभाव होता है, या स्वातन्त्र्य होता है, वही समवाय है। 'अयुतसिद्धयो सम्बन्धः समवायः' अर्थात् अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य का सम्बन्ध समवाय कहलाता है। हमें संसार की वस्तुओं में अनेक प्रकार के सम्बन्ध दिखाई पड़ते हैं। कुछ सम्बन्ध क्षणिक होते हैं और कुछ स्थाई। जैसे कागज और कलम का सम्बन्ध क्षणिक होता है तथा तन्तु और कपड़े का सम्बन्ध स्थाई अर्थात् नित्य होता है। नित्य सम्बन्ध ही समवाय कहलाता है।

(7) **अभाव** : अभाव के विषय में वैदिक साहित्य में पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अभाव के लिए असत् शब्द का प्रयोग और भाव के लिए सत् शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। महर्षि कणाद ने केवल 6 पदार्थ माने थे। अभाव को उन्होंने स्वतन्त्र पदार्थ की संज्ञा नहीं दी थी। किन्तु बाद के आचार्यों ने अभाव को भी एक पदार्थ माना है। 'अभाव' शब्द का अर्थ है– 'किसी वस्तु का न होना'। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'भाव' पद के साथ 'न' समास होने पर 'अभाव' पद की निष्पत्ति होती है। अतः स्पष्ट है कि यह निषेधपरक प्रतीतियों का आश्रय है। इसलिए अभाव के विषय में सबसे पहली समस्या तो यही उत्पन्न होती है, कि जगत् में वास्तविकता सदा भावात्मक या विधिपरक रूप में ही दृष्टिगत होती है जबकि 'अभाव' पदार्थ स्वरूपतः ही निषेधात्मक प्रतीत होता है। उदाहरणस्वरुप 'मेज' पर पुस्तक है, इस वाक्य से व्यक्त पुस्तक के अस्तित्व को हम स्पष्टतः अनुभव कर सकते हैं, किन्तु 'मेज' पर पुस्तक नहीं है' इस वाक्य द्वारा संकेतित पुस्तक के अभाव या न होने को हम प्रत्यक्ष कैसे देख सकते हैं? अतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस निषेधात्मक प्रतीति का आधार क्या है? पुस्तक का होना या न होना? इस प्रकार, स्पष्ट है कि अभाव का आशय ही स्पष्ट नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप अन्तर्विरोधों से पूर्ण है। दूसरी, ओर यदि हम 'अभाव' पदार्थ को स्वीकार न करें तो हमें निषेधपरक वाक्यों को भी विधिपरक मानना पड़ेगा, जो एक भीषण विसंगति होगी, क्योंकि तब तो हमें निषेधात्मक प्रतीति की भी विधिपरक रीति से व्याख्या करनी पड़ेगी।

अभाव, नास्ति शब्द का बोधक है। जैसे रात्रिकाल में आकाश में सूर्य का न होना अथवा घड़े में जल का न होना अभाव है। अभाव के दो भेद किए गये है– संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव। एक वस्तु में दूसरी वस्तु के अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं, जैसे– चन्द्रमा में गर्मी का अभाव अथवा अग्नि में शीतलता का अभाव। संसर्गाभाव के तीन भेद किये गये हैं– प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव। प्राग्भाव से आशय है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान नहीं रहता। जैसे घड़ा अपनी उत्पत्ति के पूर्व मिट्टी में नहीं है। प्रध्वंसाभाव का अर्थ है कि विनाश के पश्चात् वस्तु का अभाव होता है। अत्यन्ताभाव का तात्पर्य है–दो वस्तुओं के बीच पूर्णतया एवं सार्वकालिक अभाव,जैसे वायु के रूप का अभाव। एक वस्तु का अन्य वस्तु में न होना अन्योन्याभाव है। जैसे चन्द्रमा, सूर्य नहीं है या अग्नि, जल नहीं है। तादात्म्य का अभाव ही अन्योन्याभाव है।

टिप्पणी

(ब) परमाणुवाद : परमाणु संस्कृत भाषा के दो शब्दों का मेल हैं–परम+अणु। परम अर्थात सर्वोत्कृष्ट तथा अणु अर्थात सबसे छोटा हिस्सा। परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन का सृष्टि–सम्बन्धी सिद्धान्त है। वैशेषिक दर्शन जगत् का उपादान कारण असंख्य सूक्ष्मतम अणुओं (परमाणुओं) को बतलाता है, इसीलिए उसका सिद्धान्त परमाणुवाद कहा जाता है। परमाणुओं की विशेषता यह है कि ये पदार्थ की सूक्ष्मतम इकाई होने से अविभाज्य एवम् अविच्छेद्य होते हैं, इनका और आगे विभाजन नहीं किया जा सकता।

संसार के सभी द्रव्यों का निर्माण चार प्रकार के परमाणुओं से होता है– पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु। इस सिद्धान्त के अनुसार परमाणु निष्क्रिय है तथा वे ईश्वर के द्वारा जागृत किए जाते हैं। इस मत के अनुसार सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। यह दर्शन प्रत्येक सृष्टि के बाद प्रलय स्वीकार करता है। यह वस्तुवादी दर्शन है। यह ईश्वर के साथ–साथ जीवात्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है । इनके अनुसार मोक्ष, दुःख, आनंद गुणों से परे हैं। यह दर्शन भक्ति को स्थान नहीं देता है। आचार्य शंकर इसे अर्द्धवैनाशिक दर्शन कहते हैं तथा श्री हर्ष इसे वास्तविक उलूक दर्शन कहते हैं।

(स) निःश्रेयस् : निःश्रेयस् शब्द का प्रयोग वैशेषिक दर्शन में मोक्ष के लिए हुआ है। इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य निःश्रेयस की प्राप्ति है। इस दर्शन में धर्म का लक्षण बताया गया है–'यतो अभ्युदयानिः श्रेयससिद्धि स धर्मः' अर्थात जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है। निःश्रेयस प्राप्ति के साधन तत्वज्ञान, श्रद्धा, निष्कामकर्म एवं ईश्वरीयकृपा बताये गये हैं। द्रव्यादि सप्त पदार्थों के साधर्म्य–वैधर्म्य ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. वैशेषिक सूत्रों की रचना किसने की?

(क) महर्षि पतंजलि (ख) महर्षि कणाद

(ग) महर्षि गौतम (घ) महर्षि कपिल

8. वैशेषिक सूत्र में कितने अध्याय, कितने आह्निक तथा कितने सूत्र है?

(क) 10 अध्याय 15 आह्निक तथा 270 सूत्र

(ख) 15 अध्याय 20 आह्निक तथा 275 सूत्र

(ग) 10 अध्याय 20 आह्निक तथा 280 सूत्र

(घ) 18 अध्याय 25 आह्निक तथा 290 सूत्र

6.6 पूर्व मीमांसा दर्शन

विद्वानों द्वारा आस्तिक दर्शनों में मीमांसा दर्शन को अग्रणी दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि यह पूर्णतः वेदों पर आधारित है। वैदिक संस्कृति का विकास दो प्रकार से हुआ है, यह सर्वोल्लिखित है। एक ओर वेदों के ब्राह्मणग्रन्थों के यज्ञ, यागादि कर्मकाण्डों का शास्त्रीय विकास तथा दूसरी ओर उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड के आधार पर वैदिक दर्शन का विकास हुआ। इन्हीं से क्रमशः मीमांसा और वेदान्त दर्शन

का विकास हुआ है। इन्हें ही पूर्व मीमांसा और उत्तर–मीमांसा के नाम से जाना जाता है। मीमांसा दर्शन के प्रणेता आचार्य जैमिनि को माना जाता है।

टिप्पणी

आचार्य जैमिनि का जीवन परिचय

आचार्य जैमिनि महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के शिष्य थे। सामवेद और महाभारत की शिक्षा जैमिनि ने वेदव्यास से ही प्राप्त की थी। ये ही पूर्व मीमांसा दर्शन के रचयिता हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'भारतसंहिता' की भी रचना की थी, जो 'जैमिनि भारत' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने द्रोणपुत्रों से मार्कण्डेय पुराण सुना था। इनके पुत्र का नाम सुमन्तु और पौत्र का नाम सत्वान था। इन तीनों ने वेद की एक–एक संहिता की रचना की है।

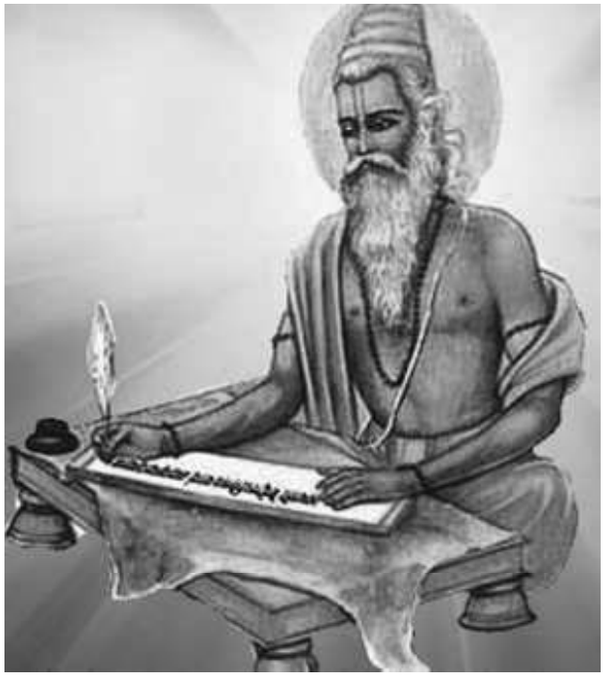

आचार्य जैमिनि

जैमिनि मीमांसा सूत्र के रचयिता हैं, किन्तु इन्हें मीमांसा शास्त्र का प्रवर्तक कहना उचित नहीं है, क्योंकि इन्होंने अपने सूत्रों में मीमांसा दर्शन के अन्य आठ आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इनके समय के विषय में कोई निश्चित मत नहीं है। कुछ लोग इनका समय ईसवी पूर्व 300 वर्ष मानते हैं, तो कुछ लोग ईसवी की दूसरी शताब्दी। इनके जीवन चरित के विषय में भी कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। भागवत पुराण में वर्णन मिलता है कि जैमिनि ने व्यास से सामवेद का अध्ययन किया था और अपने शिष्य सुमन्तु को सामवेद पढ़ाया था। जैमिनि ने अपने सूत्रों में जिन आठ आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं– बादरायण, बादरि, कार्ष्णाजिनि, लावुकायन, कामुकायन, आत्रेय, आलेखन तथा आश्मरण्य।

टिप्पणी

मीमांसा सूत्र

जैमिनि द्वारा रचित मीमांसा सूत्र 12 अध्यायों में विभक्त है। ये बारह अध्याय बारह विषयों पर आधारित हैं। इसीलिए इसे 'द्वादश लक्षणी' भी कहा जाता है। यह भी एक मान्यता है कि उक्त बारह अध्यायों के अतिरिक्त चार अन्य अध्यायों की भी रचना जैमिनि ने की थी, जिन्हें संकर्षण काण्ड या देवता काण्ड के नाम से जाना जाता है। जैमिनि के सूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य धर्म के स्वरूप की खोज, मानव के कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेचन तथा इनसे साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषय हैं। जैमिनि ने मीमांसा सूत्र के बारह अध्यायों में निम्नलिखित बारह विषयों का विशद विवेचन किया है–

- पहले अध्याय में धर्म का लक्षण तथा धर्म के प्रमाणों का प्रतिपादन किया गया है।
- दूसरे अध्याय में कर्मभेद को बताने वाले शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण तथा प्रकरणान्तर आदि छह विषयों का वर्णन किया गया है।
- तीसरे अध्याय में शेषत्व का निरूपण किया गया है। इसमें श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या का प्रतिपादन किया गया है।
- चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य विषय प्रयोज्य–प्रयोजक–भाव है, जिसमें श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान और प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है। इन्हें बोधक प्रमाण बताया है।
- पांचवें अध्याय में 'क्रम' का वर्णन है। इसमें कर्मों के आगे पीछे होने का निर्देश किया गया है।
- छठे अध्याय का मुख्य विषय 'अधिकार' है।
- सातवें अध्याय में यज्ञों का विवेचन है।
- आठवें अध्याय में विशेषातिदेश का निरूपण किया गया है।
- नवें अध्याय में 'ऊह' की चर्चा की गई है।
- दसवें अध्याय में यज्ञों तथा यज्ञ में होने वाली क्रियाओं के निराकरण तथा समावेश के लिए आधार की चर्चा की गई है।
- ग्यारहवें अध्याय का विषय 'तन्त्र' का निरूपण है, जिसमें केन्द्रीकरण की प्रक्रिया प्रदर्शित की गई है।
- बारहवें अध्याय में 'अवाप' का निरूपण है, जो कि विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्धित है।

धर्म

जैमिनि ने मुख्य रूप से धर्म के प्रतिपादन के लिए ही मीमांसा सूत्र की रचना की थी। धर्म की परिभाषा देते हुए जैमिनि ने कहा है कि धर्म वे अर्थ या कर्म हैं, जिनको करने के लिए वेदों ने आदेश दिया है तथा जिनके करने से अभिप्रेत फल की प्राप्ति होती है। इस प्रसंग में यह भली–भांति समझ लेना चाहिए कि मीमांसा में धर्म शब्द का प्रयोग न तो किसी सम्प्रदाय के अर्थ में हुआ है, न ही पुण्य–पाप के अर्थ में, जो साधारणतया धर्म शब्द समझे जाते हैं। यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में वेद

प्रतिपादित कर्तव्यों के लिए किया गया है। वेद के विधि वाक्य ही धर्म के ज्ञान के एकमात्र साधन हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से धर्म का ज्ञान किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है।

टिप्पणी

कर्म के प्रकार

यह कहा गया है कि वेद के द्वारा आदिष्ट कर्म ही कर्म है। इसलिए कर्म के स्वरूप का निर्धारण तथा कर्म का वर्गीकरण जैमिनि के दर्शन का मुख्य विषय है।

सर्वप्रथम कर्म के दो भेद किए हैं–

1. **लौकिक कर्म** – जो कर्म लोक के आदेश से किए जाते हैं, वे लौकिक कर्म कहलाते हैं।
2. **वैदिक कर्म** – जो कर्म वेद के आदेश से किए जाते हैं, वैदिक कर्म कहलाते हैं। इन्हीं वैदिक कर्मों को धार्मिक कर्म भी कहा जाता है।

आदेश के स्वरूप के आधार पर वैदिक कर्मों के तीन भेद किये गए हैं–

1. विहित कर्म
2. निषिद्ध कर्म
3. उभयात्मक कर्म

इनमें विहित कर्म तीन प्रकार के होते हैं–

1. नित्य
2. नैमित्तिक
3. काम्य

फल की उत्पादकता के आधार पर वैदिक कर्मों के दो भेद किये गए हैं–

1. **प्रधान कर्म** – जो कर्म स्वयं साक्षात् फल देने में समर्थ होता है, वह प्रधान कर्म कहलाता है।
2. **गुण कर्म** – जो प्रधान कर्म की सहायता के लिए होता है या परम्परया अपूर्व अथवा फल की उत्पत्ति में सहायक होता है, वह गुण कर्म कहलाता है।

प्रयोजन के आधार पर वैदिक कर्मों के तीन भेद किये गए हैं–

1. **ऋत्वर्थ कर्म** – वे कर्म जो किसी यज्ञ की पूर्णता के लिए किए जाते हैं।
2. **पुरुषार्थ कर्म** – यजमान या कर्ता को अभिवांछित फल देने वाले कर्म पुरुषार्थ कर्म कहलाते हैं।
3. **अनुभयात्मक कर्म** – जो कर्म न तो यज्ञ में सहायक होते हैं और न कर्ता को अभिवांछित फल देते हैं, अनुभयात्मक कर्म कहलाते हैं।

6.6.1 पूर्व मीमांसा दर्शन का अर्थ

मीमांसा का शाब्दिक अर्थ है– तर्क और व्याख्या की कला। पाणिनि की व्याकरण के अनुसार 'मी' उपसर्ग, 'मान्' धातु से पूजा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर स्त्रीलिंगबोधक 'टाप्' प्रत्यय के जोड़ने से मीमांसा शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ 'विचार', पूजित

टिप्पणी

विचार या पूजित जिज्ञासा आदि है। श्रुतियों के पारस्परिक विरोध को त्याग कर उनमें एक–वाक्यता स्थापित करने के लिये जो विचार–विमर्श किया जाता था उसे मीमांसा कहते थे। कालान्तर में यह शब्द किसी भी विषय के समीक्षात्मक विवेचन के लिए प्रयोग होने लगा तथा ये सभी शब्द जिज्ञासा, मीमांसा, समीक्षा पर्यायवाची हो गये। मीमांसा का अन्य नाम पूर्व मीमांसा/कर्म मीमांसा/धर्म मीमांसा भी है। जैमिनि मुनि द्वारा रचित सूत्र होने से मीमांसा को 'जैमिनीय धर्ममीमांसा' भी कहा जाता है।

मीमांसा शाखा के अनुसार, वेदों में ही शाश्वत सत्य है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करना था। एक व्यक्ति अपने कमाए गए पुण्यों के अनुसार ही स्वर्ग प्राप्ति का आनन्द लेता है। जब उसके द्वारा अर्जित पुण्य समाप्त हो जाते हैं, तो वह पुनः धरती पर लौट आता है। किन्तु अगर वह मुक्ति प्राप्त करता है, तो वह दुनिया में जन्म–मरण के चक्र से पूरी तरह मुक्त हो जाता है। मीमांसा शाखा ने मोक्ष की प्राप्ति हेतु यज्ञ का समर्थन किया, जिसके लिए पुजारियों की सेवा करना और विभिन्न वर्गों के बीच सामाजिक स्तर बनाए रखना आवश्यक था। मीमांसा दर्शन के प्रचार के माध्यम से, ब्राह्मणों ने धार्मिक अनुष्ठानों में अपने अधिकार और ब्राह्मण प्रधान सामाजिक स्तरीकरण को बनाए रखने का प्रयास किया।

धर्म (यज्ञ–परम्परा) की रक्षा करने हेतु उसके प्रमाण, स्वरूप, साधन और अन्त में फल बतलाकर अर्थात श्रेय तथा प्रेय दोनों की प्राप्ति कराते हुए समाज को सुव्यवस्थित रखना ही मीमांसा दर्शन का प्रमुख उद्देश्य माना गया है।

6.6.2 पूर्व मीमांसा दर्शन का साहित्य

पूर्व मीमांसा दर्शन के साहित्य का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है–

(1) **जैमिनि** : जैमिनि को मीमांसा दर्शन का सूत्रकार माना जाता है। उन्होंने 'मीमांसासूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसे 'जैमिनि सूत्र' भी कहा जाता है। इसमें 12 अध्याय हैं, इसलिए यह 'द्वादशलक्षणी' के नाम से भी जाना जाता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में 60 पाद तथा सूत्रों की संख्या 2652 प्राप्त होती है। सूत्रों का विभाजन विषय की दृष्टि से अधिकरणों में है। सम्पूर्ण अधिकरणों की संख्या 915 मानी जाती है। कुछ विद्वान् 'सकर्षणकाण्ड' को जैमिनिकृत ही मानते हैं, इसे 'देवताकाण्ड' भी कहा जाता है। इसमें उपासना का विवेचन प्राप्त होता है।

(2) **शबरस्वामी** : मीमांसा सूत्र पर प्राप्त सर्वप्रथम व्याख्या 'शबरभाष्य' के नाम से विख्यात है, जिसके लेखक शबरस्वामी हैं।

(3) **कुमारिलभट्ट** : कुमारिलभट्ट ने शबरभाष्य के ऊपर स्वतन्त्र दृष्टि से विद्वतापूर्ण टीकाओं की रचना की है, जो तीन भागों में विभाजित हैं– 'श्लोकवार्तिक', 'तन्त्रवार्तिक' तथा 'टुप्टीका'।

(4) **प्रभाकर** : प्रभाकर ने शबरभाष्य पर दो टीकाओं की रचना की है, एक 'लघ्वी' जो 'विवरण' नाम से है तथा दूसरी 'बृहती' जो 'निबन्धन' नाम से प्रचलित है।

(5) **मंडन मिश्र** : मीमांसा दर्शन के विख्यात विद्वान मंडन मिश्र ने 'विधि विवेक' तथा 'मीमांसा अनुक्रमणी' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

टिप्पणी

(6) **पार्थसारथि मिश्र** : कुमारिल के अनुयायियों में से प्रसिद्ध नवीं शताब्दी में उत्पन्न पार्थसारथि मिश्र हैं। 'शास्त्रदीपिका', 'तन्त्ररत्न' और 'न्यायरत्नमाला' उनकी प्रमुख रचनाएं हैं।

(7) **मुरारि मिश्र** : इनका काल 12वीं शताब्दी का अन्त तथा 13वीं शताब्दी के प्रारम्भ के मध्य माना जाता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इन्होंने मीमांसाशास्त्र के एक नए सम्प्रदाय 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' का प्रचलन किया था।

(8) **शालिकनाथ मिश्र** : प्रभाकर मतानुयायी आचार्य शालिकनाथ मिश्र ने बृहती पर 'ऋजुविमला' नामक टीका की रचना की। उनकी एक स्वतन्त्र कृति 'प्रकरणपञ्चिका' नाम से प्रसिद्ध है। शबरभाष्य पर उन्होंने 'परिशिष्ट' नाम से टिप्पणी ग्रन्थ भी लिखा है।

(9) **भवनाथ मिश्र** : आचार्य भवनाथ द्वारा रचित 'नयविवेक' मीमांसा दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

(10) **माधवाचार्य** : माधवाचार्य ने मीमांसादर्शन का पद्यमय भाष्य लिखा है जो 'जैमिनीयन्यायमालाविस्तर' नाम से विख्यात है।

(11) **आपदेव** : आपदेव द्वारा लिखित 'मीमांसान्यायप्रकाश' मीमांसादर्शन का प्राथमिक ग्रन्थ है।

(12) **लौगाक्षिभास्कर** : लोगाक्षिभास्कर का काल 1600 ई. माना जाता है। इनकी दो रचनायें प्राप्त होती हैं– 'तर्ककौमुदी' तथा 'अर्थसंग्रह'।

6.6.3 पूर्व मीमांसा दर्शन के तत्वों का विचार

पूर्व मीमांसा दर्शन के तत्वों को निम्न प्रकार से समझाया गया है–

(1) प्रमाण : जिससे विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो और विषय का निर्धारण हो उसे प्रमाण कहते हैं, अर्थात यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के साधन को प्रमाण कहा गया है। न्याय दर्शन के अनुसार ही मीमांसक भी यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के साधन को प्रमाण स्वीकारते हैं, परन्तु वे स्मृति और संशय को यथार्थ ज्ञान नहीं मानते हैं। जैमिनि प्रमाण के तीन प्रकार मानते हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। प्रभाकर इन तीनों के अतिरिक्त उपमान और अर्थापत्ति को भी प्रमाण मानते हैं। कुमारिल इनके साथ–साथ अनुपलब्धि को भी प्रमाण स्वीकारते हैं।

(क) **प्रत्यक्ष प्रमाण** : 'इन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञानं प्रत्यक्षम्' अर्थात साक्षात् इन्द्रिय सम्पर्क से प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष दर्शन केवल सत पदार्थों का ही हो सकता है। कुमारिल ने साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्ष स्वीकार किया है–'साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षः'। प्रत्यक्ष ज्ञान एक साक्षात् प्रतीति एवं अनुभव है।

(ख) **अनुमान प्रमाण** : 'व्याप्यदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमनुमानम्' अर्थात व्याप्य के ग्रहण से असन्निकृष्ट अर्थ का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है। किसी पूर्व ज्ञान के आधार पर वस्तुओं की यथार्थ अवस्था पता करना अनुमान है।

(ग) **उपमान प्रमाण** : मीमांसा में उपमान प्रमाण का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि पूर्व ज्ञात का नाम 'प्रसिद्ध' और समान धर्म का नाम 'साधर्म्य' है। साधर्म्य,

टिप्पणी

सापेक्ष तथा सारूप–ये तीनों पर्याय शब्द हैं। पूर्वज्ञात पदार्थ के समान धर्म द्वारा 'साध्य' उपमेय की सिद्धि को 'उपमान' कहते हैं। अर्थात् वह जिस कारण द्वारा ज्ञात हो उसका नाम उपमान है। 'दृश्यमानार्थसादृश्यात् स्मर्यमाणार्थगोचर–मुपमानम्' अर्थात् समानता का बोध ही उपमान प्रमाण कहलाता है।

(घ) **शब्द प्रमाण** : शब्द प्रमाण इस दर्शन का मुख्य स्रोत है। ज्ञानी व्यक्तियों के वचन (आप्त वाक्य) तथा वेद शब्द प्रमाण हैं। आप्तवाक्य पौरुषेय है तथा वेद अपौरुषेय। 'तत्र तावत् पदैज्ञति पदार्थस्मरणे कृते असन्निकृष्टवाक्यार्थज्ञान शब्दमितीर्यते' अर्थात सत्यज्ञान होने के पश्चात् उन पर विश्वास करना ही आप्त–कथन कहलाता है।

(ङ) **अर्थापत्ति** : 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्ति' अर्थात किसी अनुपपन्न अर्थ की उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना अर्थापत्ति कहलाती है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए अर्थ की कल्पना करने को ही अर्थापत्ति कहते हैं।

(च) **अनुपलब्धि** : 'उपलब्धयोग्यस्यानुपलब्धि अभावः' अर्थात उपलब्धियोग्य पदार्थ की उपलब्धि न होना अभाव है। प्राप्ति का अभाव अनुपलब्धि है। यह कुमारिल भट्ट द्वारा मान्य है।

(2) धर्म विचार : भारतीय षड्दर्शनों में वैशेषिक और मीमांसा दर्शन का प्रारम्भ धर्म के व्याख्यान से होता है। धर्म की व्याख्या करना ही मीमांसा दर्शन का प्रयोजन बताया गया है। याग आदि कर्म ही धर्म है (यागादिरेव धर्म)। 'वेदप्रतिपाद्य प्रयोजनवद अर्थो धर्मः', अर्थात् जो वेद द्वारा प्रतिपादित हो, प्रयोजनयुक्त हो तथा अर्थवान् हो उसे धर्म कहते हैं।

(3) भावना विचार : अर्थसंग्रह में भावना का लक्षण 'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष' है, जिसका अर्थ है उत्पत्तिशील की उत्पत्ति में कारणभूत जो उत्पादयिता का मानसिक व्यापार होता है, उसे भावना कहते हैं। भावना दो प्रकार की होती हैं–शाब्दी भावना और आर्थी भावना।

(क) **शाब्दी भावना** : 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष' अर्थात् प्रयोजन के उस व्यापार विशेष को जो प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला होता है, शाब्दी भावना कहते हैं।

(ख) **आर्थी भावना** : स्वर्ग आदि प्रयोजन को लक्ष्य करके याग आदि क्रिया को अनुष्ठित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार (कर्म) उत्पन्न होता है, आर्थी भावना कहलाता है।

(ग) **वेद के विषय, विधि, मन्त्र आदि** : मीमांसा दर्शन वेद को 'अपौरुषेय वाक्य' मानता है, अर्थात् वेद किसी पुरुष की रचना नहीं हैं। वे ईश्वर की भी रचना नहीं है। इसका कारण यह है कि प्राचीन मीमांसा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करती है। वेदों के पाच प्रभेद माने जाते हैं–

(घ) **विधि** : 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधि' अर्थात् विधिपरक आदेश वे आदेश हैं जो व्यक्ति को विशेष कर्म के लिए प्रेरित करते हैं, जिसके द्वारा विशेष फल प्राप्त हो सके। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत्' अर्थात् जिन्हें स्वर्ग की कामना हो वे यज्ञ कर सकें, यह विधिपरक आदेश है।

टिप्पणी

विधि के चार प्रकार–

- **उत्पत्ति विधि** : 'कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधि' अर्थात् यह कर्म के स्वरूपमात्र को बतलाने वाली है।
- **विनियोग विधि** : 'अंगप्रधानसम्बन्धबोधको विधिविनियोगविधि' अर्थात् यह कर्म के अंग तथा प्रधान विषयों के सम्बन्ध का बोध कराने वाली विधि है।
- **प्रयोग विधि** : 'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधि प्रयोगविधि' अर्थात् यह प्रयोग की शीघ्रता की बोधक विधि है।
- **अधिकार विधि** : 'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधि' अर्थात् यह कर्म से उत्पन्न फल के स्वामित्व की ओर संकेत करती है।

(ङ) **मन्त्र** : 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्रः' अर्थात् यज्ञ के सम्पन्न होने में यज्ञ से सम्बन्धित विविध विषयों का स्मरण कराने में उपयोगी को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के द्वारा ही यज्ञ में देवताओं को आहुतियाँ दी जाती हैं।

(च) **नामधेय** : 'नामधेयानाम् च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्' अर्थात् यज्ञों के नाम को नामधेय कहा जाता है। नाम अर्थात् संज्ञा, इसका तात्पर्य यज्ञों का व्यक्तिवाचक नाम है।

(छ) **निषेध** : 'पुरुषस्य निवर्तक वाक्य निषेध' अर्थात् जिस वाक्य के माध्यम से किसी पुरुष को क्रियानुष्ठान से निवृत्त किया जाता है, वह निषेध कहलाता है।

(ज) **अर्थवाद** : 'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरवाक्यमर्थवाद' अर्थात् वे वाक्य जो किसी पदार्थ के सही गुणों का कथन करते हैं अर्थात् ये आदिष्ट वस्तुओं की प्रशंसा तथा निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा करते हैं, अर्थवाद कहलाते हैं।

जगत् मोक्ष विचार

मीमांसा जगत् की सत्यता को स्वीकार करता है। यह कर्म तथा उसके अनुसार सृष्टि रचना को भी स्वीकार करता है। लेकिन इसमें सृष्टि विनाश एवं प्रलय का सिद्धांत स्वीकार्य नहीं है। इस दर्शन के अनुसार केवल मनुष्य एवं पदार्थ की उत्पत्ति एवं विनाश होता है। यह अनेकवाद तथा वस्तुवादी है। प्रत्येक जीव में आत्मा का निवास है। आत्मा को ज्ञाता, भोक्ता, कर्ता माना गया है। इसमें वैदिक कर्मकांडों पर अत्यधिक बल दिया गया है। ये अनिवार्य रूप से करणीय हैं। कर्म की व्याख्या तीन प्रकार से है–अनिवार्य, ऐच्छिक तथा निषिद्ध। अनिवार्य कर्म दो प्रकार के हैं– नित्य किए जाने वाले मंत्र तथा प्रार्थना विशेष अवसरों पर किए जाने वाले कर्म। ऐच्छिक कार्यों को काम्य कहा गया है अर्थात् जो पुण्य प्रदान करें। निषिद्ध कार्य नहीं किए जाते हैं। इनसे पाप की प्राप्ति होती है। प्रारंभिक मीमांसकों का उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति था जबकि बाद में मीमांसकों का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति हो गया।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

9. मीमांसा दर्शन का सूत्रकार किसे माना जाता है?

(क) प्रभाकर (ख) जैमिनि

(ग) वाचस्पति मिश्र (घ) शालिकनाथ मिश्र

10. लौगाक्षिभास्कर का काल किस ई. को माना जाता है?

(क) 1300 ई. (ख) 1400 ई.

(ग) 1500 ई. (घ) 1600 ई.

6.7 उत्तर मीमांसा–शंकर और रामानुज का दर्शन

मीमांसा का संबंध वैदिक धर्म के व्यावहारिक पक्ष से है, जैसा कि वह ब्राह्मणों तथा कर्मकांडविषयक साहित्य में प्राप्त होता है। इसमें मुख्य रूप से पवित्र अनुष्ठानों तथा उनके करने से प्राप्त होने वाले प्रतिफलों का विवेचन किया गया है। वेदों के शाश्वत स्वरूप को स्वीकार करते हुए, इस दर्शन में इस सिद्धांत पर जोर दिया गया है कि उच्चारित शब्द नित्य है, और किसी भी शब्द और उसके अर्थ के बीच में एक संबंध होता है। इस संप्रदाय के, जो वस्तुतः कोई दार्शनिक पद्धति नहीं है, सिद्धांत जैन धर्म ने अपने कर्म–मीमांसा–सूत्र में तैयार किए थे।

6.7.1 उत्तर मीमांसा दर्शन का अर्थ

मंत्र और ब्राह्मण भागों के अंतर्गत वाक्यों का समन्वय जैमिनि ने अपने ग्रंथ मीमांसासूत्र (पूर्व मीमांसा दर्शन) में किया। मंत्र और ब्रह्मण वेद के पूर्वभाग होने के कारण उनके अर्थ और उपयोग को मीमांसा पूर्वमीमांसा के नाम से जाना जाता है। वेद के उत्तर भाग आरण्यक और उपनिषद के वाक्यों का समन्वय बादरायण ने ब्रह्मसूत्र नामक ग्रंथ में किया इसलिए उसे उत्तर मीमांसा कहा गया। उत्तरमीमांसा को शारीरक मीमांसा भी कहा जाता है क्योंकि इसमें शरीरधारी आत्मा के लिए उन साधनों और उपासनाओं का संकेत है जिनके द्वारा वह अपने ब्रह्मत्व का अनुभव कर सकता है। इसका नाम वेदांत दर्शन इसलिए पड़ा क्योंकि इसमें वेद के अंतिम भाग के वाक्यों के विषयों का समन्वय किया गया है। इसका नाम ब्रह्ममीमांसा या ब्रह्मसूत्र इस कारण पड़ा क्योंकि इसमें विशेष विषय ब्रह्म और उसके स्वरूप की मीमांसा है, जबकि पूर्वमीमांसा का विषय यज्ञ और धार्मिक कृत्य हैं।

उत्तर मीमांसा में केवल वेद वाक्यों के अर्थ का निरूपण और समन्वय ही नहीं है, उसमें जीव, जगत् और ब्रह्म संबंधी दार्शनिक समस्याओं पर भी विचार किया गया है। एक सर्वांगीण दर्शन का निर्माण करके उसका युक्तियों द्वारा प्रतिपादन और उससे भिन्न मत वाले दर्शनों का खंडन भी किया गया है। यह भाग दार्शनिक दृष्टि से अत्यंत महत्वूपर्ण माना जाता है। समस्त ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय में प्रथम पाद के प्रथम चार सूत्र और दूसरे अध्याय के प्रथम और द्वितीय पादों में वेदांत दर्शन संबंधी प्रायः सभी बातें आ जाती

हैं। इनमें ही वेदांत दर्शन के ऊपर जो आक्षेप किए जा सकते हैं वे और वेदांत तथा अन्य दर्शनों में–पूर्वमीमांसा, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, पाशुपत दर्शनों में, जो उस काल विशेष में प्रचलित थे–जो त्रुटियाँ दिखाई देती हैं वे आ जाती हैं।

टिप्पणी

उत्तरमीमांसा का सर्वाधिक विशेष दार्शनिक सिद्धांत यह है कि जड़ जगत का उपादान और निमित्त कारण चेतन ब्रह्म है। जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही जाल तानती है, वैसे ही ब्रह्म भी इस जगत् को अपनी ही शक्ति द्वारा उत्पन्न करता है। यही नहीं, वही इसका पालक है तथा वही इसका संहार भी करता है। जीव और ब्रह्म का तादात्म्य है और अनेक प्रकार के साधनों और उपासनाओं द्वारा वह ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करके जगत् के कर्मजंजाल से और जन्म–मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। वह मुक्तावस्था में परम आनंद का अनुभव करता है।

उत्तर–मीमांसा दर्शन के रूप में आदि शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत संप्रदाय को मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है।

आदि शंकराचार्य का जीवन परिचय

आदि शंकराचार्य (788 ई. – 820 ई.) अद्वैत वेदान्त के प्रणेता, संस्कृत के विद्वान, उपनिषद व्याख्याता और हिन्दू धर्म प्रचारक थे। हिन्दू धार्मिक मान्यता के अनुसार इनको भगवान शंकर का अवतार माना जाता है। इन्होंने लगभग संपूर्ण भारत की यात्रा की और अपने जीवन का अधिकांश भाग उत्तर भारत में व्यतीत किया। चार पीठों (मठ) की स्थापना करना इनका मुख्य रूप से उल्लेखनीय कार्य रहा, जो आज भी मौजूद हैं। शंकराचार्य को भारत के ही नहीं अपितु समस्त संसार के उच्चतम दार्शनिकों में विशेष स्थान प्राप्त है। उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु उनका दर्शन विशेष रूप से उनके तीन भाष्यों में, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता में मिलता है। गीता और ब्रह्मसूत्र पर अन्य आचार्यों के भी भाष्य हैं, परन्तु उपनिषदों पर समन्वयात्मक भाष्य जैसा शंकराचार्य का है, वैसा अन्य किसी का नहीं है।

शंकराचार्य का जन्म दक्षिण भारत के केरल में स्थित निम्बूदरीपाद ब्राह्मणों के 'कालडी ग्राम' में 788 ई. में हुआ था। उनके द्वारा स्थापित 'अद्वैत वेदांत सम्प्रदाय' 9वीं शताब्दी में अत्यंत लोकप्रिय हुआ। उन्होंने प्राचीन भारतीय उपनिषदों के सिद्धान्तों को पुनर्जीवित किया। उन्होंने ईश्वर को पूर्ण वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया और इस संसार को भ्रम या माया बताया। उनके अनुसार अज्ञानी लोग ईश्वर को वास्तविक न मानकर संसार को वास्तविक मानते हैं। ज्ञानी लोगों का मुख्य उद्देश्य अपने आप को भम्र व माया से मुक्त करना एवं ईश्वर व ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करना होना चाहिए। शंकराचार्य ने संन्यासी समुदाय में सुधार के लिए उपमहाद्वीप में चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। पूर्व दिशा में जगन्नाथपुरी गोवर्धन मठ, पश्चिम में द्वारिकाशारदा मठ, उत्तर दिशा में बदरिकाश्रम में ज्योतिर्मठ और दक्षिण में शृंगेरी मठ।

टिप्पणी

आदि शंकराचार्य

हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार आदि शंकराचार्य ने अपनी अनन्य निष्ठा के फलस्वरूप अपने सदगुरु से केवल शास्त्रों का ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि ब्रह्मत्व का भी अनुभव किया। जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक पक्ष की सत्यता को इन्होंने जहाँ काशी में घटी दो विभिन्न घटनाओं के द्वारा जाना, वहीं मंडनमिश्र से हुए शास्त्रार्थ के बाद परकाया प्रवेश द्वारा उस यथार्थ का अनुभव भी किया, जिसे संन्यास की मर्यादा में भोगा नहीं जा सकता। यही कारण है कि कुछ विषयों में पूर्वाग्रह दिखाते हुए भी लोक संग्रह के लिए, आचार्य शंकर अध्यात्म की चरम स्थिति में किसी तरह के बंधन को स्वीकार नहीं करते। अपनी माता के जीवन के अंतिम क्षणों में पहुँचकर पुत्र होने के कर्तव्य का पालन करना इस संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है।

शंकराचार्य ने उपनिषदों, श्रीमद्भगवद् गीता एवं ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं। उपनिषद, ब्रह्मसूत्र एवं गीता पर लिखे गये शंकराचार्य के भाष्य 'प्रस्थानत्रयी' के अन्तर्गत आते हैं। शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के स्थायित्व, प्रचार–प्रसार एवं प्रगति में अपूर्व योगदान दिया। उनके व्यक्तित्व में गुरु, दार्शनिक, समाज एवं धर्म सुधारक का रूप दिखाई पड़ता है। शंकराचार्य अपने समय के उत्कृष्ट विद्वान एवं दार्शनिक थे। इतिहास में इनकी प्रसिद्धि इनके 'अद्वैत सिद्धान्त' के कारण है। गौड़पाद के शिष्य 'गोविन्द योगी' को शंकराचार्य ने अपना प्रथम गुरु बनाया। गोविन्द योगी से उन्हें 'परमहंस' की उपाधि प्राप्त हुई। कुछ विद्वान शंकराचार्य पर बौद्ध शून्यवाद का प्रभाव मानते हैं तथा उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' की संज्ञा भी देते हैं।

आचार्य शंकर जीवन में धर्म, अर्थ और काम को निरर्थक मानते हैं। वे ज्ञान को अद्वैत ज्ञान की परम साधना मानते हैं, क्योंकि ज्ञान समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर

देता है। सृष्टि का विवेचन करते समय वे इसका मूल कारण ब्रह्म को मानते हैं। उनके मतानुसार ब्रह्म अपनी 'माया' शक्ति के सहयोग से इस सृष्टि का निर्माण करता है।

6.7.2 उत्तर मीमांसा दर्शन का साहित्य

टिप्पणी

उत्तर मीमांसा दर्शन साहित्य को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

(1) **बादरायण** : महर्षि बादरायण ने समयान्तर में औपनिषद–सिद्धान्तों में आपाततः विरोध प्रतीत होने के कारण उसका परिहार तथा एक–वाक्यता करने के उद्देश्य से 'ब्रह्मसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें 4 अध्याय, 16 पाद, 191 अधिकरण तथा 555 सूत्र हैं जिनमें ब्रह्मविषयक विवेचन किया गया है।

(2) **गौडपाद** : आचार्य गौडपाद को अद्वैत वेदान्त का प्रथम आचार्य माना जाता है। इन्होंने माण्डूक्योपनिषद् पर एक कारिका ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम 'माण्डूक्यकारिका' है।

(3) **शंकराचार्य** : अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है जो समूचे विश्व में 'शारीरकभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। उनका कर्तृत्त्व अत्यन्त वृहद है– भगवद्गीताभाष्य, दशोपनिषद्भाष्य, उपदेशसाहस्री, विवेकचूडामणि दक्षिणामूर्तिस्त्रोत, सौन्दर्यलहरी इत्यादि उनकी विख्यात रचनाएँ हैं।

(4) **पद्मपाद** : शंकराचार्य के शिष्य पद्मपाद ने शारीरकभाष्य के चतुः सूत्रीपर्यन्त भाग पर 'पंचपादिका' नामक व्याख्या का प्रणयन किया है। यह ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त में विवरण प्रस्थान का प्रतिपादक माना जाता है।

(5) **सुरेश्वराचार्य** : शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वर ने उनके उपनिषद्भाष्यों पर वार्तिक ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक' सबसे प्रसिद्ध है। उनके द्वारा रचित 'नैष्कर्म्यसिद्धि' सम्भवत शांकरभाष्य पर सर्वप्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

(6) **सर्वज्ञात्ममुनि** : सर्वज्ञात्ममुनि ने 9वीं शताब्दी में शारीरकभाष्य का संक्षेप में पद्यमय व्याख्यान लिखा जो 'संक्षेपशारीरक' नाम से विख्यात है।

(7) **आनन्दगिरि** : आचार्य शंकर की परम्परा में आनन्दगिरि ने शांकरभाष्य पर 'न्यायनिर्णय' नामक टीका लिखी।

(8) **वाचस्पति मिश्र** : आचार्य वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पर 'भामती' टीका का प्रणयन किया जो इस कृति की सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका है। अमलानन्द ने भामती पर 'कल्पतरु' नाम से टीका लिखी है जिस पर अप्पयदीक्षित ने 'परिमल' नामक टीका की रचना की।

(9) **प्रकाशात्मा यति** : आचार्य प्रकाशात्मा यति ने पंचपादिका पर 'विवरण' नाम से ग्रन्थ की रचना की जिसे विवरण सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। इन्होंने शाब्दबोध प्रक्रिया पर 'शाब्दनिर्णय' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है।

टिप्पणी

(10) **श्रीहर्ष** : श्रीहर्ष ने वेदान्त शास्त्रार्थ पर नव्यन्याय शैली में 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक एक ग्रन्थ की रचना की।

(11) **विद्यारण्य** : इन्होंने वेदान्त पर 'पञ्चदशी' नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की जो पद्यबद्ध रूप में है। 'विवरणप्रमेयसंग्रह', 'जीवनमुक्तिविवेक', 'जैमिनीयन्यायमाला', 'दृग्दृश्यविवेक' आदि भी उनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

(12) **सदानन्दयोगीन्द्र** : आचार्य सदानन्दयोगीन्द्र द्वारा लिखित 'वेदान्तसार' अद्वैत वेदान्त का प्रवेशग्रन्थ माना जाता है।

(13) **नृसिंहाश्रम** : इन्होंने 'अद्वैतदीपिका', 'अद्वैतपञ्चरत्न', 'वेदान्ततत्वविवेक' तथा 'भेदधिक्कार' नामक विख्यात ग्रन्थों की रचना की।

(14) **अप्पय दीक्षित** : आचार्य अप्पय दीक्षित द्वारा रचित 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' को अद्वैत वेदान्त का महाकोश माना जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेदान्ततत्वकौस्तुभ' भी लिखा।

(15) **धर्मराजाध्वरीन्द्र** : आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा विरचित 'वेदान्तपरिभाषा' में अदैत वेदान्त की प्रमाणमीमांसा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

(16) **मधुसूदन सरस्वती** : 17वीं शताब्दी के प्रसिद्ध अद्वैत आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि', 'अद्वैतरक्षण', 'प्रस्थानभेद', 'वेदान्तकल्पलतिका' एवं 'गूढार्थदीपिका' की रचना की।

6.7.3 शंकराचार्य का अद्वैत वेदांत

(1) **ब्रह्म** : शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत दर्शन में ब्रह्म ही एकमात्र परमतत्व है जो सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अनादि, अनन्त, अद्वैत एवं देश–काल से परे है। यही मूल तत्व है। यह समस्त जगत का आधार है, साथ ही यह सर्वोच्च ज्ञान भी है। इसके ज्ञान से ही अज्ञानता नष्ट होती है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप है। ब्रह्म शब्द 'बृह्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– 'बढ़ना या विस्तार को प्राप्त होना'। परमतत्व को इसलिए 'ब्रह्म कहा गया है क्योंकि यह सबसे विस्तृत अर्थात् सबसे महान् सत्ता है, 'बृहत्तमत्त्वाद् ब्रह्म'। ब्रह्म को ही अद्वैत कहा गया है। अद्वैत का अर्थ है– एक ही तत्व, जिसे परम सत्ता कहते हैं। उपनिषदों में अद्वैत के विषय में कहा गया है– 'न तु तद् द्वितीयम् अस्ति', 'नेह नानास्ति किञ्चन' आदि।

उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरुप माने गए हैं– निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म। अद्वैत वेदान्त में निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की जाती है। शंकराचार्य के अनुसार निर्गुण अर्थात् निराकार एवं निर्विशेष ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह अवर्णनीय तथा अचिन्त्य सत्ता है। उपनिषदों में इसे ही 'नेति–नेति' कहा गया है।

(2) **जगत्** : जगत के अन्तर्गत समस्त नामरूप, क्रिया–कारक और उनके फल आते हैं (जगतो नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य)। अद्वैत दर्शन के सुप्रसिद्ध सूत्र 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' से ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य जगत को पूरी

टिप्पणी

तरह से असत् मानकर उसे माया कहते हैं। शंकराचार्य ने जगत् के विषय में कई स्थानों पर उसे मिथ्या, मायिक, रस्सी में सर्प के समान भ्रामक कहा है, किन्तु उसे 'आकाश–कुसुम' के समान असत् नहीं कहा है।

(3) **त्रिविध सत्ता** : शंकराचार्य केवल एक ही सत्ता स्वीकार करते हैं और इसे वे अद्वैत ब्रह्म कहते हैं, परन्तु अनुभूत पदार्थों के अस्तित्व के लिए वे सत्ता के निम्नलिखित स्तर बताते हैं–

(क) **प्रातिभासिक सत्ता** : ऐसी सत्ता जिसका हमें केवल आभास हो, जिसकी सत्यता पर हमें स्वयं अविश्वास हो, जैसे–स्वप्न और भ्रम के पदार्थों की सत्ता आदि।

(ख) **व्यावहारिक सत्ता** : दृश्य जगत के पदार्थो की सत्ता, जैसे–घर आदि।

(ग) **पारमार्थिक सत्ता** : पारमार्थिक सत्ता उसकी है जिसका तीनों कालों मे बाध (नाश) नहीं होता अर्थात् जो अनश्वर नित्य सत्ता है। ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म की है।

(4) **माया** : शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत दर्शन में ब्रह्म की रहस्यमयी शक्ति का नाम माया है, जिसके द्वारा ईश्वर जगत का निर्माण करता है। माया का अर्थ है, जो जीव को मोहित करे, अथवा जो जीव को मोहित कराये। माया की दो शक्तियाँ है– आवरण शक्ति एवं विक्षेप शक्ति। आवरण माया का नकारात्मक पक्ष है जो वास्तविकता को, ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप को छुपाता है। विक्षेप उसका सकारात्मक पहलू है जो ब्रह्म पर जगत की अनेकता आरोपित/अध्यारोपित करता है। विक्षेप शक्ति का अर्थ है वास्तविक वस्तु के स्थान पर अवास्तविक को प्रस्तुत करना जैसे– रस्सी–सर्प में रस्सी के स्थान पर सर्प की प्रतीति कराना।

शंकराचार्य के दर्शन में माया और अविद्या ये दोनों शब्द लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जिसे व्यक्तिगत स्तर पर अविद्या कहा गया है वही सर्वगत स्तर पर माया है। ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप का सर्वगत अज्ञान माया है। व्यक्तिगत अज्ञान अविद्या है। अविद्या जीव सापेक्ष है, व्यक्ति को प्रभावित करती है।

(5) **मोक्ष** : शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं, किन्तु जब जीव स्वयं को ब्रह्म से भिन्न समझता है तो उसका यह अज्ञान ही बन्धन का मूल कारण है। जब कोई अधिकारी जिज्ञासु सांसारिक दुःखों से पीड़ित होकर गुरु के सान्निध्य में जाता है तो आचार्य उसे 'तत्वमसि' महावाक्य का उपदेश करता है। इस महावाक्य के अखण्डार्थ का बोध होने पर मुमुक्षु को जीव–ब्रह्मैक्य का ज्ञान हो जाता है। इसके उपरान्त मुमुक्षु 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेता है। यही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' मोक्ष की स्थिति है। शंकराचार्य ने मोक्ष के स्वरूप का अत्यन्त सुन्दर निरूपण किया है। उन्होंने मोक्ष की परिभाषा की है, 'स्वात्मन्यवस्थानम् मोक्षः' (केनोपनिषद् शांकरभाष्य) अर्थात् आत्मा की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है। अद्वैत मत में मोक्ष नित्य आनन्द की प्राप्ति है। अद्वैत वेदान्त में मुक्ति के दो प्रकार बताए गए हैं – जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवित रहते ही ज्ञान प्राप्त कर

मुक्त हो जाना जीवनमुक्ति है। विदेहमुक्ति मृत्यु के बाद उपलब्ध होती है। मोक्ष प्राप्ति का मार्ग ज्ञान योग साधना है। ज्ञान से ही मुक्ति होती है–'ज्ञानात् एव मुक्तिः'।

टिप्पणी

6.7.4 रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदांत

विशिष्टाद्वैत दर्शन रूढ़िवादी भारतीय दर्शन के प्रधान मतों में से एक है। रामानुजाचार्य इस दर्शन के प्रतिष्ठापक थे। यह मत सातवीं शताब्दी के बाद दक्षिण भारत में मुख्य रूप से सक्रिय भक्ति आंदोलन से विकसित हुआ था।

रामानुजाचार्य का जीवन परिचय

रामानुजाचार्य ऐसे वैष्णव सन्त थे जिनका भक्ति परम्परा पर बहुत गहरा प्रभाव रहा। वैष्णव आचार्यों में प्रमुख रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में ही रामानन्द हुए जिनके शिष्य कबीर, रैदास और सूरदास थे। रामानुजाचार्य ने वेदान्त दर्शन पर आधारित अपना नया दर्शन विशिष्टाद्वैत वेदान्त प्रतिष्ठित किया।

रामानुजाचार्य के दर्शन का आधार वेदान्त के अतिरिक्त सातवीं से दसवीं शताब्दी के रहस्यवादी एवं भक्तिमार्गी आलवार सन्तों के भक्ति–दर्शन तथा दक्षिण की पंचरात्र परम्परा थी।

रामानुजाचार्य का जन्म 1017 ईसवी में तमिलनाडु के श्रीपेरामबुदुर नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन में उन्होंने कांची जाकर अपने गुरु यादव प्रकाश से वेदों की शिक्षा प्राप्त की। रामानुजाचार्य आलवार सन्त यामुनाचार्य के प्रधान शिष्य थे। गुरु की इच्छानुसार रामानुज से तीन विशेष कार्य करने का संकल्प कराया गया था – ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम और दिव्य प्रबन्धम् की टीका लिखना। उन्होंने गृहस्थ आश्रम त्याग कर श्रीरंगम् के यतिराज नामक संन्यासी से संन्यास की दीक्षा ली।

मैसूर के श्रीरंगम् से चलकर रामानुज शालिग्राम नामक स्थान पर रहने लगे। रामानुज ने उस क्षेत्र में बारह वर्ष तक वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उसके बाद तो उन्होंने वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये संपूर्ण भारतवर्ष का ही भ्रमण किया। 1137 ईसवी सन् में 120 वर्ष की आयु पूर्ण कर वे ब्रह्मलीन हुए।

उन्होंने यूँ तो अनेक ग्रन्थों की रचना की किन्तु ब्रह्मसूत्र के भाष्य पर लिखे उनके दो मूल ग्रन्थ सर्वाधिक लोकप्रिय हुए – श्रीभाष्यम् एवं वेदान्त संग्रहम्।

टिप्पणी

रामानुजाचार्य

विशिष्टाद्वैत दर्शन

रामानुजाचार्य ने अपने दर्शन में सत् या परमसत् के सम्बन्ध में तीन सत्ताएं स्वीकार की हैं – ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, चित् अर्थात् आत्मतत्व और अचित् अर्थात् प्रकृति तत्व।

वस्तुतः ये चित् अर्थात् आत्मतत्व तथा अचित् अर्थात् प्रकृति तत्व ब्रह्म या ईश्वर से पृथक नहीं है बल्कि ये विशिष्ट रूप से ब्रह्म के ही दो स्वरूप हैं एवं ब्रह्म या ईश्वर पर ही आधारित हैं। वस्तुतः यही रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त है।

जैसे शरीर एवं आत्मा पृथक नहीं हैं तथा आत्म के उद्देश्य की पूर्ति के लिये शरीर कार्य करता है उसी प्रकार ब्रह्म या ईश्वर से पृथक चित् एवं अचित् तत्व का कोई अस्तित्व नहीं हैं। वे ब्रह्म या ईश्वर का शरीर हैं तथा ब्रह्म या ईश्वर उनकी आत्मा सदृश्य हैं।

रामानुज के अनुसार भक्ति का अर्थ पूजा–पाठ या कीर्तन–भजन नहीं बल्कि ध्यान करना या ईश्वर की प्रार्थना करना है। इसी गहन भक्ति के कारण संत रामानुजाचार्य को मां सरस्वती के दर्शन भी प्राप्त हुए थे, सामाजिक परिप्रेक्ष्य से रामानुजाचार्य ने भक्ति को जाति एवं वर्ग से पृथक तथा सभी के लिये सम्भव माना है। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने भक्ति को एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर उसके लिए दार्शनिक आधार भी प्रदान किया क्योंकि जीव ब्रह्म में पूर्णतः विलीन नहीं होता है बल्कि भक्ति के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करके जीवन मृत्यु के बंधन से छूटना है यही मोक्ष है।

रामानुजाचार्य की विचारधारा शंकराचार्य के अद्वैतवादी निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी। 11वीं शताब्दी में रामानुज ने शंकर मत के विपरीत यह कहा कि ईश्वर (ब्रह्म) स्वतंत्र तत्व है परंतु जीव भी सत्य है, मिथ्या नहीं। ये जीव ईश्वर के साथ संबद्ध हैं। उनका यह संबंध भी अज्ञान के कारण नहीं है, वह वास्तविक है।

टिप्पणी

मोक्ष की स्थिति प्राप्त होने पर भी जीव की स्वतंत्र सत्ता रहती है। भौतिक जगत् और जीव भिन्न–भिन्न रूप से सत्य हैं परंतु ईश्वर की सत्यता इनकी सत्यता से विलक्षण है। ब्रह्म पूर्ण है, जगत् जड़ है, जीव अज्ञान और दुःख से घिरा है। ये तीनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं क्योंकि जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म इनकी आत्मा तथा नियंता है। ब्रह्म से पृथक् इनका अस्तित्व नहीं है, ये ब्रह्म की सेवा करने के लिए ही हैं। इस दर्शन में अद्वैत के स्थान पर बहुत्व की कल्पना है परंतु ब्रह्म अनेक में एकता स्थापित करने वाला एक तत्व है। बहुत्व से विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है–'विशिष्टस्य अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्'।

विशिष्टाद्वैत के सिद्धांत में भेद रहित ज्ञान असंभव माना गया है। इसीलिए शंकराचार्य का शुद्ध अद्वैत ब्रह्म इस मत में ग्राह्य नहीं है। ब्रह्म सविशेष है तथा उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें सभी सत् गुण विद्यामान हैं। वास्तव में ब्रह्म शरीरी ईश्वर है। सभी वैयक्तिक आत्माएँ सत्य हैं और इन्हीं से ब्रह्म का शरीर बना हुआ है। ये ब्रह्म में, मोक्ष की प्राप्ति पर, लीन नहीं होतीं; इनका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। इस प्रकार ब्रह्म अनेकता में एकता स्थापित करने वाला सूत्र है। यही ब्रह्म प्रलय काल में सूक्ष्मभूत और आत्माओं के साथ कारण रूप में स्थित रहता है परंतु सृष्टिकाल में सूक्ष्म स्थूल रूप धारण कर लेता है। यही कार्य ब्रह्म कहा जाता है। अनंत ज्ञान और आनंद से युक्त ब्रह्म को नारायण कहते हैं जो लक्ष्मी (शक्ति) के साथ वैकुंठ में निवास करते हैं। भक्ति के माध्यम से इस नारायण के निकट पहुँचा जा सकता है। सर्वोत्तम भक्ति नारायण के प्रसाद से प्राप्त होती है और यह भगवद्ज्ञानमय है। भक्ति मार्ग में जाति–वर्ण–गत भेद का स्थान नहीं है। सबके लिए भगवत्प्राप्ति का यह राजमार्ग है।

अपनी प्रगति जांचिए

11. अद्वैत वेदांत का प्रथम आचार्य किसे माना जाता है?

(क) सुरेशवराचार्य (ख) गौडपाद

(ग) आनन्दगिरि (घ) श्री हर्ष

12. विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठापक कौन थे?

(क) रामानुजाचार्य (ख) आचार्य शंकर

(ग) महर्षि बादरायण (घ) सुरेश्वराचार्य

6.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (घ)
3. (क)
4. (घ)
5. (ख)
6. (ग)
7. (ख)

8. (ग)
9. (ख)
10. (घ)
11. (ख)
12. (क)

टिप्पणी

6.9 सारांश

हिन्दू धर्म में दर्शन बहुत प्राचीन परम्परा रही है। भारतीय दर्शन चिंतन धारा में सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन माना जाता है। महर्षि कपिल सांख्य दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। अनेक प्राचीन भारतीय ग्रंथों में सांख्य दर्शन का उल्लेख मिलता है। सांख्य शब्द गिनती वाचक है क्योंकि इस शास्त्र में तत्वों की संख्या पच्चीस मानी गई है, इसलिए इसे सांख्य कहा गया है। श्री कृष्ण द्वारा रचित सांख्यकारिका इस दर्शन का प्राचीन एवं प्रमाणिक उपलब्ध ग्रंथ है।

सांख्य दर्शन के अनेक सिद्धांत हैं। सत्कार्यवाद सांख्य का मुख्य आधार है। इससे अभिप्राय यह है, कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान (सत्) रहता है। सत्कार्यवाद के दो भेद स्वीकार्य हैं– परिणामवाद तथा विवर्तवाद। परिणामवाद से तात्पर्य यह है, कि कारण वास्तविक रूप में कार्य में बदल जाता है। विवर्तवाद के अनुसार परिवर्तन वास्तविक न होकर आभास मात्र होता है।

प्रकृति सृष्टि का अभिकरण है, जिसे प्रधान तथा अव्यक्त की संज्ञा दी गयी है। इसके तीन गुण होते हैं– सत, रज एवं तम। इन तीनों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। पुरुष (आत्मा) सांख्य दर्शन का दूसरा प्रधान तत्व है। इसका स्वरूप नित्य, सर्वव्यापी एवं शुद्ध चैतन्य है। सांख्य दर्शन में अनेकात्मवाद का समर्थन किया गया है, जिसके अनुसार आत्मा एक न होकर अनेक हैं। जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग में आती है, तो गुणों की साम्यावस्था विकृत हो जाती है, जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

पुरुष के अभाव में प्रकृति के अस्तित्व का कोई प्रयोजन नहीं रहता है। सृष्टि का उद्देश्य पुरुष का हित साधन करना होता है। जब पुरुष अपने स्वरूप को पहचान कर प्रकृति से अपना विभेद स्थापित कर लेता है तब उसे मुक्ति प्राप्त होती है। पुरुष की क्रियाशीलता के लिए बुद्धि सबसे महत्वपूर्ण अन्तः कारण माना जाता है। बुद्धि से अहंकार का जन्म होता है। सृष्टि का विकास प्रकृति से प्रारंभ होता है तथा महाभूतों तक समाप्त होता है। पुरुष को मिलाकर सांख्य दर्शन में कुल पच्चीस तत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

सांख्य दर्शन संसार को दुखों से परिपूर्ण मानता है। दुःखों के तीन प्रकार माने जाते हैं– आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख तथा आधिदैविक दुःख। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य इन तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना है। मोक्ष का अर्थ है, सभी प्रकार के दुःखों से मुक्ति। सांख्य दर्शन दो प्रकार की मुक्ति स्वीकार करता है– जीवनमुक्ति तथा विदेहमुक्ति।

ईश्वर की सत्ता के बारे में सांख्य दर्शन के समर्थकों में मतभेद है। प्रारंभ में यह मत ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता था। कालांतर में विज्ञानभिक्षु आदि सांख्य

टिप्पणी

दार्शनिकों ने वेदान्त तथा योग के प्रभाव से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया तथा यह मत दिया कि ईश्वर के सान्निध्य से ही प्रकृति का विकास होता है।

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित दर्शन योग दर्शन कहलाता है। योग दर्शन पर अनेक साहित्यिक ग्रंथों जैसे योगसूत्र, योगभाष्य, राजमार्तण्डवृत्ति, योगवार्तिक, आदि की रचना की गई। भारतीय दर्शन परंपरा में योग का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है।

योग का शाब्दिक अर्थ है– मिलन अर्थात् आत्मा का परमात्मा के साथ मिल जाना योग कहलाता है। पतंजलि ने शरीर, इन्द्रिय तथा मन पर नियंत्रण स्थापित करके पूर्णता प्राप्त करने के लिये किये गये आध्यात्मिक प्रयास को योग बताया है। इस दर्शन में सांख्य द्वारा प्रतिपादित पच्चीस तत्वों के साथ–साथ ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। इसे ईश्वर सांख्य भी कहा जाता है।

योग दर्शन कैवल्य प्राप्ति के लिये व्यावहारिक मार्ग का निर्देश करता है। चित्त से अभिप्राय बुद्धि, अहंकार तथा मन से है। जब चित्त का किसी विषय से संपर्क होता है, तो यह उसी का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इस स्वरूप परिवर्तन को ही वृत्ति कहा जाता है। पुरुष के चैतन्य के प्रकाश को, जो वृत्ति को प्रकाशित करता है, ज्ञान कहते हैं।

पांच प्रकार की चित्त वृत्तियां मानी गईं हैं– प्रमाण (सत्य ज्ञान), विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा और स्मृति। ये पांचों प्रकार की चित्त वृत्तियां सुख और दुःख की उत्पादक हैं। पुरुष का चित्त की वृत्तियों या विकारों के साथ भ्रमवश अपना तादात्म्य स्थापित कर लेना ही बंधन कहलाता है। क्लेश या दुःख पांच प्रकार के बताए गए हैं हैं– अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग (आसक्ति), द्वेष (ईर्ष्या) तथा अभिनिवेश (मृत्यु का भय)।

चित्त (मन) की पाँच अवस्थायें मानी गयी हैं– क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध। पतंजलि ने योग की समस्त विद्याओं को आठ अंगों में श्रेणीबद्ध कर दिया है जिन्हें अष्टांग योग कहा जाता है। ये हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। समाधि दो प्रकार की है– संप्रज्ञात और असंप्रज्ञान। योग दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। यह क्लेश, कर्म,परिणाम, संस्कार से अप्रभावित है तथा नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है।

न्याय दर्शन का इतिहास बहुत पुराना है। न्याय विद्या के लिए प्राचीन काल से न्याय शब्द का प्रयोग होता रहा है। न्याय का शाब्दिक अर्थ तर्क या निर्णय है। इसका प्रवर्तन अक्षपाद गौतम के द्वारा किया गया।

न्याय या विश्लेषण की शाखा, तर्क की एक प्रणाली, तर्कशास्त्र के रूप में विकसित हुई। इसके अनुसार, ज्ञान प्राप्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। न्याय दर्शन को व्यवस्थित रूप देने तथा एक दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय महर्षि गौतम को जाता है जिनका 'न्यायसूत्र' इस दर्शन का मूल ग्रन्थ माना जाता है।

न्यायसूत्र पर सर्वप्रथम भाष्य वात्स्यायन ने लिखा। वाचस्पतिमिश्र ने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' लिखी। जयन्तभट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' की रचना की । उदयन ने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि' लिखी। गंगेश उपाध्याय ने 'तत्वचिन्तामणि' नाम से ग्रन्थ लिखा।

टिप्पणी

आचार्य भासर्वज्ञ ने 'न्यायसार' नामक प्रमाणाधारित प्रकरण ग्रन्थ की रचना की। वरदराज द्वारा लिखित ग्रन्थ का नाम 'तार्किकरक्षा' है। केशव मिश्र ने 'तर्कभाषा' ग्रन्थ की रचना की। न्याय दर्शन में 16 पदार्थों या तत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है तथा बताया गया है, कि इनके सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही अपवर्ग या मोक्ष प्राप्त हो सकता है। ये तत्व हैं –प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह–स्थान।

न्याय दर्शन में मोक्ष को 'अपवर्ग' तथा 'निःश्रेयस' भी कहा गया है। प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है। न्याय दर्शन में आत्मा के दो भेद बतलाए गये हैं – जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा अल्पज्ञ, अनित्य एवं बन्धनग्रस्त है, जबकि परमात्मा सर्वज्ञ, नित्य एवं स्वतन्त्र है। इसे ही ईश्वर कहा गया है।

वैशेषिक दर्शन भौतिक तत्वों या द्रव्य की चर्चा को महत्त्व देता है। इसका यह नाम विशेष शब्द से बना है। विशेष को एक पदार्थ मानने के कारण इसे वैशेषिक कहा गया। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। अन्य भारतीय दर्शनों की भांति इस दर्शन का उद्देश्य भी मोक्ष प्रप्ति है। इस दर्शन के अनुसार धर्म के ज्ञान से जीवात्मा मोक्ष की प्राप्ति करता है।

वैशेषिक दर्शन का साहित्य वृहद है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। प्रशस्तपाद ने 'पदार्थधर्मसङ्ग्रह ' नामक भाष्य लिखा। व्योमशिव ने 'व्योमवती' नामक एक टीका की रचना की। आचार्य श्रीधर ने 'न्यायकन्दली' नाम की प्रसिद्ध टीका लिखी। आचार्य उदयन ने किरणावलि, श्रीवत्साचार्य ने लीलावती, वरदराज ने तार्किकरक्षा, शिवादित्य ने सप्तपदार्थी, वल्लभाचार्य ने न्यायलीलावती, अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह तथा विश्वनाथ पञ्चानन ने भाषापरिच्छेद नामक ग्रन्थ की रचना की।

वैशेषिक दर्शन के अंतर्गत विभिन्न तत्वों पर विचार किया गया है। वैशेषिक मत के अनुसार पदार्थ दो प्रकार के हैं–भाव तथा अभाव। इनमें भाव के छह विभाग किए गए हैं जिनके नाम हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, तथा समवाय। अभाव के भी चार उपभेद हैं – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव। वैशेषिक दर्शन में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ प्रकार के द्रव्य माने जाते हैं। जो द्रव्य के आश्रित द्रव्य से भिन्न और संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में दूसरे की अपेक्षा से रहित कारण रूप कर्म से भिन्न हो उसको गुण कहते हैं।

जो एक द्रव्याश्रित गुण से रहित संयोग तथा विभाग के उत्पन्न करने में अपने से उत्तरभाषी किसी भाव पदार्थ की अपेक्षा न करता हुआ कारण है उसको कर्म कहते हैं। जो नित्य एवं एक होते हुए अनेकों में अनुगत हो उसे सामान्य कहते हैं। विशेष नामक पदार्थ केवल इसी दर्शन की मौलिक कल्पना है, अतः इसी के आधार पर इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ा है। यह मनुष्य में विशिष्ट लक्षणों को दर्शाता है। वस्तुओं के लिए नित्य, स्थायी तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध को समवाय कहा जाता है।

अभाव, न होने को सूचित करता है। इसे वैशेषिक दर्शन में बाद में श्रीधर आचार्य और उदयनाचार्य ने एक पदार्थ स्वीकार किया । इसके दो भेद हैं– संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के तीन भेद किये गये है–प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव। परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन का सृष्टि–सम्बन्धी सिद्धान्त है। वैशेषिक दर्शन जगत् का

उपादान कारण असंख्य सूक्ष्मतम अणुओं (परमाणुओं) को बतलाता है, इसीलिए उसका सिद्धान्त परमाणुवाद कहा जाता है। निःश्रेयस् शब्द का प्रयोग वैशेषिक दर्शन में मोक्ष के लिए हुआ है। इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य निःश्रेयस की प्राप्ति है।

टिप्पणी

मीमांसा का संबंध वैदिक धर्म के व्यावहारिक पक्ष से है, जैसा कि वह ब्राह्मणों तथा कर्मकांडविषयक साहित्य में प्राप्त होता है। इसके प्रणेता महर्षि जैमिनी थे। मीमांसा का शाब्दिक अर्थ है तर्क और व्याख्या की कला। श्रुतियों के पारस्परिक विरोध को त्याग कर उनमें एक–वाक्यता स्थापित करने के लिये जो विचार–विमर्श किया जाता था उसे मीमांसा कहते थे।

मीमांसा शाखा के अनुसार, वेदों में ही शाश्वत सत्य है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करना था। धर्म (यज्ञ–परम्परा) की रक्षा करने हेतु उसके प्रमाण, स्वरूप, साधन और अन्त में फल बतलाकर अर्थात श्रेय तथा प्रेय दोनों की प्राप्ति कराते हुए समाज को सुव्यवस्थित रखना ही मीमांसा दर्शन का प्रमुख उद्देश्य माना गया है। जैमिनी ने 'मीमांसासूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसे 'जैमिनि सूत्र' भी कहा जाता है। मीमांसा सूत्र पर प्राप्त सर्वप्रथम व्याख्या 'शबरभाष्य' के नाम से विख्यात है, जिसके लेखक शबरस्वामी हैं।

कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक', 'तन्त्रवार्तिक' तथा 'टुप्टीका' नामक ग्रंथों की रचना की। मंडन मिश्र ने 'विधि विवेक' तथा 'मीमांसा अनुक्रमणी' नामक ग्रन्थों की रचना की। आचार्य शालिकनाथ मिश्र ने बृहती पर 'ऋजुविमला' नामक टीका की रचना की। उनकी एक स्वतन्त्र कृति 'प्रकरणपञ्चिका' नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य भवनाथ द्वारा रचित 'नयविवेक' मीमांसा दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

माधवाचार्य ने मीमांसादर्शन का पद्यमय भाष्य लिखा है जो 'जैमिनीयन्यायमालाविस्तर' नाम से विख्यात है। आपदेव 'मीमांसान्यायप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की। लोगाक्षिभास्कर ने 'तर्ककौमुदी' तथा 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रंथों की रचना की। जिससे विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो और विषय का निर्धारण हो उसे प्रमाण कहते हैं, अर्थात यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के साधन को प्रमाण कहा गया है।

विद्वानों द्वारा मीमांसा दर्शन में छह प्रकार के प्रमाण स्वीकार किए गए हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि। भारतीय षड्दर्शनों में वैशेषिक और मीमांसा दर्शन का प्रारम्भ धर्म के व्याख्यान से होता है। धर्म की व्याख्या करना ही मीमांसा दर्शन का प्रयोजन बताया गया है। उत्पत्तिशील की उत्पत्ति में कारणभूत जो उत्पादयिता का मानसिक व्यापार होता है, उसे भावना कहते हैं। भावना दो प्रकार की होती हैं–शाब्दी भावना और आर्थी भावना। मीमांसा दर्शन वेद को 'अपौरुषेय वाक्य' मानता है। वेदों के पाच प्रभेद माने जाते हैं–विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद।

उपनिषदों की मोक्ष–परक शिक्षाओं को बादरायण (तृतीय शताब्दी ई.पू.) ने अपने वेदान्त सूत्र (या ब्रह्मसूत्र) में सूत्रबद्ध किया। वेदों के उत्तर भाग पर आधारित होने के कारण इसे उत्तर– मीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं। इन्हें शारीरक मीमांसा भी कहा जाता है।

उत्तर मीमांसा में केवल वेद वाक्यों के अर्थ का निरूपण और समन्वय ही नहीं है, उसमें जीव, जगत् और ब्रह्म संबंधी दार्शनिक समस्याओं पर भी विचार किया गया

है। उत्तर मीमांसा का सर्वाधिक विशेष दार्शनिक सिद्धांत यह है कि जड़ जगत का उपादान और निमित्त कारण चेतन ब्रह्म है।

टिप्पणी

आचार्य गौडपाद को अद्वैत वेदान्त का प्रथम आचार्य माना जाता है। पद्मपाद का पंचपादिका नामक ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त में विवरण प्रस्थान का प्रतिपादक माना जाता है। शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वर ने उनके उपनिषद्भाष्यों पर वार्तिक ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक' सबसे प्रसिद्ध है। आनन्दगिरि ने शांकरभाष्य पर 'न्यायनिर्णय' नामक टीका लिखी। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पर 'भामती' टीका का प्रणयन किया।

आचार्य प्रकाशात्मा यति ने पंचपादिका पर 'विवरण' नाम से ग्रन्थ की रचना की जिसे विवरण सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। विद्यारण्य ने वेदान्त पर 'पञ्चदशी' नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की। आचार्य सदानन्दयोगीन्द्र द्वारा लिखित 'वेदान्तसार' अद्वैत वेदान्त का प्रवेशग्रन्थ माना जाता है। आचार्य अप्पय दीक्षित द्वारा रचित 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' को अद्वैत वेदान्त का महाकोश माना जाता है। शंकराचार्य अद्वैत वेदांत सिद्धांत के संस्थापक थे। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र परमतत्व है जो सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अनादि, अनन्त, अद्वैत एवं देश–काल से परे है। यही मूल तत्व है।

ब्रह्म को ही अद्वैत कहा गया है। अद्वैत का अर्थ है– एक ही तत्व, जिसे परम सत्ता कहते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूप माने गए हैं– निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म। अद्वैत वेदान्त में निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की जाती है। जगत के अन्तर्गत समस्त नामरूप, क्रिया–कारक और उनके फल आते हैं।

शंकराचार्य केवल एक ही सत्ता स्वीकार करते हैं और इसे वे अद्वैत ब्रह्म कहते हैं, परन्तु अनुभूत पदार्थों के अस्तित्व के लिए वे सत्ता के तीन स्तर बताते हैं– प्रातिभासिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता तथा पारमार्थिक सत्ता। शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत दर्शन में ब्रह्म की रहस्यमयी शक्ति का नाम माया है, जिसके द्वारा ईश्वर जगत का निर्माण करता है। माया की दो शक्तियाँ है– आवरण शक्ति एवं विक्षेप शक्ति।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। अद्वैत वेदान्त में मुक्ति के दो प्रकार बताए गए हैं – जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। मोक्ष प्राप्ति का मार्ग ज्ञान योग साधना है। रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठापक थे। 11वीं शताब्दी में रामानुज ने शंकर मत के विपरीत यह कहा कि ईश्वर (ब्रह्म) स्वतंत्र तत्व है परंतु जीव भी सत्य है, मिथ्या नहीं। इस दर्शन में अद्वैत के स्थान पर बहुत्व की कल्पना है परंतु ब्रह्म अनेक में एकता स्थापित करने वाला एक तत्व है। अनंत ज्ञान और आनंद से युक्त ब्रह्म को नारायण कहते हैं। सर्वोत्तम भक्ति नारायण के प्रसाद से प्राप्त होती है।

6.10 मुख्य शब्दावली

- **अध्यात्म** : आत्मा संबंधी या आत्मा परमात्मा के संबंध में चिन्तन–मनन।
- **उपनिषद्** : ये हिन्दू धर्म के महत्त्वपूर्ण श्रुति धर्मग्रन्थ हैं। ये समस्त भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत हैं।

टिप्पणी

- **संसर्ग** : संयोग, प्रेम।
- **महाभूत** : यह वह तत्व है जिससे यथार्थ बना हुआ है।
- **चैतन्य** : प्राणियों की वह चेतन शक्ति जिससे वे जीवित रहते हैं।
- **निग्रह** : किसी व्यक्ति, वस्तु या आवेग को स्वतंत्रतापूर्वक आचरण करने से रोकने की क्रिया को निग्रह कहते हैं।
- **चित्त** : मन; अंतःकरण।
- **मोक्ष** : जन्ममरण के बंधन से छूट जाने का ही नाम मोक्ष है।
- **क्लेश** : जीवन में जो कष्ट प्रदान करने वाला कारक है उसको क्लेश कहते हैं।
- **आन्वीक्षिकी** : न्यायशास्त्र का प्राचीन अभिधान। प्राचीन काल में आन्वीक्षिकी, विचारशास्त्र या दर्शन की सामान्य संज्ञा थी और यह त्रयी, वार्ता, दंडनीति के साथ चतुर्थ विद्या के रूप में प्रतिष्ठित थी जिसका उपयोग लोक के व्यवहार निर्वाह के लिए आवश्यक माना जाता था।
- **तत्वज्ञान** : तत्व ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान, जीवात्मा और परमात्मा के एक होने पर ही तत्वज्ञान होता है। तत्वज्ञान बोध कराता है कि सृष्टि का सार तत्व क्या है, निर्माण का रहस्य क्या है और हमारे अस्तित्व के उद्देश्य अर्थात आत्मा के सत्य से हमें परिचित कराता है।
- **तर्कशास्त्र** : तर्कशास्त्र या नीतिशास्त्र नियामक शास्त्र है। इस कथन का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि उक्त शास्त्र कृत्रिम ढंग से क्षेत्र विशेष में मानव व्यवहार के नियमों का निर्देश करता है मानो सही चिंतन एवं सही नैतिक व्यवहार के नियम मानव प्रकृति के निजी नियम न होकर उस पर बाहर से लादे जानेवाले नियम हैं।
- **सादृश्य या अनुरूपता** : यह एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है जिसमें एक विषय के ज्ञान या सूचना को दूसरे विषय में स्थानान्तरित किया जाता है। सादृश्य से बना है सादृश्यानुमान।
- **महाभूत** : यह वह तत्व है जिससे यथार्थ बना हुआ है। पांच महाभूत हैं–सत्वगुण, रजगुण, कर्म, काल तथा स्वभाव।
- **टीका** : किसी गूढ़ अर्थ वाली पुस्तक या लेख के अर्थ को स्पष्ट करने वाला लेख या ग्रंथ।
- **प्रवर्तक** : किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय चलाने वाले को प्रवर्तक कहा जाता है।
- **प्रतीति** : यह निश्चय कि ऐसा ही होगा या है अथवा अमुक व्यक्ति ऐसा ही करता है या करेगा।
- **वृत्तिकार** : व्याख्या ग्रन्थ लिखने वाला।
- **अनुस्यूत** : जो क्रम से हो या जिसमें क्रम हो।
- **आदिष्ट** : जिसे आदेश दिया गया हो; जिसके विषय में कोई आदेश किया गया हो।

टिप्पणी

- **उपनिषद्** : उपनिषद शब्द की व्युत्पत्ति उप + नि + षद् के रूप से मानी गई है। इसका अर्थ है कि जो ज्ञान व्यवधान रहित होकर निकट आये, जो ज्ञान विशिष्ट तथा संपूर्ण हो तथा जो ज्ञान सच्चा हो वह निश्चित ही उपनिषद् कहलाता है अर्थात् वह ज्ञान जो गुरु के समीप बैठकर प्राप्त किया गया हो।
- **अनुपपन्न** : जो प्रमाणित न किया गया हो।
- **प्रयोजन** : वह विचार जिसे पूरा करने के लिए कोई काम किया जाए।
- **वस्तुवादी** : दृश्यजगत को यथारूप सत्य मानने वाला दार्शनिक सिद्धांत।
- **कारिका** : किसी सूत्र की श्लोकबद्ध व्याख्या; किसी सूत्र का श्लोकों में विवरण; संस्कृत साहित्य में वह श्लोक जिसमें बहुत सी बातों, नियमों आदि को सूत्र रूप में कहा गया हो।
- **अद्वैत** : आत्मा परमात्मा में अभिन्नता।
- **पुरुषार्थ** : पुरुषार्थ दो शब्दों से बना है–पुरुष तथा अर्थ। पुरुष का अर्थ है विवेकशील प्राणी तथा अर्थ का मतलब है लक्ष्य। इसलिए पुरुषार्थ का अर्थ हुआ विवेकशील प्राणी का लक्ष्य।
- **अक्षुण्ण** : अखंडित, समूचा या अविजित।

6.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. सत्कार्यवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. सांख्य दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में क्या कहा गया है?
3. सांख्य दर्शन में वर्णित बंधन तथा मोक्ष के सिद्धांत के बारे में बताएं।
4. योग का क्या अर्थ है?
5. चित्त तथा उसकी वृत्तियों के विषय में आप क्या जानते हैं?
6. योग दर्शन में ईश्वर के महत्व का वर्णन करें।
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–

   (क) प्राणायाम

   (ख) समाधि
8. न्याय दर्शन का क्या अर्थ है?
9. न्याय दर्शन के तत्वों के बारे में आप क्या जानते हैं?
10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–

    (क) अनुमान प्रमाण

    (ख) प्रमेय विचार
11. वैशेषिक दर्शन का क्या अर्थ है स्पष्ट करें।
12. वैशेषिक दर्शन के तत्वों के बारे में आप क्या जानते हैं?

टिप्पणी

13. पूर्व मीमांसा दर्शन का क्या अर्थ है स्पष्ट करें।
14. उत्तर मीमांसा दर्शन का क्या अर्थ है स्पष्ट करें।
15. शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत के बारे में आप क्या जानते हैं?
16. रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत वेदांत पर टिप्पणी लिखिए

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. सांख्य दर्शन का अर्थ समझाते हुए प्राचीन ग्रंथों में इसके उल्लेख की चर्चा करें।
2. सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों का वर्णन करें।
3. योग दर्शन के साहित्य का वर्णन कीजिए।
4. अष्टांग योग पर एक निबंध लिखें।
5. न्याय दर्शन के साहित्य का वर्णन करें।
6. न्याय दर्शन में ईश्वर के महत्व का वर्णन करें।
7. वैशेषिक दर्शन के साहित्य का विवेचन कीजिए।
8. वैशेषिक दर्शन में पदार्थ से आपका क्या अभिप्राय है? विभिन्न पदार्थों का उल्लेख कीजिए।
9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–
   (क) परमाणुवाद
   (ख) निःश्रेयस्
10. पूर्व मीमांसा दर्शन के साहित्य का विवेचन कीजिए।
11. पूर्व मीमांसा दर्शन के तत्वों के बारे में आप क्या जानते हैं?
12. पूर्व मीमांसा दर्शन में प्रमाण से आपका क्या अभिप्राय है? विभिन्न प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख कीजिए।
13. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–
   (क) पूर्व मीमांसा दर्शन में विधि
   (ख) पूर्व मीमांसा दर्शन में जगत् मोक्ष विचार
14. उत्तर मीमांसा दर्शन के साहित्य का विवेचन कीजिए।
15. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखें–
   (क) अद्वैत वेदांत में ब्रह्म
   (ख) शंकराचार्य के माया सम्बन्धी विचार
   (ग) अद्वैत वेदांत में मोक्ष की अवधारणा

6.12 सहायक पाठ्य सामग्री

टिप्पणी

1. जयदेव वेदालंकार, 2002, "भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास", न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली।
2. राम शरण शर्मा, 2018, "प्राचीन भारत का इतिहास," ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
3. आनंद सिंह, 2010, "प्राचीन भारतीय धर्मः उद्‌भव एवं स्वरूप," हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
4. पी.एन.चोपड़ा, बी.एन. पुरी, एम.एन.दास, 2003, भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, मैकमिलन, दिल्ली।
5. देवराज और गोपीनाथ कविराज,1941, "भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास", हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।
6. डॉ. राधाकृष्णन, 2016, "भारतीय दर्शन (वैदिक युग से बौद्ध काल तक)" राजपाल, दिल्ली।
7. चन्द्रधर शर्मा, 1969, "भारतीय दर्शन आलोचन एवं अनुशीलन", पुस्तक भण्डार, पटना।
8. एस.एन दासगुप्ता, कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार, 2003, "भारतीय दर्शन का इतिहास", राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, (तृतीय संस्करण)।
9. एस.राधाकृष्णन (अनु.) नन्दकिशोर गोभिल, 2010, "भारतीय दर्शन", राजपाल एंड संस, दिल्ली।
10. बच्चूलाल अवस्थी, 2004, "भारतीय दर्शन बृहत्कोष", शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
11. जयदेव वेदालंकार, 2004, "भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास (न्याय–वैशेषिक)", न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली।
12. बलदेव उपाध्याय, 1993, "संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास (दर्शन खण्ड)", उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।
13. डॉ. राममूर्ति शर्मा, 1998, "अद्वैत वेदांत (इतिहास तथा सिद्धांत)" ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।
14. डॉ. पनो कुमारी, 2020, "शंकर एवं रामानुज दर्शन", हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली।